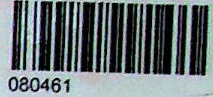
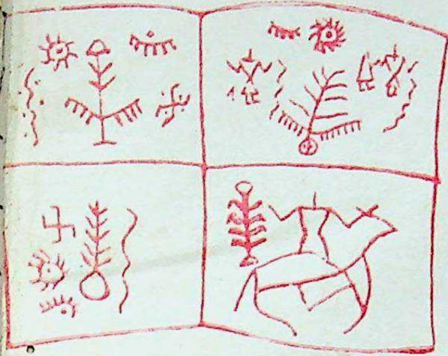
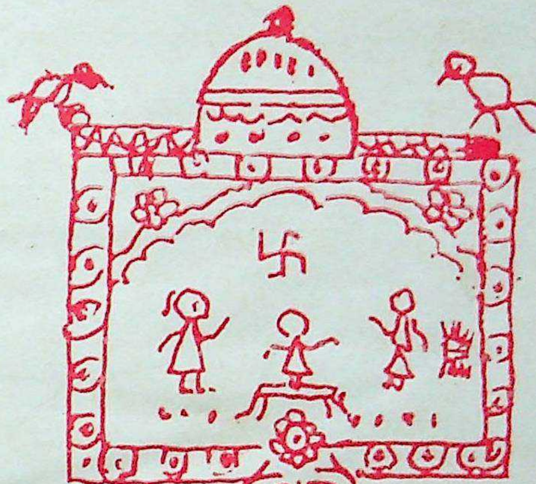
संस्कृति

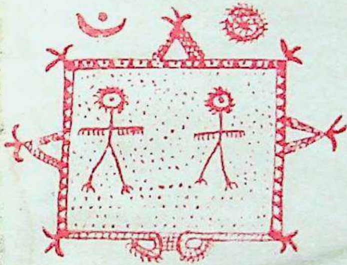




गंगाजी के थापे

दूब के थापे





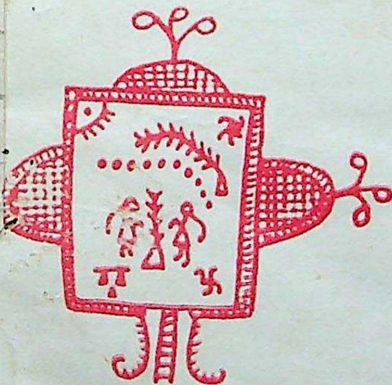
भाई दूज का थापा



करवा चौथ का थापा



गणगौर का थापा



दशामाता का थापा



शीतलामाता का थापा

वर्ष 18 : अंक 3-4

56

एक रुपया

संस्कृति—त्रैमासिक पत्रिका, हेमन्त, ग्रीष्म, पावस, शरत् (जनवरी, अप्रैल, जुलाई व अक्तूबर) को प्रकाशित होती है। इसका प्रत्येक अंक विशेषरूप से सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर केन्द्रित होता है तथा इसके लेख विचारोत्तेजक, खोजपूर्ण तथा भावपूर्ण होते हैं। इसके लेखों में देश-विदेशों की सांस्कृतिक परियोजनाओं, कार्य-कलापों तथा प्रयोगों सम्बन्धी अधिकृत सूचना दी जाती है। इसकी सामग्री वस्तुनिष्ठ व पूर्णरूपेण निष्पक्ष होती है। साथ ही इसमें पुस्तकों की समीक्षा भी प्रकाशित की जाती है।

संस्कृति के लिये लेख सम्पादक, 'संस्कृति', शिक्षा, संस्कृति तथा समाज कल्याण मंत्रालय, 102 सी-खंड, शास्त्री भवन, नई दिल्ली को भेजे जाएं।

संस्कृति का वार्षिक चन्दा मनीआर्डर द्वारा विशेषाधिकारी (हिन्दी प्रकाशन), शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय, 102 सी-खंड, शास्त्री भवन, नई दिल्ली के पास भेजा जाए। संस्कृति की प्रतियों के विषय में पूछ-ताछ भी इसी पते पर की जाए।

संस्कृति में मौलिक व अप्रकाशित लेख छपते हैं, कापीराईट शिक्षा, संस्कृति तथा समाज कल्याण मंत्रालय के पास होता है। इसमें प्रकाशित लेख सम्पादक की अनुमति पाये बिना अन्यत्र प्रकाशित नहीं किये जा सकते। लेखक यदि इसमें छपे अपने लेख को अन्यत्र छपाना चाहे तो उन्हें पूर्व अनुमति प्राप्त करनी चाहिए।

यह आवश्यक नहीं कि लेखक द्वारा प्रतिपादित विचार सरकार के दृष्टिकोण को ही व्यक्त करते हों।

संस्कृति

प्राच्या नव्या विलसतुतराँ संस्कृतिः भारतीया

हमारा आगामी अंक

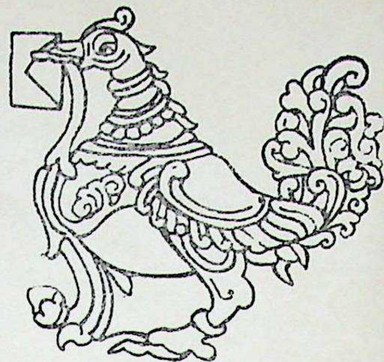
यह अंक मौरिश्यस विशेषांक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है जहां हाल ही में दूसरा विश्व-हिन्दी सम्मेलन हुआ था। इस अंक की विशेषता यह है कि जहां मौरिश्यस के इतिहास और भूगोल, कला और संस्कृति की विविध झांकी मिलती है, वहां मौरिश्यस-वासियों द्वारा लिखी कविता, कहानी और लेखों में अभिव्यक्त उनकी सहृदय भावनाओं और अनुभूतियों का दर्शन होता है। कुछ अन्य लेखों में देश-विदेश के कुछ संस्मरणात्मक लेख भी दिए गए हैं। आशा है पाठकों को पहले की तरह ही यह अंक भी आकर्षक और रुचिकर लगेगा।

वर्ष 18 : अंक 3—4
(अक्तूबर 1976)
वार्षिक चन्दा—चार रुपए

एक प्रति—एक रुपया

विशेशांक—दो रुपए

इस अंक में



पत्रावली

1. .....'संस्कृति' का 'महिला विशेषांक' (भाग एक तथा भाग दो) अपने आप में ऐतिहासिक महत्व रखता है क्योंकि उसमें वाङ्मय, संस्कृति, शास्त्र पुराण तथा आधुनिकता से सम्बन्धित समस्त पक्षों के प्रसंग में नारी के महत्व का प्रतिपादन मिलता है। इतना स्तरीय तथा श्रेष्ठ विशेषांक सर्वथा दुलर्भ है।

अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष के अन्तर्गत प्रकाशित उक्त विशेषांक की प्रासंगिकता तथा उपादेयता द्विगुणित हो जाती है।

आज की सबसे बड़ी राष्ट्रीय आवश्यकता नारी जगत में साक्षरता का प्रचार प्रसार है। हमारे भारतीय महिला जगत को नवयुग की उज्जवल किरणों से प्रकाशदान् करना है। हमारी एक दशक तथा अनुशासन पर्व की पहती उपलब्धियों से उन्हें भास्वर बनाना है ।

प्रथम भाग के डा० आशा किशोर के निबन्ध 'हिन्दी काव्य में उर्मिला' में, अच्छी सामग्री है। यही स्थिति डा० किशोर के द्वितीय भाग के निबंध की भी है।

दोनों भाग सर्वतोमुखी तथा विपुल सामग्री से सम्पन्न हैं। इस प्रकार के अन्य विषयों पर विशेषांक प्रकाशित होते रहना चाहिए।

डा० लक्ष्मीनारायण दुबे
सागर विश्वविद्यालय, सागर (म० प्र०)

2. .....कलकत्ता में आपके द्वारा दिए गए 'संस्कृति के कुछ अंक देखने को मिले, निःसन्देह सामग्री का चयन सारभूत है आज अपराधात्मक कथा पत्रिकाओं के युग में केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय ने जो साहित्य व संस्कृति के उत्थान व उसे गतिशील बनाने के लिए जो प्रकाशमय मार्ग बनाया है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। उसके क्लेवर को उद्देश्यपूर्ण व पठनीय सामग्री से भरपूर भर दिया है। विविध विषयों पर आपके द्वारा प्रकाशित किए गए विशेषांक सर्वथा महत्वपूर्ण व संग्रहणीय हैं ।

सवाल ऐसी पत्रिकाओं के ग्राहक संख्या का रहता है। प्रत्येक प्रदेश में इसका प्रसारण आवश्यक है। ध्यान इस ओर भी केन्द्रित रहना चाहिए। सरकारी सहयोग से प्रकाशित साहित्यिक व सांस्कृतिक पत्रिकाएं प्रायः इस कारण ही सफल नहीं हो पाती व निरन्तर घाटे की रकम में वृद्धि होते होते उनका प्रकाशन आत्म निर्भरता के अभाव के कारण स्थगित कर देना पड़ता है। उनकी ग्राहक संख्या में वृद्धि ही उन्हें दीर्घ जीवी बना सकती है। यह एक अलग व स्वतन्त्र प्रसंग है। लेकिन काबिले गौर अवश्य है.....

शम्भुनाथ सक्सेना
संपादक : दैनिक निरंजन ग्वालियर

3. .....संस्कृति के अंक मिले—बहुत ही प्रभावित हो गई हूं। निश्चय ही पत्रिका गागर में सागर है। पत्रिका को इतने ऊंचे स्तर की देखते हुए भी कुछ सामग्री भेजने की हठधर्मी कर रही हूं.....

मीना अग्रवाल
डी० 259 डिफेन्स कालोनी, नई दिल्ली

4. .....संस्कृति के कई अंक देखे-पढ़े हैं। वह नन्हीं सी पत्रिका अपनी सामग्री एवं प्रस्तुतीकरण के कारण बहुचर्चित हो गई है । कई माहों से बधाई देना चाह रहा था, स्वीकारें.....

सुरेश सरल
सरल कुटी, जबलपुर

5. .....श्री केवलकृष्ण पाठक के पास संस्कृति का महिला विशेषांक: दोनों भाग देखने को मिले। महिला वर्ष की सजीवता को सहेज पाने में ये विशेषांक निस्सन्देह समर्थ हुए हैं। सामग्री का चयन बहु आयामीय एवं बहुद्देशीय है। यह सामग्री महिला को नारी बनने की प्रेरणा प्रदान करती है। नारी अर्थात् न+ अरि+इ=यानि कि वह शक्ति जिसका कोई शत्रु नहीं। तब इस प्रश्न का भी कोई न कोई समाधान निकल ही पाएगा कि—

'उर में पीड़ा का दशन मुख पर है स्मित अंकन
क्या सब नर की निठुराई, या नारी का रसरंजन"

और फिर महिला निश्चित ही भोग की वस्तु न रहकर भोग का साधन बनेगी। दहेज से अभिषप्त न हो पाएगी, क्योंकि सर्वत्र यह कामना मुखरित जो होने लगी है—

'दहेज प्रथा की कोढ़ बिमारी भागे घर से
नवपीढ़ी की नई वीरता फैले घर घर में
बहती गंगा तक यश फैले भारत के बेटों का
मानवता की नई रोशनी फैले घर घर में.....

रामावतार अभिलाषी
अभिलाषी साहित्य कुंज जीन्द-126102

संस्कृतिक विचारों की प्रतिनिधि

त्रैमासिक पत्रिका

(ग्रीष्म, पावस, शरत् और हेमन्त में प्रकाशित)

नोट—पाठक अपनी प्रतिक्रिया, सुझाव भी भेज सकते हैं, हम उनका स्वागत करेंगे। संक्षिप्त में अपने रोचक और मौलिक विचार, संस्मरण यात्रा-वर्णन भेजिए जिसमें देश-विदेश की संस्कृति की झांकी मिलती हो। प्रकाशित पत्रों के लिए पारिश्रमिक भी दिया जाएगा।

पत्र व्यवहार का पता

सम्पादिका 'संस्कृति'
शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय,
102-सी०, शास्त्री भवन,
डा० राजेन्द्र प्रसाद मार्ग,
नई दिल्ली।
टेलिफोन न०: 384151

सम्पादकीय

भारतीय संस्कृति अपनी विविधता और अनेकरूपता में विश्व की समस्त संस्कृतियों में एक अनूठा तथा अद्वितीय स्थान रखती है। यही एक संस्कृति है जिसमें अनेकता में एकता है, विविधता में एकरूपता है। भारत में अनेक भाषाएं हैं, वेश-भूषा है, रीति-रस्में हैं, खान-पान हैं, किन्तु सबकी पृष्ठभूमि आधार तथा मूल-विचार धारा एक ही है।

भारतीय संस्कृति की इस विशेषता को दिखाने के लिए ही 'संस्कृति' के प्रस्तुत अंक में अनेक लेख दिए गए हैं जिनके लेखक अपने-अपने विषयों के जाने-माने विद्वान हैं।

'राजस्थान के थापे', 'दुर्गा पूजन का लोक पर्वीय रूप', 'सांस्कृतिक पर्व दीपावली और मध्ययुगीन काव्य'—इन लेखों में हमारे देश के त्यौहारों, सांस्कृतिक तथा धार्मिक पर्वों का विशद तथा जीवंत विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

'मध्यकालीन लोकगीतों में उत्तरा खंड की गरिमा', 'हिमाचल प्रदेश के लोकगीतों की विरहिणी', 'ओडिसी: नृत्य व्यंजना का माध्यम, 'लकड़ी पर खुदाई के लिए विख्यात रेगिस्तान की काष्ठकला', 'छत्तीसगढ़ का खजुराहो—भोरमदेव,' 'हुमायूं का मकबरा—स्वाधीनता स्मारक का कला प्रतीक'—इन लेखों में भारतीय कला के अनेक रूपों—लोकगीत, वास्तुकला, नृत्य, उत्खनन आदि—की विशद व्याख्या की गई है तथा उनकी सजीव झाकी प्रस्तुत की गई है।

इसके साथ ही, हमारी संस्कृति में जनजातियों और उनकी समस्याओं का भी महत्व है और स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद इन समस्याओं का महत्व और भी अधिक बढ़ गया है क्योंकि आज राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से भावपूर्ण एकता और भी महत्वपूर्ण हो गई और इस दृष्टि से समाज के हर वर्ग का और उसकी समस्याओं का महत्व भी बढ़ गया है। 'मिसिङ' जनजाति समाज, 'संस्कृतीकरण—एक भ्रामक विचारधारा'—इन लेखों में हमारी संस्कृति के इन पहलुओं पर खोजपूर्ण प्रकाश डाला गया है।

आशा है प्रस्तुत अंक के सभी लेख पाठकों को रुचिकर लगेंगे और वे अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने की कृपा करेंगे।

मिलन धुन

ओस.....तूने रात भर अपने अश्रुओं का दिवरा वारा था,
प्रतिक्षा-रत, रही थी--बेसुध

सखी.....बता तो सही--भोर होते ही--
कौन आया था--जिसने दुलराया-सहलाया,
तेरी पीर को संवारा था
किरन की चूनर, लाली के टीके से--
तुझे सुहागिन बनाया था
पारिजात के पुष्पों के बिछुवों
से तेरे पांवों को सजाया था ?

सुन जरा-- अब तो आने वाली है फिर से वही रात
क्या तू और गलेगी ?
साधना के कांच में वैसी जड़ेगी ?

ओस इतराई--मुस्काई--इठलाई--

बहन-- क्या, तुमने नहीं सुनी, इस बंशी की टेर
प्राणों के नीर से करती हूं, जिसका अभिषेक
यही तो है ! --'मिलन धुन'
इसी के सिंचन से अंकुवाते हैं धरती के फूल
विगत की पीड़ा को भोर से रात तक
जाती हूं भूल

--मीना अग्रवाल

राजस्थान के थापे

—डा० महेन्द्र भानावत

हाथ की अंगुलियों का थापा मारकर दीवाल पर जो चित्र चितेरे जाते हैं उन्हें थापे कहते हैं। राजस्थान में ये थापे कई व्रतोत्सवों तथा त्यौहारों पर बनाये जाते हैं। विभिन्न संस्कारों पर भी इन थापों का प्रयोग रहा है। थापों का यह रिवाज देश के सभी प्रांतों में न्यूनाधिक रूप में प्रचलित है। थापों के साथ कन्या—महिलाओं के अनेक अनुष्ठान जुड़े हुए हैं। व्रत कथाएं जुड़ी हुई हैं और कई प्रकार की मंगल कामनाओं की मनौती बंधी हुई है। विवाह के लिए जो मंडप बनाया जाता है उसके बांसों को गाड़ने से पूर्व उन पर परिणय सूत्र में बंधते वाली लड़की का थापा लगवाया जाता है। यह थापा चावल को पानी में पीस कर या फिर आटे को पानी में मिलाकर जो मेल होता है उसका होता है। विवाह पर सगे लोग रंगों की होली खेलते हैं तब भी आपस में एक दूसरे मिलकर वस्त्रों पर पीठ की ओर हाथ का थापा रंगते हैं। केसरिया, कुंसुम्बा अथवा कुंकुम का विवाहित कन्या को विदा देते समय लड़की के श्वसुर की पीठ पर पछेवड़ी डालकर उसकी मां द्वारा दिया जाता है। होली, दीवाली, अक्षय, तृतीया, गणगौर जैसे त्यौहारों पर भी ये मांगलिक थापे दिये जाने की प्रथा है। सती होने के पूर्व सतियों द्वारा दुर्ग के प्रवेश द्वार पर कुंकुम के थापे देने की भी प्रथा रही है। आज भी कई घरों दुर्गों में इन सतियों के थापे देखे जा सकते हैं।

दीवाली पर नैनीताल की ओर स्त्रियां लक्ष्मी को आमंत्रित करने हेतु अपने घरों में जो मार्ग बनाती हैं वह लाल सफेद रंगों को मिलाकर थापों द्वारा सजाया जाता है। कार्तिक में भोजपुर क्षेत्र में कुंवारी कन्याएं दीवाल में पिड़िया लगाते वक्त उसके आसपास कलात्मक थापे बनाती हैं। लड़की के ससुराल मिट्टी के कलशों में मिष्ठान्न भेजते वक्त भी उन कलशों पर मंगलसूचक थापे लगाये जाते हैं। निहालदे सुलतान में एक प्रसंग आता है जिसमें दूती मालिन के लिए ऊंट के रक्त से द्वार पर एक थापा लगा देती है ताकि मकान पहचान में आ सके। राजस्थान में गणगौर, शीतल सप्तमी, दशामाता, गोगा पूजा, छठी, नागपंचमी, रक्षाबंधन, दीयाड़ी पूजा, दीवाली, भाई दूज, करवा चौथ, चूरमा चौथ, अहोई, आदि पर बड़े आकर्षक एवं कलात्मक थापे बनाने की प्रथा रही है। ये थापे कुंकुम, काजल, मेंहदी, हल्दी, सिन्दूर, गैस, गोबर तथा ऐपन से बनाये जाते हैं। यहां इन थापों के महत्व एवं कलात्मक अंकन पर प्रकाश डाला जा रहा है।

(2) गणगौर का थापा

राजस्थान का गणगौर त्यौहार सारे देश में प्रसिद्ध है। चैत्र शुक्ला तृतीय को यह त्यौहार राजस्थान के प्रत्येक गांव-नगर में मनाया जाता है। मेवाड़ में उदयपुर, नाथ द्वारा तथा गोगुन्दा में इस त्यौहार को विशेष उत्सव व रंग के साथ मनाया जाता है। इस दिन लकड़ी के बने गणगौर—ईसर की सवारियां निकाली जाती हैं। नदी-तालाब के किनारे इनका बड़ा मेला भरता है। औरतें इनके सामने नाचती गाती हैं। गणगौर को बड़े कीमती आभूषण और पहनावे के साथ सजाई सिणगारी जाती है। इस दिन औरतें अपने घरों में गणगौर का थापा बनाती हैं। जो एक महलवत होता है। यह महल पार्वती (गणगौर) का होता है जिसके सीढ़ियां बनी होती हैं। इसमें गणगौर को दिखाई जाती है। इसके हाथों में कमल के फूल तथा आसपास कांच कांगसी दिखाये जाते हैं। पूजा करते समय महिलाएं अपनी अंगुलियों से कुंकुम के छोटे देती हैं और नीचे सतियां बनाती हैं। इस दिन गणगौर के नाम का व्रत रखा जाता है। कहीं-कहीं थापे में पाटे पर गणगौर तथा आसपास दो सहेलियां दिखाई जाती हैं। कहीं केवल गणगौर और ईसर बना दिये जाते हैं। ये कलात्मक थापे आदिवासियों से लेकर स्वर्ण जातियों में प्रचलित हैं।

(3) शीतला का थापा

चैत्र कृष्णा सप्तमी को शीतला माता का त्यौहार मनाया जाता है। शीतला चेचक की देवी कही गई है। एक दिन पूर्व छठ की रात को माता संबंधी गीत गाये जाते हैं। और दूसरे दिन का खाना बनाया जाता है कारण कि इस त्यौहार पर ठंडा भोजन ही किया जाता है। प्रातः होते ही माता के लिए पूजा की थाल सजाई जाती है जिसमें कुंकुम, कूलर, मेंहदी, सुपारी, दही, पतासी, एक मुट्ठी अनाज, ओलिया, आटे के बने दो दीपक रहते हैं। औरतें इस थाल को लिए गीत गाजे के साथ माताजी के थानक जाती हैं और पूजा करती हैं। चेचक माता के रूप में चेचकनुमे धांधले पत्थर पूजे जाते हैं। इस दिन दीवाल पर सिन्दूर कुंकुम का थापा बनाया जाता है। इसमें कहीं गोलाई में माता का हाथ, सातिया तथा त्रिशूल एवं मेंहदी की सात बिंदियादी हुई होती हैं तो कहीं माता के वाहन गधे को गाड़ी खींचता हुआ दिखाया जाता है। ये थापे बड़े कलात्मक, आकर्षक और धार्मिक अभिव्यक्ति के प्रतीक होते हैं। प्रायः प्रत्येक जाति में यह पूजा अंकन देखने को मिलता है।

(3) दशामाता का थापा

होली के ठीक दूसरे रोज से लेकर दस दिन का समय दशामाता का रहता है। इन दस ही दिनों औरतें दशामाता के नाम का व्रत रखती हैं। प्रतिदिन दशामाता के थड़े (स्थान) पर आस-पास की औरतें एकत्र होती हैं जहां दशामाता की पांच कहानियां कही जाती हैं और अंत में दशामाता के गीत गाये जाते हैं। अंतिम दिन दशमी को दशामाता की विधिवत पूजा की जाती है। पूजा की थाल में घी का दीपक, जल भरा लोटा, आंखें, कुंकुम, कूलर, सुपारी, लच्छा, पान, मेंहदी, दही, काजल, पैसा तथा हल्दी मिले आटे से दशामाता के बनाये विविध आभूषण रहते हैं। दशामाता का स्थान पीपल वृक्ष होता है। औरतें पीपल की ही पूजा करती हैं। उसके जल चढ़ाती हैं, कुंकुम के छींटे देती हैं, मेंहदी लगाती हैं और उसकी परिक्रमा कर दशामाता के नाम की बेल गले में धारण करती हैं। दशामाता के थापों में कहीं मेंहदी, कुंकुम तथा काजल की दस बिन्दियां लगाकर शिव-पार्वती के प्रतीक दशामाता-डाड़ाबावजी और उनके नीचे सातिया, कहीं दोनों को छाछ फेरते हुए, कहीं इन्हें चोपड़ खेलते हुए तथा कहीं दोनों को ऐसे ही खड़े दिखाये जाते हैं। सभी जाति की औरतें दशामाता का व्रत करती हैं।

(4) गोगाजी का थापा :

गोगाजी गायों की रक्षा के कारण देवत्व को प्राप्त हुए। सांपों के देवता के रूप में इनकी बड़ी धाक है। इनके भौये सर्प कटे व्यक्ति का जहर चूसकर उसे चंगा करते हैं। बीकानेर जिले के गूगामेड़ी में गोगाजी ने जीवित समाधि ली। गोगा नवमी को यहां बड़ा भारी मेला भरता है जिसमें दूर-दूर तक के हजारों की संख्या में श्रद्धालु आते हैं। गोगाजी के लंबे-लंबे निसांण होते हैं। जिन पर कपड़े के सांप सिले होते हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही इनके भक्त हैं। इनके हिन्दू मंदिर भी हिन्दू मुस्लिम संस्कृति का प्रतीक है।

गोगा नवमीं को औरतें अपने घरों की दीवालों पर हरिये गोबर से गोगाजी के बड़े सुन्दर थापे बनाती हैं इनमें कहीं गोगाजी को सर्प के साथ, कहीं शमीवृक्ष के साथ तथा कहीं लीली घोड़ी पर सवार के रूप में दिखाया जाता है। इस दिन गोगाजी के रूप में मिटटी का बना घोड़ा पूजा जाता है। लोग राखी, खीर, नारियल आदि से इस घोड़े की बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ पूजा करते हैं।

(5) सरवण का थापा

भाई बहिनों की अनेकानेक कोमल एवं कमनीय भावनाओं का प्रतीक रक्षा बंधन का त्यौहार सारे देश में विशेष उल्लास के साथ मनाया जाता है। इसके पीछे सरवण (श्रवणकुमार) की अपने अंधे माता पिता की भक्ति भावना का विशेष संबंध रहा है। इसीलिए इस दिन दरवाजे के दोनों ओर गेरू तथा कुंकुम से सरवण की अनेक आकृतियां उभारी जाती हैं। इनमें कहीं श्रवण को कावड़ लिये, कहीं अपने माता पिता को तीर्थ यात्रा ले जाते हुए तो कहीं प्रतीकात्मक रूप में कावड़ के सरल अंकन दिखाये जाते हैं। इन थापों के चावल, कुंकुम, रुई, राखी, तथा मिष्ठान लगाकर उनकी पूजा की जाती है। इस दिन व्रत रखा जाता है और कहानी कही जाती है।

(6) दीयाड़ी का थापा :

चैत्र शुक्ला नवमीं को दीयाड़ी माता की पूजाकर नौ नवेज की धूप दी जाती है। इस दिन इच्छानुसार हामा, नामा, खेजड़ा, बोवड़ी, आम, बड़ आदि वृक्षों की डालियां पूजी जाती हैं। दीयाड़ी के रूप में दीवाल पर कुंकुम की नौ बिन्दियां लगा दी जाती हैं। कहीं हिंगलू तथा सिन्दूर मिले घोल से सारा थापा बिन्दियों में बनाया जाता है। इसमें बीच में त्रिशूल इसके दोनों ओर चांद सूरज तथा नीचे नौ बिन्दियां लगी होती हैं। कहीं बीच में दीयाड़ी का हाथ और उसके दोनों ओर त्रिशूल दिखाई जाती है।

(7) चौथ का थापा

भाद्र शुक्ला चतुर्थी को चूरमा चौथ का त्यौहार मनाया जाता है। इस दिन गणेशजी को लडडू और चौथ को पीडियां चढ़ाई जाती हैं। दीवाल पर चौथ माता का सिन्दूर का थापा मांडा जाता है। इस दिन चौथ माता का व्रत किया जाता है। चौथा माता की कहानी भी कही जाती है। एक त्रिशूल के रूप में चौथ मांडी जाती है जिसके दोनों ओर दो बड़ी बिन्दियां लगाई जाती हैं। इस थापे को पन्नियों से सजाया जाता है।

(8) करवा चौथ का थापा

कार्तिक कृष्णा चतुर्थी को करवा चौथ मनाई जाती है। इस दिन औरतें व्रत करती हैं। चौथ की कहानी कहती हैं और गेरू की सहायता से दीवाल पर चौथ का थापा अंकित करती हैं। इस थापे में घासफूस की दो टपरियां दिखाई जाती हैं। बड़ी टपरी में बीलू के 6 भाई तथा छोटी में बीलू को गोद में पति लिये दिखाया जाता है। कहानी सुनने वाली थापे के नीचे कुंकुम काजल तथा मेंहदी की टीकियां लगाती हैं।

(9) नागपंचमी का थापा

श्रावण शुक्ला पंचमी को नागपंचमी का त्यौहार मनाया जाता है। इस दिन वर्ष की विपत्तियों से मुक्ति पाने के लिए सौभाग्यवती स्त्रियां व्रत करती हैं और नाग के थापे बनाकर पूजती हैं। ये थापे कहीं गोबर तथा कहीं ऐपल से बनाये जाते हैं। संपन्न औरतें इस दिन सोने चांदी के नाग दान करती हैं।

(10) अहोई का थापा

कार्तिक कृष्णा अष्टमी को अहोई का त्यौहार मनाया जाता है। पुत्रवती इसे अपने पुत्रों की मंगल कामना हेतु मनाती हैं। इस दिन व्रत कर संध्या को दीवाल पर अहोई का चित्र बनाया जाता है जिसमें सही और उसके सात बच्चे तथा बछड़ा व गाय, ऊपर चांद सूरज तथा बीच में कांच कांगसी, सातिया एवं मंगल कलश आदि दिखाये जाते हैं।

(11) भाई दूज का थापा

दीवाली के बाद द्वितीया को भाई दूज का त्यौहार आता है। इस दिन बहनें अपने भाइयों को आमंत्रित करती हैं।

[शेष पृष्ठ बारह पर]

दुर्गा पूजन का लोक पर्वीय रूप साँझी

डा० नवरत्न कपूर

चान्द्रवर्ष के चैत्र और आश्विन के शुक्लपक्ष के पहले नौ दिनों का पंजाब में विशेष महत्व माना जाता है। इन नौ दिनों को नवरात्र कहा जाता है। दुर्गा के नाम पर व्रत धारण करके दिन में एक दो बार फलाहार, सिंघाड़े और कूटू के आटे आदि से बने हलवे अथवा नमकीन परांठे सेवन करके तथा आराध्या देवी को धूप दीप दान करके इन दिनों दुर्गा पूजन चलता है। आबाल-वृद्ध स्त्री पुरुष व्रत व्यवस्था और दुर्गा पाठ में निजी श्रद्धा के अनुसार भाग लेते हैं।

चैत्र के नवरात्रों की अपेक्षा पंजाब में आश्विन के नवरात्रों में घरों में अधिक चहल पहल रहती है। वयोवृद्धों का दुर्गापूजन, आहार विहार तथा आराधन के संयम तक सीमित रह जाता है, किन्तु कन्याओं का दुर्गा पूजन उनकी मूर्तिकला और चित्रकला के प्रदर्शन में उभर कर समाने आता है। इसे 'साँझी' पूजन कहते हैं।

नामकरण

'सांझी' शब्द की व्युत्पत्ति के अनेक रूप प्रकट होते हैं, जो निम्न लिखित हैं:—

(क) संझ्या—राजस्थान के इसी नाम के पर्व के कारण अथवा उत्तर प्रदेश के 'झांझी' पर्व के कारण यह शब्द पंजाब में 'सांझी' बन गया है।

(ख) साँझी लगाने की परंपरा भाद्रपद की अमावस्या (अंतिम श्राद्ध) के सांयकाल को होती है। पंजाबी भाषा में सांयकाल को 'संझ' (साँझ, सायं, साँझ संझ) कहते हैं। आश्चर्य नहीं कि इसी शब्द ने इस पर्व के नाम-करण में योगदान किया हो।

(ग) पंजाबी भाषा का 'साँझी' शब्द अपने मूल रूप में 'सहयोगी' का अर्थ व्यक्त करता है। जिन लोगों के घरों में साँझी लगाई जाती है, मूर्ति निमार्ण के समय उनकी सहायता के लिए और फिर नवरात्र के दिनों में प्रातः एवं साँयं पूजन के समय आस पडोस के बालक बालिकाएं वहाँ पहुंच जाते हैं।

निर्माण व्यवस्था

भाद्रपद का कृष्ण पक्ष श्राद्ध पक्ष कहलाता है। दिवंगत आत्माओं के श्राद्ध के निमित्त ब्राह्मण के भोजन की तैयारी दोपहर के लगभग 11-12 बजे तक चलती है। पंडित जी अथवा पंडितायन जी के 'जीम लेने' (भेजन) पर सारा परिवार भोजन से निवृत्त हो जाता है। श्राद्ध वाले दिन अधिकांशतः शाम का भोजन भी दोपहर में ही तैयार कर लिया जाता है। गृह स्वामिनी और उनके बालक-बालिकाएं दिन का शेष भाग, चिकनी मिट्टी से चिड़ियां और चंदोवे बनाने में व्यतीत करते हैं। त्रयोदशी-चतुर्दशी तक बनीं ये मृत्मूर्तियाँ धूप में सुखाकर कलई से पोत दी जाती हैं। अमावस्या को प्रातः ही बड़ी मात्रा में गाय का गोबर इकट्ठा कर लिया जाता है, उस दिन दोपहर के भोजन से निवृत्त होकर गृह-स्वामिनी और उसकी संतान (विशेषतः बालिकाएँ) घर की ड्योढ़ी अथवा आंगन में दीवार पर गाढ़ा गोबर थेपकर एवं घर में बने चंदोवों तथा चिड़ियों से साँझी का दरबार सजाना आरंभ कर देते हैं।

मुहल्ले के मोड़ अथवा बाजार की चौमुहानी पर विक्रेता कुम्हार से साँझी का मुंह, हाथ और पैर, पेडू डूमनी और काला चोर खरीद कर लाए जाते हैं। साँझी के नाक में नथुनी, कानों में झुमके, हाथों में अंगूठियां और छोटे छोटे बाजुओं में चूड़ियां (आधुनिक प्रभाव के कारण कभी कभी घड़ी भी तथा पैरों में छल्लियां-पाजेब होती हैं। मानवी शरीर संरचना के अनुसार साँझी से संबंद्ध यह क्रीत सामग्री दीवार पर सजाकर बाजुओं, टांगों तथा अन्य अवयवों का निर्माण घर में बनाए मिट्टी के चंदोवों (तारे के आकार के मिट्टी के खिलौने से किया जाता है। साँझी को पंजाबी परिधान (सलवार-कुर्त्ता) नहीं पहनाया जाता, वरन् तीन विभिन्न रंगों के पतंगी कागजों से उसके चुनरी, चोली और घाघरे की व्यवस्था की जाती है।

साँझी के सिर के ऊपर वाले भाग में, दीवार पर, घर में बनाए गए मिट्टी के चांद, सूरज तारे (चंदोवे) चिड़ियां गोबर में चिपका दिए जाते हैं। साँझी के धड़ के समीप एक ओर पेडू (संभवत पेटू विदूषक) और डुमनी (ढोलक वाली स्त्री) भी टिका दिए जाते हैं, जिसका मुंह काला होता है, जो संभवतः साँझी के दरबार में चोरी के दंडस्वरूप काला मुह करके उल्टा लटकाया गया हो और उपहास व्यंग आमोद के प्रतीक पेडू और डुमनी वहां पर विराजमान हो। (लोकगीतों में काना-चोर को साँझी का भाई बताया गया है, जो केवल उपहार सूचक है)।

साँझी पूजन

अमावस्या की शाम तक साँझी स्थापना हो जाती है। खेतों से लाई हुई मिट्टी भूमि पर डालकर उसमें जौ बो दिए जाते हैं, उन्हें आक अथवा एरंड के पतों से ढांप दिया जाता है। लगभग नौ दिनों

(नवरात्र) में जौ से उगने वाली घास को 'गौरजा' (गौर+जा-गौरी से उत्पन्न, गौरी की देन) कहते हैं। अमावस्या की (गृह प्रवेश वाली) शाम को साँझी का व्रत होता है, मानो नई दुलहिन ससुराल में आकर, मायके वालों के वियोग में, खाद्यान्नों से उचाट हो गई हो। आश्विन प्रतिपदा को प्रातः सात आठ बजे साँझी पूजन का श्री गणेश होता है। आस पड़ोस की लड़कियां व और घर की कन्याएँ (कभी-कभी छोटे बालक भी बहन और बुआ के साथ) अपनी-अपनी थाली अथवा बोहिए (छोटी टोकरी) में भोग (प्रसाद नैवेद्य) के रूप में मीठी खीलें, बताशे वर्फी, कसार (थोडे से घी में भुना हुआ गेहूं का आटा) साँझी माई को अर्पित करने के लिए पहुंचते हैं। सांझी पूजन का आरम्भ निम्नलिखित गीत से होता है।

पहली आरती करो कसार।
राज करे मेरा माँ पिओ।
आडीओ नी अडीओं तेरे शिव दवाले खड़यो।
नरंजन तेरी काया।
मैं खेल मेल के आया।
मैं हर का दरसन पाया।।

थाली में जलता हुआ दीपक रखकर यह गीत सात बार गाया जाता है। थाली घुमाकर आरती की जाती है, इसी लिए इस गीत को सात आरतियां कहते हैं। नीचे लिखा गीत भी ठीक इस प्रकार आरती घुमाते हुए सात वार गाया जाता है।

सांझी माई आरती
आरती के नैनो।
खेलन की डांडी।
सुनो नी बहुओ।
कंत तुहाडे वीरन साडे।
भंभा भंभेरीआ।
रीझेगी खेर।
दुद्ध मलाइआं ले पतलाइआं
विच्च बैठी साँडी सांझी।।

इन दो गीतों के उपरान्त साँझी की मांग की चर्चा गीतों में की जाती है, जिसमें एक ओर कन्याओं की बेबसी और दूसरी ओर साँझी की मनोकामना पूर्ति के चातुर्य का ज्ञान होता है, यथा:--

मेरी साँझी ता मंगदी सोईया सोईया चुन्नीआँ।
मैं कहां से लिआऊँ साँझी सोईया सोईया चुन्नीयाँ।
वीरन ताँ मेरा बजाजी दा साथी।
तू लै मेरी साँझी सौई चुन्नीआँ।।
मेरी सांझी तां मंगदी हरा हरा गोबर।
मैं कहां से लिआऊं सांझी हरा हरा गोबर।
वीरन ताँ मेरा गऊआं दा पाली।
मैं उत्थे लिआऊँ साँझी हरा हरा गोर।
तू लै मेरी साँझी हरा हरा गोबर।।
मेरी साँझी ताँ मँगदी पीले पीले गैने।
मैं कहाँ से लिआऊँ साँझी पीले पीले गैने।
वीरन ताँ मेरा सिनाराँ दा साथी।
मै जहाँ से लिआऊँ साँझी पीले पीले गैने।
तूं लै मेरी साँझी पीले पीले गैने।।
मेरी साँझी ताँ मंगदी चीटे चीटे चावल।
मैं कहाँ से लिआऊँ साँझी चीटे चीटे चावल।
वीरन ताँ मेरा बनाँदा राखी।
जहाँ से लिआऊँ साँझी चीटे चीटे चावल।
तूं लै मेरी साँझी चीटे चीटे चावल।।

स्त्रियों की रुचि के अनुसार साँझी का परिचय पूछते समय उसके आभूषणों की माप तोल और परिवार का विवरण भी कथोपकथन के रूप में प्रत्येक बालिका स्वयं ही गीत में पिरो देती है, उदाहरणतः

साँझी दे आले दाले दो चौलाँ की मूठी।
मैं तैनूँ पूछा साँझी कै तोले की गूठी।
कीहने बनाई, कीहने चलाई, कीहने मोहर लगाई।
पेडू बनाई पेडू चलाई पेडू मोहर लगाई।
मैं तैनू पूछाँ साँझी कै तेरे भाई।
सात भतीजे बोबो सोलाँ मेरे भाई।
सत्ताँ दा मैं विआह रचाया सोलाँ दी कुडमाई।
गुल्ली डंडा खेढे मेरा भाई।
चिडीआँ चुग चुग लिआयें।
काना मेरा चोर भाई।

साँझी आराधान में दैन्य भाव के साथ सखी भाव उमढ़ आने के कारण बालिकाएँ साँझी के भाइयों को पेटू, काना और चोर भी कह देती हैं। उपहास प्रियता यहाँ तक बढ़ जाती है कि पेडू (पेटू, विदूषक) पर भी एक व्यंग्य गीत गाया जाने लगता है, जसे

पेडू तेरे बाड़े माँ।
मकाड़ीयाँ मन झोटड़िआँ।
गोहा पथन तेरी अम्मड़ीआँ।
चूड़े दे छनकारे मां।
जे नंदे तूँ बोलेंगी।
लै सोटा बढ़कावांगी।।

बेचारे पेडू के साथ उपहास करते हुए ननद की पिटाई की तैयारी भी केवल शरारत भरी शब्दावलि में हो जाती है। साँझी के पति का परिचय और उसकी ननद की ताड़ना का संकेत फिर अगले गीत में होता है।

बाजरे का बूटा भैनों झलमल झलमल करदा सी।
मैं तैनूँ पूछाँ साँझी सोल्हाड़े की करदा सी।
अलन बलन दा दीवा बलदा लाल पोथी पढ़दा सी।
मक्खन मिसरी खांदी जा, नंदे दे सिर लांदी जा।

अगले गीत में साँझी जागरण और नैवेद्य अर्पण के लिए घर की तथा आस पड़ोस की बालिकाएँ तैयारी करती है। इस अंतिम गीत के बोल इस प्रकार होते हैं:--

जाग साँझी जाग।
तेरे मत्थे लग्गे भाग।
तेरी पट्टीआं सुहाग।
कल नूँ फेरे आमाँगे।

जागेंगी जगामेंगे।
अपना वीर पगाएँगे।
वीर दीए पग्गे।
अनारदाना दाना।
गुलाब दा ई फुल्ल ।।

इसके उपरान्त सांझी की मुंह जुठलाई (नैवेद्य अर्पण) होती है। फिर सभी उपस्थित बालिकाएँ नैवेद्य का आदान प्रदान करती हैं। मुहल्ले में जिस-जिस घर में साँझी स्थापना होती है ये लड़कियां इसी प्रकार आश्विन शुक्ला अष्टमी तक वहाँ पहुंचकर प्रतिदिन प्रातः एवं सांय साँझी पूजन करती हैं। आश्विन शुक्ला अष्टमी को परिवार दीवार पर थापा (हल्दी में सने गृहस्वामिनी के सात हाथ) और आटे से मौली लटका कर दुर्गा पूजन करता है। उस समय साँझी को भी हलवा, पूरी आदि अर्पित किए जाते हैं। अष्टमी के दुर्गापूजन के विशेष असवर पर घर में आंमत्रित लौकाडों (छोटे बालकों) और कंजकों (छोटी बालिकाओं) को हलवा, पूरी का प्रसाद तथा पैसे भेंट किए जाते हैं, किन्तु उस समय साँझी के गीत नहीं गाए जाते।

आश्विन शुक्ला नवमी को साँझी का उपवास होता है। साँझी के गीत गाए जाते हैं, किन्तु नैवेद्य अर्पण नहीं होता—मानों विदायगी के समय साँझी उदास हो प्रातः सात आठ बजे तक केवल एकाध तारा और चिड़िया छोड़कर साँझी के दरबार की समस्त सामग्री टोकरी में बटोर ली जाती है। अमावस्या की शाम को बोए हुए जौ (गौरजा) भी इसी टोकरी में रख लिए जाते हैं। छोटी बच्चियाँ अष्टमी पर बना हलवा पूरी पशु पक्षियों को खिलाने और स्वयं खाने के लिए भी साथ ले जाती हैं। नदी किनारे साँणे के दरबार की सारी सामग्री प्रवाहित कर दी जाती है। गौरजा का कुछ अंश सुरक्षित रख लिया जाता है और यही जवे दूर स्थानों पर रहने वाले भाइयों को डाक द्वारा प्रेषित कर दिए जाते हैं ताकि विजय दशमी के पूजन के समय भाई को बहन की भेंट पहुंच सके।

सांस्कृतिक पर्व दीपावली और मध्ययुगीन काव्य

मीनू मेहरोत्रा

पर्व जन-जीवन की सांस्कृतिक निधि होते हैं। वे देश की विशिष्टता, उसकी आत्मा को साकार करते हैं। भारत में ऐसे अनेक पर्वोत्सव हैं। उनमें भी दीपावली प्रमुख है। यह पर्व मुख्यत: वैश्यों का पर्व माना जाता है। फिर भी इसमें सभी वर्णों, सभी धर्मों के लोग शामिल होते हैं और उल्लास का अनुभव करते हैं। हृदय-हृदय में ढल-ढल जलती स्नेह-ज्योति के इस उत्सव का अपूर्व वर्णन मध्य युग के कवियों ने किया है।

कार्तिक अमावस्या को मनाये जाने वाले इस पर्व के साथ सम्बन्धित अन्य उत्सवों का उल्लेख हिन्दी कवियों ने क्रमश: किया है। धनतेरस, नरक-चतुर्दशी द्वीप-मालिका, अन्न-कूट, तथा भ्रातृ-द्वितीया, सभी को समन्वित कर यह पर्व पूरे पांच दिनों तक उत्सव-उत्स बना रहत है। सर्व-प्रथम कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी को "धन तेरस" की योजना बताई गई है। यह एक प्रकार से उत्सव की भूमिका, तैयारी के रूप में है। उस काल में इस दिन भवन शोभा-युक्त किये जाते थे। भवनों में रूपसियां, सोलह श्रृंगार करती थीं ––

"नव सत साजि सिंगार अनूपम, आपु करति मनमानी।" कुंभनदास, 48।

फिर घी के दीये जलाये जाते। सुरभि, सौन्दर्य, और शिखाओं का सुन्दर समन्वय होता। पुरोहित को आमन्त्रित किया जाता। "धन धोने", और धन बोने की क्रिया होती। पुरानी मुद्रायें निकाल कर स्वच्छ की जातीं। विधि-पूर्वक पूजा और धूप-दीप के द्वारा देवता को प्रसन्न किया जाता था। स्थान-स्थान पर घी के जगमग दीपक संजोये जाते। देवता को नैवेद्य अर्पित होता था ––

"धन तेरस रानी धन धोवति।
गर्ग बुलाइ वेद विधि पूजति, ठौर ठौर घृत दीप संजोवति"।
धूप दीप नैवेद्य भोग परि स्याम सुन्दर एकटक मुख जोवति।।
परमानंददास, 251।

"धन धोने" की प्रथा का उल्लेख अन्य कवियों ने भी किया है –– "आज माई धन धोवति नन्दरानी," कुम्भनदास, 48।

वैश्यों के यहां अब भी, पूजन हेतु पुराने सिक्के स्वच्छ कर चमकाने की प्रथा प्रचलित है।

रूप-चतुर्दशी

दूसरे दिन नरक-चतुर्दशी या छोटी दीपावली का आयोजन होता था। मनोवैज्ञानिक रूप से यह दीपावली के पर्व को पूर्ण उल्लास से मनाने का दूसरा चरण है। छोटी दीवाली को 'रूप चतुर्दशी' भी कहा जाता था। दीपावली से पूर्व मनाये जाने के कारण, इसे छोटी दीवाली का नाम दिया गया। "छोटी दीवाली काल मनायो" का उल्लेख भी कवियों ने किया है। इस दिन बालकों को दूध से नहला कर, नये वस्त्रों टोपी आदि से सज्जित किया जाता था। "दूधो नहाओ" का आशीर्वाद इसी दिन की देन है। लाल वस्त्रों में सजे बालक अनुपम उल्लास का अनुभव किया करते थे ––

"दूध सौं सनान करो मन मोहन छोटी दिवारी काल मनाये।
करौ सिंगार लाल तन बागे कुलह जरकसी सीस धराये।।"

[परमानन्द सागर, 252]

सन्त नों की सौन्दर्य-वृद्धि की ओर प्रमुख ध्यान देने का पर्व होने के कारण ही "रूप-चतुर्दशी" की संज्ञा इसे दी गई थी। आज भी इस दिन प्रात: ही बालकों के केश आंवले आदि से धोकर, उन्हें स्वच्छ करने की प्रथा है। कहीं-कहीं भटकटैया के कांटे, तथा फूल आदि पर पटरा रख कर, बच्चों को करवे के पानी से नहलाते हैं। फिर उनके ऊपर से दीपक उतार कर, नाली के समीप धर दिया जाता है। बच्चों की आरती उतारी जाती है। हटरी की पूजा कर, प्रसाद बांटा जाता है। अधिकांश क्रियायें बच्चों की रूप-सज्जा के बाद 'नज़र' से बचाने और उनके दीर्घ-जीवन का ध्यान रख कर भी की जाती हैं।

"दीपावली"

कार्तिक की अमावस्या को मनाये जाने वाले इस पर्व पर उल्लास चरम सीमा पर पहुंच जाता है। इस दिन प्रात: से ही गज-मुक्ताओं से चौक पूरे जाते थे। सूर ने भी इसका वर्णन किया है, "गज मोतिन के चौक पुराये, बिच बिच लाल प्रवालिका।" रत्नों की झालरें और बन्दनवार शोभा बढ़ाते थे। तुलसी ने "गीतावली" में इसका रम्य चित्र प्रस्तुत किया है। बाज़ार सजाये जाते थे। चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों से लिप्त कर, बालकों को नूतन, बहुमूल्य वस्त्र पहनाते थे ––

"कहत जसोदा सुनो मनमोहन, चन्दन लेप सरीर करो।
पान फूल चोवा दिव्याम्बर, मारमिला लै कण्ठ धरो।।" परमानंद सागर, 262।।

इसके पश्चात् पुत्र पिता की आज्ञा लेकर स्थान-स्थान पर दीपक जलाया करते थे ––

"कहत जसोदा सुनो मनमोहन अपने तात की आग्या लेहु।
वारो दीपक बहुत लाडिले करो उजियाला आपन गेह।।" वही, 262।।

कपूर, सुगन्धि,गो-घृत आदि से युक्त दीपक प्रज्वलित होकर, चारों ओर परिमल बिखेरते थे––सुन्दरी कुल-ललना, यमें रसव के उपयुक्त मंगल-गीत गाकर वातावरण को मुखर बना देती थीं ––

"जगमग होत भवन चहुं दिसि ते, मंगल गान गावत ब्रज नारी।
दिव्य कपूर सुगन्ध आदि रुचि, घृत सुरभी की जोति उचारी ।। हरिराय।।

स्फटिक मणि की भित्तियों के ऊपर कनकमय दीपकों की अवलियां जगमगा रही हैं। प्रासादों के मंगल कलशों के रत्न झिल-मिला रहे हैं। सम्पन्न, और धनहीन सभी प्रसन्न हैं। गीतावली, उत्तर-काण्ड, 20, तुलसी। भवन के दीपक-समूह आकाश के नक्षत्र-मण्डल से समता कर रहे हैं। कुम्भनदास, 51 । ललनायें सज-संवर कर, सोने के थालों में झलमल दीप लेकर द्वार-द्वार जाया करती थीं । मंगल-गीत गूंजते रहते थे। सूरदास 10-809। सभी हंसती गाती गरवा खेलती रहती थीं। गावति हंसति गवाय हंसावति पटकि-पटकि करतालिका"। [वही।] कहीं सखियां विविध मुद्रायें व्यक्त करतीं" झूमक गा रही हैं। [सखि झूमक गावहिं अंग मोरी", जायसी, 348/6।] जिनके पति घर में हैं, वे नियां सप्तर्षियों की पूजा उल्लास-पूर्वक कर रही हैं। [पद्मावत, 348/7] गृह में' हटरी' बनी है। उस मिट्टी के घर में बालक जा बैठे है। पास में पिश्ता, दाख, बादाम, छुहारा, खुरमा, खाझा, गूझा, मठरी आदि खाद्य -पदार्थ रखे हैं। घर-घर से नारी-नर एकत्र हो गये हैं। एक-एक का नाम पुकार कर, उन्हें बुलाता हुआ, घर का लाडला सबको मिष्टान्न बांट रहा है। [सूर-सागर, 10-810] एक प्रकार से यह "पैठ" का रूप है। वैश्यों का पर्व जो ठहरा। बच्चे खेल में 'व्यापार' का आनन्द ले रहे हैं। लोग इस दृश्यों को निरखते हुए, नयनों को सार्थक बना रहे हैं ––

"चलो सखी जहां पैठ लगी है, वेंचत है गोकुल के गोपाल।
सब सुन्दरि घर-घर तें आई, निरखति नैन बिसाल ।।" गोविन्द-स्वामी, 66।

इस मीना-बाजार में विक्रेताओं के स्थान पर सुन्दरियां ही नहीं, अपितु सुन्दर बच्चे रहते थे। वे ही तौल कर वस्तुएं बेचते थे। उन्हें यह करते देख अनाड़ी "व्यापारी" से हास-परिहास भी किया जाता था। क्योंकि यह अनाड़ी ठीक से तौल नहीं पाता। भाव-ताव में भी अकुशल है। उससे 'भाव' ठीक बताने, और 'तौल' पूरी करने की बात की जाती है ––

"सावधान हुवै सोदा कीजै जो दीजै तो तौल पुराई ।। परमानंद-सागर, 263 ।।

आज भी हटरियां बनती हैं। पर उनमें बालक नहीं बैठते। न व्यापार का नाटक ही आज होता है। समय के प्रवाह से पुराने संस्कार जाने कहां जा पड़े। बढ़ती हुई आबादी में पीने को ही दूध नहीं पूरा हो पाता। फिर दुग्ध-स्नान की बात ही क्या ?

गोवर्धन-पूजा और अन्नकूट

दीपावली की रात सभी शेष है। अचानक लकड़ी से सूप पीटने की ध्वनि गूंज उठी। [गीतावली, उत्तरकाण्ड, 171]। दीपावली 'लक्ष्मी-प्रबोध' भी तो कहलाती है। इसीलिये लक्ष्मी को जगाने और 'दलिद्दर' भगाने का यह आयोजन उस काल से आज तक चला आ रहा है। उत्तर प्रदेश में घर की वृद्धायें अंधेरे ही उठ कर यह कार्य करती हैं। मध्य प्रदेश में भी यह प्रथा कहीं-कहीं प्रचलित है। हाथों से, या लकड़ी से, सूप पीटा जाता है। जैसे 'दरिद्रता' को जोरों से खदेड़ा जा रहा हो। अन्त में दरिद्रता को दूसरे के द्वार पर, या कूड़े पर डालने का अभिनय भी किया जाता है। लकड़ी से सूप पीटने का उल्लेख अग्रदास जी ने भी किया है। [अग्रदास ग्रन्थावली, 2-60] राजस्थान में यह कृत्य 'गोवर्धन-पूजा' का ही अंग बन जाता है। वृद्धायें दीपावली के दूसरे दिन प्रातःद्वार के समक्ष गोबर का स्वस्तिक बनाती हैं। उस पर दीपक जला दिया जाता है। आस-पास गोबर के स्तम्भ बना कर उसमें तिनके लगा देते हैं। जैसे गोवर्धन के वृक्ष हों। जैसा गोवर्धन, वैसे ही विशाल वृक्ष। फिर घर का कूड़ा 'छाजड़े' पर एकत्र कर, दूर फेंक दिया जाता है। सभी नारियां बेलन से "छाजड़ा" पीटती, गाती लौट आती हैं।

गो-धन ही भारत का मुख्य धन माना जाता है। अत. दीपावली के साथ 'गो-धन' पूजा भी संलग्न है। गोबर का गोवर्धन बना कर, उस पर पौदे लगाये जाते हैं। फिर उन पर गायों को खड़ा कर, उनकी पूजा की जाती है। नारियां गीत गाती रहती हैं। गोवर्धन को भी "गो-धन" का नाम दिया जाता है। दूध और गंगा-जल से स्नान करा कर, रोली-चन्दन, धूप-दीप-नैवेद्य अर्पित कर, उसे तुलसी की माला पहनाई जाती थी। पीताम्बर ओढ़ाया जाता था ––

"रोरी चन्दन चर्चन करि के तुलसी माल पहिरावत।
धूप दीप विधि सों सबै करि पीताम्बर ले उनहिं ओढ़ावत।।"

गोवर्धन-पूजा के लिये तरह-तरह के पकवान बनाये जाते थे। गायों को विशेष रूप से सजाया जाता था। गले में झूमर-गण्डा, सिर पर मयूर-पंखा, ग्रीवा से लटकते रह-रह बज उठते घन-घन घण्टे, पैरों में रुन-झुन नूपुर, हार, रंगी हुई सींगें, और पीठों पर पत्तों का हरित आवरण। उन्हें गुड़ खिलाया जा रहा है। पैरों में पैंजनियां हैं। अरे यह तो मेंहदी भी लगाई गई है। गो घर की श्री जो है। पुरट से पीठ पर 'पत्र-रचना' भी की जाती थी ––

"पाइं पेंजनी, मेंहदी राजति, पीठि पुरट के पात। कुंभनदा" स, 50।।

आज भी गोवर्धन-पूजा की जाती है गायों का पूजन कर, उन्हें खिलाया जाता है। उनकी शोभायात्रा भी निकालते हैं। अन्न-कूट के कारण, छप्पन प्रकार के व्यंजन भी, भले ही वे मात्रा में कम हों, कुछ सम्पन्न घरों में बनाये ही जाते हैं। मथुरा के द्वारकाधीश के मन्दिर म 'अन्नकूट' अपना नाम सचमुच सार्थक कर देता है। वहां पुष्टिमार्ग की पाक-कला अपनी परिपक्वता दिखाती है।

भ्रातृ द्वितीया

इसे भैया-दूज तथा यम-द्वितीया भी कहते हैं। महाराष्ट्र में इसे "भाऊ-दूज " कहा जाता है। पुराणों के अनुसार, इसी दिन यमुना ने अपने घर आये भाई यमराज को टीका लगा कर वर मांगा था। उसी दिन की स्मृति में बहनें स्नान कर, अपने भाइयों को तिलक लगाती, और आरती उतारती हैं। इनके प्रणाम करने पर "चिरजीवी' होने का आशीर्वाद भी देती हैं। बहनें भाइयों को हाथ की बनी, या

बाजार से लाई मिठाई खिलाया करती हैं। भाई उन्हें 'नेग' में रुपये दिया करते हैं।

मध्य-युगीन काव्य भी इस पर्व का एक अति मोहक दृश्य अंकित करता है। भाई-दूज का पर्व आ गया है। माता यशोदा इस प्रसंग के लिये पुत्री सुभद्रा को निमन्त्रण देकर बुलाती है। कृष्ण तथा बलराम, दोनों भाइयों को आज के दिन उबटन लगा कर नहलाया गया है। लाल अतलस के वस्त्र पहनाये गये हैं। सिर पर हरी पगड़ी कसी हुई, है। आभूषणों से अंग सजे है। बहन सुभद्रा तिलक कर दोनों भाइयों की आरती उतारती हैं। भाइयों के आगे खिचड़ी और दही-भात है। भोजन करा कर, बहन उन्हें पान देती हैं। भाई बहन को प्रणाम कर आशीष पाते हैं —

"भाई दूज जानि के जसुमति बहिन सुभद्रा न्यौति बुलावति।
उबटि न्हवाये दोऊ भैया बागौ अतलस लाल बनावति।।
चीरा बांधि हरो सिर ऊपर, आभूषन बहुविधि पहिरावति।
खिचरी दही भात थारनि धरि रोहिनी पै सब साज मंगावति।।
कीनो तिलक सुभद्रा तबहीं नीराजन करिहरष बढ़ावति।
मुख पखारि बीरी हरि लैके बहिनि पानि दै पुनि सिरु नावति।
देत असीत सदा चिरु जीयो गोविन्द विमल-विमल जसु गावति।।"

[गोविन्द स्वामी 80]

इस प्रकार मध्य युगीन काव्य हमारी अनोखी सांस्कृतिक निधि है। उनमें हमारी संस्कृति के विविध रत्न अभी भी अपनी परम्पराओं की आभा लिये आशा की ज्योति संजाये हैं। उनमें हमारी प्रथाओं का शुद्ध रूप विद्यमान है।

पृष्ठ छः का शेष

उन्हें भोजन कराती हैं और दीवाल पर कुंकुम का थापा मांडकर व्रत कथा कहती हैं। इस थापे में भाई तथा बहन दिखाये जाते हैं। ऊपर ही ऊपर एक ओर चांद तथा दूसरी:ओर सूरज दिखाया जाता है।

(12) छठी का थापा

संतान होने के बाद दीवाल पर नामण द्वारा थापा मांडा जाता है जिसे छठी का थापा कहते हैं। इस थापे में एक पालने में बच्चे को झूलता हुआ बताया जाता है। कहीं कहीं थापे में बच्चे के मां बाप तथा ऊपर बच्चे को दिखाया जाता है। नीचे खिलौने तथा एक निसरनी बताई जाती है।

(13) दीवाली का थापा

दीवाली के दिन दीवाली माता के स्वागतार्थ घरों में लछमीजी का थापा बनाया जाता है। इसमें एक आयताकार में नीचे प्रतीक रूप पांव तथा दोनों और हाथ निकाले बता दिये जाते हैं। ऊपर की ओर कंगूरे वाली तोरणी बनाई जाती है। आसपास सातिया तथा मोर फूल आदि बनाये जाते हैं।

ये सभी थापे अंगुलियों और हथेली के ठप्पे हैं। हथेली लगाने को थप्पा लगाना कहते हैं। थप्पड़ मारने को मेवाड़ में थाप मारना कहते हैं। गोबर के उपले बनाने को भी उपले थेपना कहते हैं। कारण कि ये उपले भी हथेली की थपथपाहट से थेपे जाते हैं। दीवाली के दूसरे दिन गाय बैलों के शरीर पर हथेली की सहायता से मेंहदी के थापे लगाये जाते हैं। इन्ही अंगुली हथेली की सहायता से कोरे जाने वाले चित्र थापा नाम से प्रख्यात हुए। श्राद्धपक्ष में लड़कियां प्रतिदिन गोबर से संध्या को जो विविध अंकन बनाती हैं और फूलों से सजाती हैं वह भी थापे का ही एक रूप है। इन थापों को कोरने में कहीं मोटी, कहीं पतली रेखायें बनानी पड़ती हैं, कहीं पूरा रंग भरना होता है अतः हाथ की पांचों ही अंगुलियां काम करती हैं।

इन थापों का अध्ययन धार्मिक सांस्कृतिक एवं कलात्मक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही परन्तु आदि मानव इतिहास और उसके रेखांकन चित्र फलक की दृष्टि से भी विशेष दर्शनीय है। इनके साथ जीवन के मंगल कल्याण के न जाने कितने सेतु निर्मित होते चलते हैं। परिवार की समृद्धि जीवन की खुशहाली तथा समाज की रिद्धि के लिए ऐसे व्रतानुष्ठान और थापांकन बड़े उपयोगी, अर्धगामी और भावगम्य हैं।

मध्यकालीन लोकगीतों में उत्तराखण्ड की गरिमा

डा० शीतांशु भारद्वाज

लोकगीत किसी जाति अथवा समुदाय की वह सांस्कृतिक सम्पदा है, जो क्रमागत लोकाचारों के रूप में उसके जातीय गौरव की संवृद्धि करती है। उत्तराखण्ड के लोकगीतों की महत्ता उसके विषय वैविध्य में ही नहीं है अपितु उनका महत्व इस दृष्टि से भी है कि वे परवर्ती युग के लिए भी आधार-भूमि का कार्य करते हैं। इस दृष्टि से उनके सांस्कृतिक महत्व के साथ-साथ उनकी ऐतिहासिक महत्ता भी बढ़ जाती है।

अग्नि विश्व की सभी जातियों में पूज्य रही है। उत्तराखंड के लोकगीतों में उसे दैनंदिन चर्याओं के लिए अपरिहार्य मानते हुये उसका साभिप्राय स्तवन किया गया है :

ऐजा अगनी मेरा मात लोक,
मेरा मात लोक।
त्वै बिना अगनी ब्रह्मा भूखे रैंगें,
ब्रह्मा भूखें रैंगें।।

प्राकृतिक शक्तियों के प्रति वहां के लोकगीतों में जो पूज्य भाव मिलता है, वह उनकी धर्मभीरुता का ही परिचायक कहा जायेगा। धार्मिक गीतों में अनेक प्रकार के देवी देवताओं का गौरव गान किया जाता है। समय को प्रहरों में विभाजित करते हुये प्रातःकाल से संध्याकाल पर्यन्त अनेक प्रकार से प्रहरों के गीत उसकी अभ्यर्थना में उत्तराखण्ड में गाये जाते हैं। प्रातःकालीन गीतों को जागरण अथवा उद्‌बोधनात्मक गीत भी कहा जा सकता है। इनमें सुषुप्त पड़ी हुई पृथ्वी, आकाश जड़ चेतन सभी के प्रति उद्‌बोधनात्मक स्वर निकलते हैं। गायक देवताओं एवं सूर्योदय का साक्ष्य देता हुआ जसे समग्र पृथ्वी को जाग्रत कर लेना चाहता है :

बीजी गैंन देवतों का थान,
बिजी गैंन बीजी, कोठों को लै सुरीज।

इन जागरण गीतों में गायक देवभूमि की अनेक रूपों में अभ्यर्थना करता है। पृथ्वी एवं देवलोक के साथ साथ उत्तराखंड के पूण्य शिखरों एवं पावन तीर्थों के जाग्रत होने का भी उल्लेख किया गया है। निम्न गीत पंक्तियों में हिमानी शिखर, बैजनाथ धाम, धोली नदी, देव प्रयाग, हरिद्वार, केदारनाथ, चोपडा-चौथान, सभी के जाग्रत होने का वर्णन द्रष्टव्य है :

वृयूं हिंवालू जाग, पयालू पाणी जाग।
गोवरधन परवत जाग, वाधा कंड जाग।।
बाबा बैजनाथ जाग, धैला दिप्रियांग जाग,
हरि हरिद्वार जाग, काशी विश्वनाथ जाग,
बूढा केदार जाग, भोला शम्भूनाथ जाग,
कालसी कुमाउँ जाग, चोपडा चौथान जाग।

उत्तराखंड की संध्याएं जो दृष्टिपटल पर मनोहारी दृश्य अंकित करती हैं, वहीं अपने सौंदर्य के कारण वे लोकगीतों में भी वर्णित हैं। पश्चिमी शिखरों में अस्त होते हुए ताम्रवर्णी सूर्य एवं तत्पश्चात् संध्या आगमन के वर्णन उस क्षेत्र में प्राचीन काल से ही लोक गायकों द्वारा गाये जाते रहे हैं। यह लोकगीत केवल जागरों के अवसर पर संध्याकाल को पुरुषों द्वारा ही गाया जाता है। पूर्वी क्षितिज में उदित हुआ सूर्य संध्याकाल को पश्चिमी क्षितिज में अस्त हो गया है। उसकी धूप की पीलिमा ऊंचे हिम शिखरों तक ही सीमित रह गई है तथा बादलों से संध्या उतरने लगी है :—

पुरबै को दिन पश्चिम न्हैं गोछ।
दिन नरैण हरी अच्छप है गोछ
ओ उँचा हिमाल मांज पियलो धाम भयों।
गैला नैला पातलों वै, संजय झूली गेछ।
विष्णु लोका मांज अब संजय झूली गेछ।।

यही नहीं हिमालय क्षेत्र के उत्तर में नीलकंठ शिखर आकाश पाताल विश्व के नौ खंडों तथा तीनों ही लोकों में संध्या उतर आई है।

ए संध्या झुकि गेछ भगवान, नीलकंठ हिंवाला।
ए संज्या झुकि गेछ हो रामा, अगास रे पताला।।
ए संज्यां झुकि गेछ भगवाना, नौखंडा धरति मांजा।
नौ खंडा धरति हो रामा, तीनों हो रे लोका।।

उत्तराखंड के प्रचलित लोकगीतों के वैदिक संस्कृति के अनुरूप ही होम आदि धार्मिक कृत्यों के अवसर पर यव (जौ) विलो के होम का भी वर्णन मिलता है। वसंत पंचमी के अवसर पर वहां प्रत्येक द्वार पर गाय के गोबर के साथ जौ की नई बालियाँ आरोपित की जाती हैं। यह प्रथा वैदिक संस्कृति की ही पुष्टि करती है। लोकगायक इस अवसर पर धरती माँ कूर्म देवता, भुम्याल (स्थानीय देवता) तथा गंगा माता से यश प्राप्ति का आकांक्षी होता है :

जौ जश दे, धरती माता।
जौ जश दे, कुरम देवता।
जौ जश दे, भूमि को भुम्याल।
जौ यश दे, गंगा की सौणी धार।।

स्वर्ग से भी अधिक प्रिय जन्म भूमि के प्रति उस क्षेत्र के मध्य-कालीन लोकगीतों में अनेक प्रकार के गौरवगान मिलते हैं। गढ़वाल की जय गाथा गाते हुये गायक उस क्षेत्र को देवभूमि कहता है। उसके वक्ष प्रदेश पर गंगा यमुना धौली आदि नदियां प्रवहमान हैं। जो वहां के निवासियों का मातृवत पय पान कराती हैं :

गढ़वाल मेरा मुलीक देवतों की थाती।
देवतों की थाती गढ़वाल, देवतों की थाती।
गंगा जमुना घोली चौडी छन जौंकी छाती ।।
दूध की धार पिलौदी हम थैं मैंणी सी ।।

ऋत एवं प्रकृति से सम्बद्ध लोकगीतों में उत्तराखंड की गरिमा गान का अनेक रूपों में उल्लेख मिलता है। कफू पक्षी का कुहुकना एवं सरसों के खेतों में छाई हुई पीलिमा वसंत ऋतु के आगमन की सूचना देती है :

कफुवा बासरा फगो फुलि गेछ दैणा।
ओं मेरी बैणा, ओ एगे ऋत रैणा ।।

कृषि कर्म में प्रवृत्त होने से पूर्व विविध देवी देवताओं को पत्र पुष्प अर्पित करते हुए उनकी अभ्यर्थनाएँ की जाती हैं। मासी अथवा रैंमासी एक ऐसा ही पुष्प है, जो सुन्दर होने के साथ साथ पवित्र भी माना जाता है। यह पुष्प मनार पर्वत पर पुष्पित होता है :

कै धूरी फुललो मासी को फूल
सिखर मनार मासी को फूल

शिखरों के देवता शिव को इस पुष्प को अर्पित किये जाने का वर्णन निम्न पंक्तियों में दृष्टव्य है :

स्योरों मुचाछ पांणि की फल।
कै देवों चढलों मासी को फूल।
सिवै कि कैलासा मासी को फूल।
त्व छावा चडलो मासी को फूल ।।

उत्तराखंण्ड की प्राकृतिक सुषमा वहां के लोक गायकों द्वारा अनेक प्रकार से वर्णित हुई है। रात्रियां तिमिराछन्न हों अथवा चन्द्र ज्योत्सना में सद्य-स्नात, लोक गायकों ने परिवेश के अनुरूप ही उनको काव्यमयी शब्दावली में वर्णित किया है। गायक चांदनी रात में आकाश में टिमटिमाते हुए किसी एक तारे को सम्बोधित करता हुआ अपने दुख को वर्णित कर रहा है :

हो सरग तारा जुन्याली रात।
की सुणालो यो मेरी बात ।।

कहीं कोई विरहिणी धवल ज्योत्सना को देखकर अपना विरह-गान गा रही है। गायक ने यहां प्रकृति के उद्दीपन रूप को वर्णित किया है :—

ओ ओ ओ ओ जुनेली रात, हाइ जुनेली रात।

'न्योली' कूर्मांचल क्षेत्र का सर्वाधिक लोकप्रिय गीत रहा है। प्रेमपरक गीतों के अन्तर्गत इसे लघुगीत कहा जा सकता है। इस प्रकार के गीत प्रेमी-प्रेमिका के पारस्परिक सुख दुखात्मक भावों को अभि-व्यंजित करते हैं। इनमें प्रेमी को 'न्योला' और प्रेयसी को 'न्योली' कहकर सम्बोधित किया जाता है। प्रथम पंक्ति का प्रतिपाद्य किसी माननीय अथवा प्राकृतिक घटना से सम्बद्ध होता है, जब कि द्वितीय पंक्ति में ही भावाभिव्यक्ति होती है। मेलों में इन गीतों को आरम्भ में मंगलाचरण के रूप में गाने की प्रथा है। गायक सर्वप्रथम अलमोड़ा की नन्दादेवी और सोर (पिथौरागढ़) की भगवती की वंदना करते हुए उनसे समस्त प्राणियों के प्रति कृपालु होने की प्रार्थना करता है :

अलमोडे की नंदादेवी, सोर की भगवती,
सब खींन दयाल होली, मैं हूं लखपती।

उत्तराखंण्ड के निवासियों का आरम्भ से ही अपनी मातृभूमि के प्रति अगाध प्रेम रहा है। पर्वत प्रदेश से इतर मैदानी क्षेत्र उन्हें अस्वास्थ्यकर प्रतीत होते हैं। इसीलिए कहा गया है कि निवासों में निवास पर्वत प्रदेश का ही श्रेयकर है :

ईश्वर भगवान तुम, है जाया दयाल,
परवत रौणी भलो, जन पडे माल,
अपण मुलुक रोंनि, जां अपणी थात।
भटका डुबुका भला, मदिरा को भात ।।

हिमालय की अभ्यर्थना भी मध्यकालीन लोकगीतों में अनेक प्रकार से की जाती रही है। मेलों अथवा थड़्या गीतों में कभी जिस 'दरी' गीत को गाने का प्रचलन था, उसमें प्रत्यक्ष रूप से हिमालय का ही सौन्दर्यगान गाया जाता था :

ओ दरी हिंवाला दरी
ताछिमा ताछिमा दरीऽ ।।

उत्तराखंड क्षेत्र अपने प्राकृतिक सौष्ठव के कारण कवियों की कविताओं का पृष्ठाछर रहता आ रहा है :

भलि च मेरी जनमभूमि, भलु हिंवाला देस,
कत्यौं थैं मिलद जख कविता कू देव ।।

उत्तराखण्ड के ये लोकगीत मध्ययुगीन संस्कृति की संरक्षा करते हुये आज भी उसी क्रमागत रूप में मुखरित हैं। जातीय गौरव गान की दृष्टि से ये लोकगीत वहां के सांस्कृतिक पृष्ठाधार हैं।

हिमाचल प्रदेश के लोकगीतों की विरहिणी

मनोहर लाल

पहाड़ों का रहने वाला हूं, इसलिए गिरिजन हूं। वहां देवता भी रहते ह। वे भी गिरिजन हैं। परन्तु मैं तो मानव हूं, मूर्ख मानव। कभी-कभी दानव भी हो जाता हूं। अतः अपने को देवताओं के समकक्ष रख कर उनकी गिरि-गरिमा को गौण कर रहा हूं। देवताओं के पड़ोस में रहता हूं अथवा देवता मेरे पड़ोसी है, इसलिए यदि कोई मुझे हरिजन कहे तो मैं फूला न समाऊँगा। हरि यानि विष्णु। गिरि-देव-समाज विष्णु का ही तो रूप है। और जो 'हरि' को भजे सो हरि-जन।

देवात्मा हिमाचल शिवालक की पहाड़ियों के रूप में दूर-दूर तक बसे हिमाचल प्रदेश को निहार रहा है टुकुर टुकुर। हंस रहा है। अट्टाहास कर रहा है। चांदी की चादर ओढ़े है। महाकवि कालिदास ने हिमालय की इस वेश-भूषा में नटराज शिवशंकर के दर्शन किए हैं। यह हिमालय का अट्टाहास असल में शिवजी का अट्टहास है, वह अट्टहास जो दिशाओं में छितरा कर जम गया है, सघन हो गया है रिस-रिस कर स्मिति बनने के लिए।

हिमाचल प्रदेश के लोक गीतों में इसी अट्टहास को, इसी स्मिति को सरस अभिव्यक्ति मिली है। प्रकृति देवी ने इसका निर्माण ही सौंदर्य-श्री से कर रखा है। सुंदर ही सुंदर है इसका सर्वस्व। इसके पर्वत सुंदर, इसके नदी-नाले सुंदर, इसके वन-प्रांतर सुंदर। इसका वितान, आसमान भी सुंदर। कल-कल, छल-छल करते झरनों का संगीत यहां है, नदी-नालों का मुक्तक छन्द यहां है। वन-प्रांतर की डाल-डाल का नृत्य यहां है। पत्तों का लय-बद्ध ताल यहां है। बांसों के झुरमुट में मुरली-बजैया की तान यहां है। और इस सबको मादकता की छौंक लगा देने वाली शीतल चांदनी यहां है। सुवासित, नयनाभिराम। इसीलिए तो लोक गायक के मार्दव कंठ से यह सौंदर्य फूट पड़ा लोकगीत बन कर—

'जीणा पहाड़ां दा जीणा ओ
ठंडी-ठंडी हवा जो झुलल्दी
बरफां दा पाणी पीणा ओ
जीणा पहाड़ां दा जीणा ओ।'

और फिर प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में, असीम नील गगन के वितान की छाया में लोक-गायकों का मादक स्वर ऊंचे-ऊंचे देवदार-ओं चीड़ों तथा बांसों के सघन झुरमुटों का सहज स्पर्श करता हुआ, जा टकराया हिमाच्छादित गगन-चुम्बी पहाड़ों की चोटियों से। तब राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के शब्दों में सिद्ध हो गया—"लोक-गीत में धरती गाती है, पहाड़ गाते हैं, नदियां गाती हैं, फसलें गाती हैं, उत्सव और मेले, ऋतुएं और परम्पराएं गाती हैं"। सचमुच ऐसी सम्पदा वाला कांगड़ा देश न्यारा है, बड़ा प्यारा है—

'नी! मेरा कांगड़ा देस प्यारा
नी। मेरा कांगड़ा देस निआरा
डूघी-डूघी नदीयां कनैं सैली सैली धारां
छैले-छैले गभरू कनैं बांकियां न नारां
बांकिआं नारां, बोल बोलण प्यारा
नी। मेरा कांगड़ा देस निआरा।'

(अरी! मेरा कांगड़ा बड़ा प्यारा है, न्यारा है। गहरी-गहरी नदियां हैं, सुंदर-सुंदर पर्वत श्रृंखलाएं हैं, छैल-छबीले नवयुवक हैं, बांकियां (सुंदर) औरतें हैं, बड़ा प्यारा बोलती हैं मीठा मीठा, मेरा कांगड़ा देश अनोखा है।)

बड़े दर्द भरे लोक गीत हैं इस जनपद के अश्रु भरे, एकदम सद्य-सुनात। 'कूंजू चैंचलो', गंगी, मोहणा, 'राझूं-फुलमू' आदि के त्रासद प्रेमाख्यान दिल के अनबजे तारों को झकोर देते हैं सहसा। जिसमें कभी भी प्रेम लेने या प्रेम देने अथवा प्रेम की चोट सहने का अनुभव किया है, गीतों का एक-एक बोल उसकी कई-कई सोई स्मृतियां जगाकर रख देता है। फुलमू और राझूं की टीस भरी प्रेमगाथा लोक गीत की स्वर लहरी में सज-संवर कर मात्र चम्बा के भटियात जनपद की ही सम्पदा लेकर नहीं रह गयी हैं,— बल्कि पूरे हिमाचल की विषम प्रेम निधि बन गयी है। कुंवारेपन की प्रीत को फलीभूत होते देख राझूं के अमीर बापू को, यह कब सह्य था कि उसका बेटा फुलमू गद्दण से ब्याह रचाये। सामाजिक स्तर पर सम्बन्ध विच्छेद होते ही राझूं की कड़माई (सगाई) अन्यत्न कर दी गयी। शहनाइयां बजने का दिन आ गया। राझूं को बूटणा (उबटन) लगने लगा। बेचारी, प्रीत की डोरी में बंधी फुलमू लुक-छिप कर, आंसुओं के हार पिरो कर राझूं को 'बूटणा लगता' देखने लगी। कनखियों से झांकती फुलमू राझूं की नजर से भी बच न सकी और राझूं गा उठा —

'बाडुएं-सुगा डुएं फुलमू कजो झाक दी, झखा कजो मारदी
दो हत्थ बूटणे दे लायां फुलमू, गल्ला होई बीतीआं।'

(फुलमू पिछवाड़े से लुक-छिप कर क्यों देख रही है, झातियां क्यों मार रही है। आ, आ तू भी बूटणे के दो हाथ लगा दे, पुरानी बातें तो अब गई गुजरी हो गई।)

यानी फुलमू तथा रांझू का कुआंरेपन का प्रेम इतिहास बन गया। उसके मन से क्या हर्षोल्लास है जो बूटणा लगाये। वियोग की मर्मान्तिक पीड़ा से सनी फुलमू, प्रसन्नचित्त से रांझू को किसी और का लाड़ा (दुल्हा) बनता कैसे देख सकती थी? वियोग की पीड़ा में, बिना जल की मछली की तरह बेचारी ने प्राण त्याग दिए। दूसरे दिन एक तरफ खासे (सुख पाता पालकी) में सजा रांझू बारात लिए जा रहा था और दूसरी ओर फुलमू का शव-श्मशान की ओर ले जाया जा रहा था। रांझू का हृदय पसीज गया। कहारों को कह कर उसने पालकी रखवा दी। अपने हाथों फुलमू की चिता को आग दी। तब लोक कवि पुकार उठा——

'दोस्ती नी लाणी फुलमू कच्चेआं कनें, जानी कुआरिआं कने
ब्याह वो करदे बेईमान, गल्लां होई बीतीआं।'

(रांझू सरीखे कच्चे कुआंरों से लड़कियों को प्रीत नहीं करनी चाहिए। ऐसों की प्रीत झूठी होती है। ऐसे लोग विवाह के समय ईमान खो बैठते हैं, दगाबाज हो जाते हैं।)

लगता है पुरुष प्रेम दिखाने में ढोंगी है, बेपरवाह है, स्वार्थी है। उसे अपने मतलब से मतलब। वियोग की चोट खाये को कौन सुनता है? दर्जी भी फटा पुराना कपड़ा सीने में नाक-भौं सिकोड़ते हैं। दिल की गहराइयों में उतर कर पीड़ा की तह ढूंढ लेने वाला कोई न मिला, जो मिला वह अलगरजी, स्वार्थी, निगोड़ा——

'टुटिया-फुटिया, फटा-पुराणा कपड़ा
कोई न सींदा दरजी ओ
दिलां दा मेहेरम कोई ना मिल्लिआ
जो मिल्लिआ अलगरजी ओ।'

बड़ी मुसीबत है, कपड़ा फट जाये तो सिया जा सकता है, टल्ली (टाकी) पाई जा सकती है, भला अम्बर (दिल) ही फट जाये तो कैसे सिलेगा——

'टल्लू फटै सो लै लैणा, टाकी पायो
अम्बर फटै किजां सीणा ओ?'

एक और उंठती हुई उम्र। चढ़ता हुआ गीला यौवन और प्रिय परदेस में। न आता है न प्रेमपाती ही भेजता है। नौकर को प्रेषित पतिका थोड़े जल की मछली की तरह न तड़पे तो करे क्या? कैसे कटेगा यह चढ़ती वय का तूफान —

'थोड़े-थोड़े पानी ओ मछली जे तड़पे
इजां करो तड़पैं वो नौकरे दी नार
आपू वी नी औंदा, लिखी वीं नी घलदा
किजां करी कटणी बालड़ी बरेस।'

चैंचलो का कूंजू भी उसे छोड़ कर चम्बा को चला गया। चैंचलों मां से चम्बे का रास्ता पूछती है ——

माए नी मेरिये जम्मू दी राही
चम्बा कितणी के दूर।
उड़ी उड़ी कूंजां देस माही पे
लई औणी खबर जरूर॥
उच्ची उच्ची रिड़िआं कनें डूंघी-डूंघी नदिआं
दिल मेरा होई जांदा चूर
शिमले नी बसणा सपाड़ू नी बसणां
बसी जाणा चम्बे जरूर।

(मां। जम्मू के रास्ते चम्बा कितनी दूर है? मैं उड़कर प्रिय कूंजू के देश जाऊंगी, उसकी खबर लाऊंगी, ऊंची-ऊंची पहाड़ियाँ हैं, गहरी-गहरी नदियां हैं वहां, मेरा दिल टूटा जा रहा है। मैं न शिमले बसूंगी न सपाटू। जरूर चम्बे जाकर बस जाऊंगी।)

पर उसे तो वहां भी वियोग में ही झूझना पड़ता है। वह घिर-घिर कर आते बादलों को पर्वतमालाओं से गलबांही डालती देखती है, सहेलियों को झूला झूलते देखती है। चम-चम चमक कर बिजली उसके कोमल कलेजे को दहला जाती है ——

'चम्बे दिआं धारां पौण फुहारां
ओ दूर दिआ बसिआ हुण घरैं आई जा।
बदला घिरि-धिरि हार बणाये,
रली मिली सखियां झूले पाये।
पछिआ हत्थ कितने सनेड़े भेजे
बिजली दी चमचम हिली गे कलेजे
ओ दूर दिआ वासिआ हुण घरैं आ ई जा।'

(ओ दूर बसे प्रिय! अब घर आ जा। चम्बे के पर्वतों पर वर्षा की फुहार पड़ रही है। बादलों ने घिर-घिर कर पर्वतमालाओं को गले लगा लिया है। हिल-मिल कर सहेलियों ने झूले डाल लिये हैं। पक्षियों के हाथ कितने ही संदेश भेज चुकी हूं। बिजली चमक-चमक कर कलेजे को हिलाये दे रही है। आजा, अब तो आ जा।)

चम्बा की गद्दणों को चम्बा से बड़ा प्यार है। एक राजा गद्दण के तरल मांसल लावण्य पर मुग्ध होकर उसे अपने महलों में ले आया। पूछने लगा——बता तुझे किस-किस की बुरी (विरह-वेदना) आती है उत्तर में वह बोली——'थोड़ी-थोड़ी बुरी तो भेड़-बकरियों की आती है पर जब गद्दी (पति) की याद आती है तो कलेजे पर छुरियां चलने लगती हैं——

'थोड़ी-थोड़ी बुरी राजा छेलुआ-बकरुआ दी औंदी,
गद्दीये दैं नाएं बगी जांदी छुरी।'

गोरटी को तो बस उसका चम्बा प्रिय है। चम्बा के पहाड़ प्रिय हैं। पर चम्बे का राजा तो उससे कटाक्ष पान का मामला (टैक्स) मांगता है——

'गोरी दा चित्त लगा चम्बे दिआं धारां
चम्बे दा राजा मामला मंगदा
नैणा दा मंगदा नजारा।'

ओडीसी : नृत्य व्यंजना का माध्यम

डा० शरद कोठारी

सार्वदेशिक स्तर पर ओडिसी का प्रचार एक नयी नयी सी बात है, इस लिए यह भ्रम हो जाता है कि शायद यह नृत्य विद्या भी नयी है। वस्तुत ओडिसी बहुत ही पुरानी विद्या है और अगर ओडिसा के रानी गुम्फ (गुफाओं) में अंकित नृत्य दृश्यों की साक्षी ली जाये तो इसे भारत का प्राचीनतम शास्त्रीय नृत्य सिद्ध किया जा सकता है। ये गुफाएं ईसा से दो सदी पूर्व की हैं और कुछ विद्वानों की मान्यता यह है कि इन पर नृत्य के दृश्यों का उत्खनन नाट्यशास्त्र के सर्जन से भी पहले हुआ होगा। यह मन्तव्य विवाद का विषय बन सकता है लेकिन इतना तो निर्विवाद है कि भारतीय वास्तुकला और मूर्तिकला में नृत्य और संगीत की झांकी प्रस्तुत करने वाला इससे पुराना उदाहरण कोई नहीं। नाट्यशास्त्र में तत्कालीन प्रचलित नृत्य विद्याओं को संहिताबद्ध करते समय दक्षिण पूर्वी क्षेत्र की ओध्र मगध शैली का वर्णन किया गया है। यही वर्तमान ओडिसी की पूर्वजा रही होगी। दूसरी सदी ई० पू० और सातवीं सदी ईस्वी के बीच के काल से नृत्यविषयक कोई उल्लेखनीय साक्षी हम तक नहीं पहुंची है। इस काल में ओडिसी शैली की कोई परम्परा रही या नहीं यह कहना मुश्किल है। निर्णय तभी किया जा सकेगा जब इस काल के बौद्ध शिल्प का कुछ और अध्ययन उद्‌घाटन हो। सातवीं सदी इस्वी से लेकर आगे तक ओडिसी के क्रमिक विकास का इतिहास उपलब्ध है। ओडिसा में सातवीं सदी से चौदहवीं सदी तक का शायद ही ऐसा कोई मंदिर हो जिस पर नृत्य के दृश्य अंकित न हों। आठवीं सदी के परशुरामेश्वर मंदिर में तांडव की कई मुद्राएं मिलती हैं और बेताल देवल जैसे बाद में निर्मित मन्दिरों में भी नटराज विद्यमान है।

राजा रानी मन्दिर जैसे आरम्भिक मध्य युग के मन्दिरों में तो यहां से वहां तक नृत्य मुद्राओं की कविता कल्लोल करती दिखती है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि मध्ययुगीन वास्तुकार नृत्य मुद्राओं को ज्यों का त्यों अंकित करने नहीं बैठता था, उस का उद्देश्य मूर्तियों में नृत्य जैसी लय ले आने तक सीमित था। लेकिन गौर से देखने पर यह प्रकट होता है कि शिल्पी नाट्यशास्त्र के अच्छे ज्ञाता रहे होंगे और नाट्यशास्त्र द्वारा प्रतिपादित मुद्राओं का ही अंकन उन्हें अभीष्ट रहा होगा। यह बात अलग है कि उनके अंकन पर पूर्वी शैली का गहन प्रभाव था। कोणार्क की स्थापना तक ये नाचती मूर्तियां पूर्वी शैली की विशिष्टता का पूर्ण आभास देने लगी थी। पन्द्रहवीं से लेकर सत्रहवीं सदी ईस्वी तक की वास्तुकला ओडिसी नृत्य के विषय में कोई विशेष सूचना नहीं दे पाती। सच तो यह है कि जगन्नाथ मंदिर की स्थापना के बाद यह क्षेत्र स्थापत्य के मामले में सूना ही रहा। सौभाग्यवश इस काल की नृत्य सम्बन्धी सचित्र पांडुलिपियां उपलब्ध हैं। इसके अध्ययन से प्रमाणित होता है कि यद्यपि ओडिसा में नाट्यशास्त्र के मोटे मोटे सिद्धांतों को मसलन तांडव और लास्य तथा नृत नृत्य और नाट्य के विभाजन को माना जा रहा था तथापि प्रदेश की एक विशिष्ट और स्वतंत्र नृत्य शैली भी बराबर विकसित हो रही थी। पांडुलिपियों में महेश्वर महापात्र की अभिनय चन्द्रिका विशेष महत्वपूर्ण है। इसमें ओडिसी नृत्य की जटिल से जटिल मुद्राएं चेष्टाएं और अंगचालन, लेखनी और तुलिका दोनों में पूरी बारीकी से निरुपित हैं। छोटी सी जगह में हर मुद्रा और हर अंगचालन को सही सही उतार देने में इस पांडुलिपि का कोई जवाब नहीं। शकटास्य चक्रमंडल और गंगावतरण जैसे करण तथा विष्णुकान्त और वृश्चिक कुट्टिल जैसी मुद्राएं भी इस पांडुलिपि में अंकित हैं।

अभिनय चंद्रिका का रचनाकाल विवादास्पद है। बहरहाल यह बारहवीं सदी ईस्वी से पहले का ग्रंथ नहीं है। बाद की पांडुलिपियां जैसे नारायण देव गजपति की नृत्य कौमुदी तथा संगीत नारायण (पन्द्रहवीं सदी) और जदुनाथ सिंह की अभिनय दर्पण (96 वीं सदी) से भी ओडिसा में नाट्यशास्त्र की परम्परा के पालन और उल्लंघन दोनों के ही रोचक उदाहरण मिलते हैं। ओडिसी नृत्य शैली की लोकप्रियता का प्रमाण तो खैर मिलता ही है। सत्रहवीं शताब्दी के बाद भी ओडिसी के विषय में टीकाएं लिखी गयी और यद्यपि यह नृत्य विद्या राजकीय संरक्षण खो बठी तथापि देवालयों के प्रागण में उसे पूर्ववार सम्मान मिलता रहा। देश के अन्य भागों की तरह ओडिसा में भी साहित्य नृत्य के लिए समुचित विषय वस्तु जुटाता रहा। आठवीं सदी की शैव परम्परा का स्थान धीरे धीरे वैष्णव परम्परा का स्थान धीरे धीरे वैष्णव परम्परा ने ग्रहण किया और राधा कृष्ण, जनसाधारण और कलावन्त दोनों के आराध्य बने। गीत गोविन्द के रचयिता जयदेव का ओडिसी नृत्य पर गहन और निरन्तर प्रभाव पड़ा। जयदेव के अतिरिक्त ओडिसा में और भी कई ऐसे कवि हुए जिनका साहित्य नृत्य के लिए प्रेरणा बना। इस सन्दर्भ में गजपति और कपलेन्द्र की रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है। उपेन्द्रनाथ के गीत और कवि सूर्य बलदेव रथ, गोपाल कृष्ण पटनायक और बनमाली दास जैसे भक्ति मार्गियों की पदावली भी ओडिसी नृत्य के विकास में सहायक हुई। बनमाली दास के काव्य का ओडिसी नृत्य के लिए वही महत्व है जो विद्यापति के काव्य का मणिपुरी नृत्य के लिए। आज के नृत्यकार भी भक्तिकाल के इन कवियों की रचनाओं को नृत्य का आधार बनाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ओडिसी नृत्य बहुत प्राचीन है और सातवीं सदी से लेकर सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी तक उसके क्रमिक विकास का इतिहास मौजूद है।

ओडिसी नृत्य पर नाट्यशास्त्र और शिल्पशास्त्र दोनों के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रभाव है। इस नृत्य में मानवीय शरीर को त्रिभंग में देखा और दिखाया जाता है। शीर्ष बध और कटि इन तीनों के दोलन को चेष्टा का मुख्य आधार माना गया है। शरीर के भार का दो सम भागों में वितरण करने और एक पांव से दूसरे पांव पर डाले जाने का आग्रह रखा गया है। नितम्ब दोलन ओडिसी नृत्य की विशिष्टता है। अन्य शास्त्रीय पद्धतियों में इसे वर्जित माना गया है। अभंग जिसके भरतनाट्यम में ही कभी दर्शन होते हैं। पूरे पांव का केवल पंजे का और केवल एड़ी का तीनों तरह का पदाघात देखा जाता है। लेकिन इसमें भरतनाट्यम की तरह एड़ी पंजे वाला पदाघात कम ही किया जाता है। पदाघात के विषय में ओडिसी की विशिष्टता गोट्ठी चाली में देखी जाती है। इसमें नर्तक एड़ी के बल जटिल पदचालन करता है। अन्य शास्त्रीय नृत्यों की तरह ओडिसी भी सम पद से प्रारम्भ होता है यानी नर्तक अपना भार दोनों पावों पर बराबर डाल कर स्थिर खड़ा होता है। ओडिसी में इस मुद्रा को स्तम्भ पद की संज्ञा दी गयी है। स्तम्भ पद के बाद चौका। इसमें भी शरीर का भार दोनों पदों पर समान रूप से वितरित रहता है लेकिन दोनों पांव एक दूसरे से चार ताल की दूरी पर रहते हुए पर रहते नर्तक हैं, नृत्य शुरु करता है और सबसे पहले यह स्पष्ट करता है कि चौका स्थिति में उसके अंग चालन की क्षेत्र सीमा क्या होगी। यह सीमा वर्गाकार होती है और इस वर्ग में नर्तक अपने पदचालन से रोमन के आठ जैसे अधूरे या पूरे आकार बनाता है। ओडिसी की विशिष्ट चेताएं हैं मीनदंडी वर्त्तुल घेरा और द्विमुख मीनदंडी घुटने से नीचे पांव की अर्द्धचक्राकार गति का संकेत देती है। वर्त्तुल एक पांव को केन्द्र मान कर दूसरे पांव से चक्राकर गति का परिचायक है। घेरा कई समकेन्द्रित चक्रों में गति का सूचक है। द्विमुख में दोनों पांव पूरी तरह फैला दिये जाते हैं। यह चेष्टा ओडिसी में ही देखी जाती है।

बैठने, चलने और उछलने की भी विशिष्ट चेष्टाएं हैं। बैठकर नृत्य करने की मुद्राएं जो नाट्य शास्त्र के 'करणों' की याद दिलाती हैं, ओडिसी में 'बैठा' कहलाती हैं। चलने की चेष्टाएं जो नाट्य शास्त्र में 'चारी' के नाम से पुकारी जाती हैं उन्हें ओडिसी में 'चाली' कहते हैं। भौमिचारी आकारिकी चारी, एकपद चारी और द्विपद चारी सभी का ओडिसी में प्रयोग होता है। नर्तक द्वारा एक कल्पिक खड़ी रेखा के चारों ओर पद-चालन से लच्छे के आकार बनाते जाना ओडिसी चाली की खूबी है। सम पर आने पर नर्तक ऐसी सुन्दर मुद्रा में स्थिर होता है कि भुवनेश्वर और कोर्णक की मूर्तियां याद आ जाती हैं। उत्प्लवन (उदवाल) के मामले में ओडिसी नृत्य विद्या मणिपुरी नृत्य विद्या जैसी ही समृद्ध है। भ्रमरी (फिरकी की तरह घूमना) का भी ओडिसी में बहुत प्रयोग होता है। ओडिसी नृत्य की भंगिमाओं की विशेषता यह है कि उनमें धड़ के अलस विस्तार का आग्रह रहता है। डोल हस्त और चारी हस्त का शैथिल्य भी उल्लेखनीय है। कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि ओडिसी में मणिपुरी शैली की काव्यात्मक गरिमा और भरत-नाट्यम के ज्यामितिक अनुशासन दोनों का सह-अस्तित्व है और यह सह-अस्तित्व उसे एक अलग अनोखा रूप प्रदान करता है। अन्य विधाओं की तरह ओडिसी में भी नर्तक धरती की वन्दना के साथ कार्यक्रम शुरू करता है। इसे ओडिसी में भूमि प्रणाम कहते हैं। इसके बाद विघ्नराज (गणेश) पूजा की जाती है। भूमि प्रणाम सिर्फ ताल वाद्य की संगति में किया जाता है। विघ्नराज पूजा के साथ साधारणतः श्लोक पाठ भी होता है। इस पूजा प्रस्तावना के बाद मुख्य कार्यक्रम बटुनृत्य के साथ शुरु होता है। नटराज को समर्पित इस प्रसंग में नर्तक एक निश्चित ताल पर मंद से द्रुतलयतक पहुंचता है और ताल की सीमा को तरह तरह से बांट कर देखता और दिखाता है। बटु नृत्य की तुलना कत्थक के परण और भरत नाट्यम के तीरमणम से की जा सकती है। नर्तक के कौशल की अग्नि परीक्षा इसी में होती है। इसके बाद वह अपने इष्ट देवता की वन्दना करता है। इस नृत्य में साहित्य का समावेश साथ साथ गायी जाने वाली प्रार्थना के रूप में होता है। यद्यपि इसमें नृत्य के तत्व होते हैं। तथापि इसे अभिनय का अंग माना जा सकता है।

मंच पर लय और साहित्य के बाद स्वरों की बारी आती है और नर्तक स्वर पल्लवी शुरु करता है जिसमें रागिनी के स्वरकारों के समानान्तर नर्तक की अंग चेष्टाएं चलती रहती हैं। स्वरपल्लवी शुद्ध नृत्य का उद्धरण है और इसमें हस्त मुद्राओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसे मन्द्र मध्यम और द्रुत किसी भी लय में किया जा सकता है। इसके बाद गीत अभिनय अथवा साभिनय नृत्य शुरु होता है। पदावलियां गायी जाती हैं और नर्तक प्रस्तुत पद का स्थायी भाव अपने नृत्य द्वारा निरुपित करता जाता है। पद के हर शब्द का, हर विशेष अर्थ का, हस्त शरीर और मुख की मुद्राओं की भाषा में अनुवाद होता है। गीत गोविन्द का दशावतार प्रसंग ओडिसी नर्त्तकों का प्रिय पद है। गीत गोविन्द के प्रणय प्रसंग भी अभिनय के लिए अच्छे माने जाते हैं। अन्य शैलियों की तरह ओडिसी में भी कार्य क्रम की समाप्ति शब्दों और स्वरों से परे सूक्ष्म व्यंजना में होती है कत्थक के तराना और भरतनाट्यम के तिल्लाना की भांति ओडिसी का अन्तिम कार्यक्रम सिर्फ तालवाद्य के बोलों पर प्रस्तुत किया जाता है। इसे तर्जम कहते हैं। ताल के बोल गाये जाते हैं और नर्तक उन्हें अपने नृत्य में उतारता जाता है। एक ही बुनियादी लय के चारों ओर अनेकानेक नृत्तकार सजाये संवारे जाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि शिल्प और साहित्य दोनों की दृष्टि से ओडिसी भारत की अन्य किसी नृत्य विद्या से उन्नीस नहीं है बल्कि यहां तक कहा जा सकता है कि यह भरतनाट्यम और कथकलि के समकक्ष रखे जाने के योग्य है।

(शेष पृष्ठ 20 पर)

लकड़ी पर खुदाई के लिए विख्यात रेगिस्तान की काष्ठकला

मूरचंद जैन

भारतीय हस्तकला उद्योग में राजस्थान प्रदेश का सर्वोत्तम स्थान है। इसी प्रदेश के पाकिस्तान सीमा से छटे रेगिस्तानी क्षेत्र हस्तकला के लिए अपना प्राचीन, ऐतिहासिक, धार्मिक एवं दर्शनीय स्थल आगुन्तकों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं वहां दूसरी ओर इस क्षेत्र में हस्तकला उद्योग से निर्मित सामग्री को प्राप्त करने के लिए वे सदैव ललायत रहते हैं। रेगिस्तानी ऊनी गलीचे, ऊन से बने पटू कम्बल, साल, बरडी जनजन में लोकप्रिय बन चुके हैं। चम्वड़े पर तैयार नक्काशी एवं भारत का कार्य और कपड़े पर रेशमी डोरों की कढ़ाई व कांच की टीकों की जड़ाई आज देश के कोने-कोने में ख्याति प्राप्त कर रही हैं। विदेशी पर्यटक इन्हें चाव से खरीद कर पहनते हैं। रेगिस्तानी बाड़मेर जिले की रंगाई छपाई वस्त्र तो आज विदेशी मुद्रा अर्जित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। रेगिस्तान के इन क्षेत्रों में लकड़ी पर खुदाई का कार्य आज जनजन में अधिक लोकप्रिय बन रहा है। कुशल, प्रतिभाशाली एवं श्रमजीवी सुथार जाति के लोग आज लकड़ी याने काष्ठकला में अपनी कार्यकुशलता, बारीक खुदाई, नाना प्रकार की आकृतियां उभार कर इसे जगत प्रसिद्ध करने में लगे हुए हैं।

काष्ठकला में अधिकतर रेगिस्तानी सीमान्त क्षेत्र में निवास करने वाले सुथार जाति के लोग कार्यरत हैं। इनकी संख्या पश्चिमी राजस्थान के बाड़मेर एंव जैसलमेर जिले में करीबन पंद्रह हजार के आस पास ही होगी जो इस हस्तकला को जीवित रखने में आज भी सक्रिय है। सन् 1971 के भारत-पाक संघर्ष में करीबन एक सौ सुथार परिवार अवश्य ही इस क्षेत्र में आए हैं और वे भी अपनी उदरपूति करने के लिए इस हस्तकला में जुटे हुए हैं। हिन्दू जाति के ये लोग आर्थिक स्थिति से कमजोर होते हैं। इनमें अधिकतर लोग वर्षा में खेती और पशुपालन करते हैं। खेती और पशुपालन व्यवसाय के अतिरिक्त समय में ये लोग जनजीवन में कार्य आने वाले लकड़ी के सामान को तैयार कर अपना जो वन-निर्वाह करने में व्यस्त रहते हैं।

लकड़ी के आधुनिक फर्नीचर, घरेलू उपयोग में आने वाले लकड़ी के सामान सुथार जाति के हर क्षेत्र के लोग तैयार करने में दक्ष होते हैं। पाषाणों पर छीनी और हथौड़ी की मार से शिल्पकार अत्यंत ही सुन्दर एवं बारीक शिल्पकला फूंक देते हैं उसी प्रकार आजकल साधारण जनजीवन यापन करनेवाले रेगिस्तानी क्षेत्र के सुथार लोग लकड़ी पर सुंदर, कलात्मक, आकर्षक एवं बारीक खुदाई का कार्य कर काष्ठकला में नया जीवन उभार देते हैं।

गांव में हो या शहर म ये लोग बिना किसी मशीन के अपने वही हजारों वर्ष पुराने औजारों से लकड़ी की खुदाई का कार्य करने में कार्यशील बने रहते हैं। हथोड़ा, सोरसी, रन्धा, आरी, बसोला, बर्मा, नईया, नकली, तिली, अरगती करोठो आदि से ये अपना कार्य चला लेते हैं। आजकल इन लोगों ने टेबल, कुर्सी, सोफासेट, पलंग, ड्रैसिंग टेबल, साईड टेबल, पैनल, हाथ की चक्की की गोलाई, दरवाजों के बारासक, छत की सजावट, चारपाई के पागे, बालकों के झूलने के भींगे, भोजन करने के बाजोठ आदि नाना प्रकार के लकड़ी के सामान पर बारीक खुदाई कर उसे अधिक आकर्षित बनाने में सिद्धहस्ता प्राप्त कर ली है। रेगिस्तान में इस प्रकार काष्ठकला के कलात्मक फर्नीचर को देश के कोने कोने में पसंद किया जाने लगा है। देश के विख्यात शहरों के पर्यटक केन्द्रों में विश्रामगृहों, अतिथि आवास स्थलों, लोकप्रिय होटलों में रेगिस्तान में इस प्रकार लकड़ी पर खुदाई से तैयार किए फर्नीचर को सजाने के उपयोग में लिया जाने लगा है। इसी कारण रेगिस्तान के गुदड़ी के लाल सुथारों को हस्तकला अधिक लोकप्रिय बनती जा रही है।

इस प्रकार की काष्ठकला से तैयार लकड़ी के नाना प्रकार की सामग्री को स्वतंत्रता से पूर्व फ्रांस, इटली, अरब आदि देशों के लोग पसंद किया करते थे लेकिन आजकल भारतीय हस्तकला का दिग्दर्शन करवाने के लिए भारतवासी इसे अधिक पसंद करने लगे हैं। रेगिस्तान में इस प्रकार का कार्य करने में जुटे सुथार जाति के कुशल कारीगरों द्वारा प्रतिवर्ष करीबन दस-पंद्रह लाख रुपये का काष्ठकला का सामान तैयार कर बेचा जाता है। एक कुशल कारीगर को प्रतिदिन इस कार्य से दस-बारह रुपये मिल जाते हैं और उसका सहयोगी कारीगर दिन में आठ रुपये तक कमा लेता है। लकड़ी पर सुंदर एवं कलात्मक खुदाई करके बेलबूटे, पशु-पक्षियों की आकृतियां, भवनों की बनावट, छज्जों एवं कंगरों की कला, जातियों की सुन्दरता, गुम्बजों की छटा खिलाने में इन कलाकारों का परिश्रम उभर आता है। लकड़ी की कीमत एवं कारीगरों की मेहनत को देखते हुए यह सामग्री बहुत ही सस्ती मिलती है।

रेगिस्तान के बाड़मेर जिले में इस प्रकार की बारीक लकड़ी खुदाई का कार्य अधिक होता है, जहां से तैयार माल दिल्ली, बम्बई, अहमदाबाद, बंगलौर, जयपुर आदि नगरों में बहुमात्रा में जाने लगा है। इस पौत्रक हस्तकला में लगे सुथार इस कला को अब अधिक आकर्षक एवं कलात्मक बनाने में जुटे हुए हैं। ये लोग अपनी सिद्धहस्त कलाकृतियों के निर्माण के कारण रेगिस्तान के आंचल से उठकर भारत

के विख्यात नगरों में कार्य करने में रत हो गए हैं। बम्बई, ग्रहमदाबाद, दिल्ली, जयपुर, कलकत्ता ग्रादि प्रमुख नगरों में अपनी हस्तकला को विख्यात करने में ये लोग जुटे हुए हैं। भारत के अतिरिक्त इसके आसपास के दुबई आदि कई द्वीपों में राजस्थान के रेगिस्तानी बाड़मेर जिले के कई सुथार अपनी हस्तकला को प्रदर्शित करने में जटे हुए ह ।

सुथार लोग बारीक काष्ठकला सागवान एवं शीशम की लकड़ी पर करते हैं। जो लकड़ी रेगिस्तानी क्षेत्र में उत्पन्न नहीं होती है। रेगिस्तान में उत्पन्न होने वाली रोहिड़ा लकड़ी पर इन्होंने इस लघु उद्योग को सबसे अधिक विकसित किया है। मजबूत एवं खुदाई के लिए यह रोहिड़ा लकड़ी अधिक उपयुक्त रहती है। रोहिड़े की लकड़ी के चारपाई के पागे, फर्नीचर, पलंग आदि सस्ते भी बनते हैं और ये अधिक टिकाऊ भी रहते हैं। आजकल रोहिड़ा लकड़ी से बनी लकड़ी की सामग्री की मांग दिनों-दिन बढ़ने लगी है।

रगिस्तान के इस लघु लकड़ी उद्योग को यदि आर्थिक सहयोग एवं प्रोत्साहन देने के साथ तकनीकी जानकारी दी जाय तो इस उद्योग निर्मिमग्री विदेशों में अधिक लोकप्रिय बन सकती है ।

[पृष्ठ सत्रह का शेष]

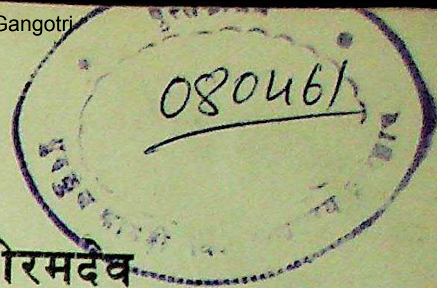
पहाड़ों का जीवन संकटपूर्ण है। राजा उसे मैदानों में जा बसने के प्रलोभन देता है। पर उसे तो चम्बा प्रिय है। यहां की प्रकृति प्रिय है। यहां के लोग प्रिय हैं। वह कहती है——

गोरी दा चित्त लग्गा चम्बे दिग्रां धारां
चम्बे दिग्रां धारां पौण फुहारां
उडणूं तां सिजी जांदा सारा
घर-घर टिकलू, घर-घर बिंदलू
धर-घर बांकीग्रां नारां
घर-घर मौज बहारां
गोरी दा चित्त लग्गा चम्बे दिग्रां धारां ।।

चम्बा उसका है, वह चम्बे की है। रावी की बहाव-गति सांय-सांय उसके वियोग को उद्दीप्त कर देती है। कातर होकर बेचारी, चम्बे के गले की माला——रावी से कहती है——'रानी। सुन, सांय-सांय मत कर। मुझे तुझसे डर लगने लगता है। तेरी चाल टेढ़ी-मेढ़ी है, सौ-सौ नखरे हैं। मेरा दिल तो तेरे किनारे बैठ कर तेरे ही गीत गाने को मचल रहा है——

'सांय-सांय मत कर रानी ए
मिंजो तेरा डर लगदा
चिम्बे दे गले दिये लड़िये
मिंजो तेरा डर लगदा
टेढ़ी-मेढ़ी चाल तेरी, सौ-सौ नखरे
धंधे तेरे सावी ए, कर ना तू नखरे
तेरे कंढे बैहणे जो दिल मेरा करदा
तेरे ई मैं गीत गां, मेरा दिल करदा ।।'

और ऐसी दशा में पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "लोकगीत की एक-एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धाएं, खंडिताएं और धीराएं न्यौछावर की जा सकती हैं क्योंकि ये निरलंकार होने पर भी प्राणमयी हैं और वे अलंकारों से लदी होकर भी निष्प्राण हैं। ये अपने जीवन के लिए किसी शास्त्र विशेष की सुखापेक्षी नहीं है और अपने आप में परिपूर्ण हैं" ।



छत्तीसगढ़ का खजुराहो-भोरमदेव

– शम्सुद्दीन

कवर्धा से लगभग 13 किलोमीटर दूर प्रकृति की गोद में स्थित भोरमदेव मंदिर प्राचीन संस्कृति और कला का एक बेजोड़ नमूना है। यहां तक पहुंचने का रास्ता बड़ा बीहड़ और धूल से भरा हुआ है। यात्री अनेक उतार-चढ़ावों, खेत-खलिहानों, कटाव और मोड़ों से होता हुआ यहां पहुंच पाता है। पक्का रास्ता न होने से यात्रा यद्यपि तकलीफ देह होती है, किन्तु मार्ग के दोनों ओर दूर-दूर तक फैली पहाड़ियां, वन एवं खेत ऐसा सुन्दर प्राकृतिक दृश्य उपस्थित करते हैं कि उनका आनन्द लेते हुए यात्री कब भोरमदेव पहुंच जाते हैं, पता ही नहीं चलता।

भोरमदेव का मंदिर ऊंचे पहाड़ी स्थल पर एक प्राकृतिक तालाब के पार पर स्थित है। इसके चारों ओर ऊंची चहार दीवारी बना दी गई है। प्रवेश द्वार से मंदिर प्रांगण में पहुंचते ही यात्रियों की नजर मंदिर की विशाल ऊंचाई पर जा टिकती है। उसकी भव्यता सचमुच देखते ही बनती है। और पास आने पर दीवार पर उभरी एक-एक आकृति बलात हमारे दिल और दिमाग को कुरेद देती है और हम सोचने लग जाते हैं कि इस कला का यह प्रदर्शन क्यों ? पत्थर पर खुदी हुई पुरुष और नारी की नग्न आकृतियां हमारे सामने एक प्रश्न-चिन्ह उपस्थित कर देती हैं। चूंकि अन्वेषण एवं शोध के अभाव में इनका कोई प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं है, अतः जन श्रुतियों एवं लोक कथाओं के आधार पर ही इनका आकलन करना पड़ता है।

पुरुष और नारी का सम्मिलन जो यहां विभिन्न आसनों में दर्शाया गया है, 'न्यूड' कला का नमूना है। इसे तांत्रिक साधना की अभिव्यक्ति माना जाता है। कलाकार इसे ब्रह्म और जीव के मिलन का प्रतीक मानते हैं। यहां प्रतिमाओं में आंखों की पुतलियों का जो अदृश्य होना दर्शाया गया है उसके संबंध में कला विवेचकों का मत है कि यह शारीरिक नहीं वरन ब्रह्मानंद की अभिव्यक्ति का प्रतीक है। एक दूसरे मतानुसार नारी की नग्न मूर्तियों को अंकित करने के पीछे कलाकार का लक्ष्य सम्भवतः यह बताना हो कि जहां मंदिर के भीतर देवी देवताओं का निवास एवं आध्यात्मिक शान्ति है वहीं उसके बाहर का संसार विषयों से परिपूर्ण और कामुक है। एक जनश्रुति इस संबंध में यह भी है कि मंदिरों को वज्राघात से बचने के लिए यह व्यवस्था की गई है। उनका कहना है कि जब बिजली जोर से चमकेगी तो उसके प्रकाश में मंदिर की बाह्य दीवार पर अंकित नग्न कामुक मूर्तियां और भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होंगी तथा उन्हें देख बिजली भी शरमाकर वापिस चली जायगी और मंदिर सुरक्षित बच जायेगा।

जनश्रुति एवं विश्वास जो भी हो, किन्तु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि पत्थर पर अंकित ये मूर्तियां कला के अनुपम कला नमूने हैं। न जाने कितने शिल्पकारों एवं कलाकारों ने अपनी छेनियों, शलाकाओं और तुलिकाओं से बरसों परिश्रम कर केश और बरौनियों तक की सूक्ष्मताओं को अंकित किया होगा। उनकी सूझ-बूझ कितनी गहरी होगी, इसका अंदाज इसी से लगाया जा सकता है कि प्रतिमाएं न केवल विभिन्न मुद्राएं एवं आसान बताती हैं वरन उनमें गहरे उपदेश भी भरे हुए हैं। उदाहरणार्थ एक जगह पुरुष प्रतिमा का एक हाथ जीभ पर तथा दूसरा हाथ अपने लिंग पर यह बताता है कि मनुष्य को यदि जीवन सफल बनाना है तो उसे इन दोनों चीजों को नियंत्रण में रखना चाहिये।

इस प्रकार भोरमदेव मंदिर का बाह्य आवरण अपनी कला में अत्यन्त उत्कृष्ट श्रेणी का है तथा इसे खजुराहो का छोटा रूप कहें तो अनुचित न होगा। मंदिर के भीतर सरस्वती, काली, विष्णु, लक्ष्मी आदि की मूर्तियां दिखाई देती हैं। इनके सिवाय बुद्ध, कुबेर, सूर्य और चन्द्रमा को भी सुन्दर ढंग से अंकित किया गया है। यहां स्तम्भों और छत पर खुदाई का काम बड़ी सुन्दरता से किया गया है। दर्शक इसे देख आश्चर्यचकित रह जाते हैं। मंदिर के भीतर शेषनाग की प्रतिमा एवं एक शिला लेख यह बताता है कि इसके निर्माता राजा नागवंशी रहे होंगे। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि आज भी इस मंदिर के भीतर विद्युत रोशनी का प्रवेश नहीं हुआ है, तथा दर्शक टार्च अथवा लालटेन के प्रकाश में इसके अंधकार पूर्ण अंतःभाग को देख सकते हैं। अब कल्पना कीजिये कि कलाकारों ने यहां अपनी कला को किस प्रकार अंकित किया होगा ?

इस मंदिर का निर्माण चौदहवीं शताब्दी में हुआ था। उपलब्ध प्रमाणों के अनसार नागवंशियों की एक शाखा बस्तर राज से यहां चली आई थी। उसी के गोपाल देव नाम के राजा ने यहां अपना राज्य स्थापित किया था। कहते हैं उन्होंने ही इस मंदिर का निर्माण करवाया था। इस मंदिर में की गई कारीगिरी बौद्धकालीन कलाकृति का बोध कराती है। इसमें शिवलिंग तथा नंदी की प्रतिमायें भी यह बताती हैं कि वहां के नागवंशी शासक शिव के उपासक रहे होंगे। यहां हनुमानजी की भी दो पत्थर की मूर्तियां हैं, जिनके संबंध में लोगों के कुछ विश्वास जुड़े हुए हैं। जो भी हो भोरमदेव का मंदिर अतीतकालीन संस्कृति एवं कला की समृद्धि का प्रतीक है।

भोरमदेव मंदिर से कुछ ही दूरी पर ढलान में एक मंडवा महल अपने खंडित रूप में दिखाई देता है। इसकी कारीगिरी एवं नक्काशी बताती है कि यह विवाह का मंडप रहा होगा। शिलालेख के आधार पर भी सिद्ध होता है कि एक नागवंशी राजा ने हैहयवंशी राजकुमारी से यहां विवाह किया था। यहां भी कामसूत्रों पर आधारित प्रतिमायें निर्मित की गई हैं। इनका उद्देश्य मात्र रीति-क्रीड़ा का प्रदर्शन था अथवा कोई आध्यात्मिक उद्देश्य भी था, यह तो ठीक-ठीक निश्चित करना कठिन है, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनमें इतिहास, कला, एवं पुरातत्व संबंधी अन्वेषण की सम्भावनायें छिपी हुई हैं, अतः इनका संरक्षण आवश्यक है।

भोरमदेव मंदिर के चारों ओर फैली प्राकृतिक शोभा इसमें और चार चांद लगा देती है। दूर-दूर तक फैली हुई पहाड़ियों के बीच यह मंदिर इस प्रकार स्थित है मानों भौतिक जगत से भागकर एकान्त साधना हेतु यह निर्जन स्थान में आ बसा हो। मंदिर के सामने ही एक नैसर्गिक तालाब है जिसमें पड़ती हुई पहाड़ियों की छाया अनुपम दृश्य उपस्थित करती हैं। यहां पहुंचकर ऐसी शान्ति का अनुभव होता है जो गिरि कंदराओं में ही सुलभ होती है। शिव भक्त उपासक यदा कदा समय निकाल भोरमदेव मंदिर जाते हैं तथा यहां मौन साधना कर असीम आध्यात्मिक शान्ति का लाभ उठाते हैं।

खेद केवल इसी बात का है कि पर्यटन विभाग द्वारा इस स्थल का विकास नहीं किया जा सका है। अभी भी भोरमदेव जाने का रास्ता बड़ा बीहड़ एवं दुर्गम है। साल के छह माह तो यहां रास्ता इतना खराब रहता है कि लोग मंदिर तक पहुंच ही नहीं पाते। शेष समय यदा कदा दर्शनार्थी यहां आया करते हैं। कई विदेशी पर्यटक भी ऊबड़-खाबड़ रास्ता पार करते हुए यहां तक पहुंच ही जाते हैं। वर्ष में दो बार यहां मेले का भी आयोजन होता है जब लोग जंगल में मंगल मनाते हैं।

ऐसी स्थिति में छत्तीसगढ़ के इस खजुराहो एवं मंदिर को एक दर्शनीय स्थल के रूप में विकसित किया जाना अति आवश्यक है। यहां तक जाने का रास्ता पक्का बनाया जाये तथा यहां पर्यटक यात्रियों के विश्राम हेतु सुविधायुक्त आवास का निर्माण किया जाये। साथ ही पुरातत्व विभाग इस स्थल पर उत्खनन एवं शोध कार्य कर इसके छिपे हुए इतिहास को प्रकाश में लाये तो बहुत अच्छा हो ताकि यहां की संस्कृति एवं सम्यता का देशव्यापी प्रचार एवं प्रसार हो सके।

हुमायुं का मकबरा-स्वाधीनता स्मारक या कला प्रतीक

नरेन्द्र कुमार सौन्धी

ऐतिहासिक स्मारकों और इमारतों का जहां तक सम्बन्ध है भारत का चप्पा चप्पा इस प्रकार की इमारतों से भरा पड़ा है। प्रत्येक इमारत अपनी कहानी स्वयं अपनी जुबानी सुनाती सी प्रतीत होती है। इन ऐतिहासिक अवशेषों और खण्डहरों के साथ आत्मिक तादातम्य स्थापित कर इनका सूक्षम निरीक्षण किया जाये तो अतीत की गहराइयों में छिपी अनेकानेक यादगारें जैसे सहसा सजीव हो उठती है। अतीत की इन गहराइयों में धीरे धीरे एक एक पग रखते हुए नीचे इनकी तह तक पहुंचा जाए इससे पहले ही ये यादगारें ज्वलंत घटनाओं के रूप में परिणत हो यथार्थ धरातल पर आकर प्रत्यक्ष सी प्रतीत होने लगती हैं और दर्शक तन्मयता में भूलता इन गहराइयों में डूबता सा प्रतीत होता है। कभी कभी तो विश्वास ही नहीं हो पाता है कि इन इमारतों के पीछे केवल एक व्यक्ति अथवा जाति ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र की गाथा, उसके उत्थान की गाथा और उसके पतन की गाथा गुथी होती है।

इसी प्रकार दिल्ली में पुराने किले के निकट मथुरा रोड़ पर स्थित हुमायुं का मकबरा न केवल मात्र एक मकबरा या समाधि है, न वह किसी बादशाह की केवल यादमात्र है बल्कि वास्तुकला का एक उत्कृष्ट नमूना भी है। ऐतिहासिक पृठ भूमि के कुछ ऐसे दृश्य इस मकबरे में प्रतिविम्बित हैं जिनके बगैर भारतीय इतिहास अपूर्ण सा प्रतीत होता है। यह वह स्थान है जहां भारतीय स्वतंत्रता सग्राम के प्रथम सैनानी मुगल सल्तनत के आखिरी बादशाह बहादुरशाह जफर को मेजर होड़सन ने सितम्बर, 1857 में गिरफ्तार किया था। यह कहना कि जफर फिरंगी हकूमत से डरकर इस मकबरे में आ छिपा था न केवल बलिदान की उस महान प्रतिमूर्ति के प्रति अन्याय है बल्कि वास्तविक देश भक्ति की उस थाती का अपमान भी है। अंग्रेजों के विरुद्ध संग्राम का बिगुल बजाने के साथ ही मानवता के इस पुजारी ने आदेश दिए थे कि किसी भी असहाय पुरुष, अबोध बालक अथवा अबला नारी के साथ दुराचार न हो चाहे वह भारतीय हो अथवा फिरंगी। किन्तु स्वतन्त्रता संग्राम के उस दावानल में जब ऐसे ही निरीह प्राणियों का ही करुण क्रन्दन कर्ण गोचर हुआ तो जफ़र का कोमल हृदय चीत्कार कर उठा और वह हुमायु के मकबरे में जाकर अल्लाताला से रहमदिली की दुआ मांगने लगा। इबाबत के उन क्षणों में बादशाह को गिरफ्तार करना ब्रिटिश हकूमत का वह झंझावात था जिसके थपेड़े आज भी इस इमारत से टकरा कर हृदय को कम्पायमान कर देते हैं। यह वह मकबरा है जहां से आजादी के लिय सरफिरोशी की तमन्ना लिए बूढ़े बहादुर शाह को जेल की यातनाएं सहने रंगून भेज दिया गया था। वतन की आन पर मर मिटने वाले उस परवाने को जब मादरे वतन में आखिरी जिंदगी बसर करने से महरूम रहना पड़ा तो बरबस ही उसके लब पुकार उठे

"कितना है बदनीसब जफ़र
दफन के लिए दो गज जमी
भी न मिली कूएयार में ।"

यह वह जगह हैं जहां इसी बादशाह के तीन बेटे (मिर्जा मुगल, मिर्जा खिद्या सुलतान और मिर्जा अद्रुहका) तथा अन्य प्रमुख व्यक्ति गिरफ्तार हुए थे जिनको इस मकबरे के सामने तुरन्त ही मुकदमें का फैसला सुनाकर कर कत्ल कर दिया गया था। ब्रिटिश साम्राज्य के इस नृशंस तांडव नृत्य की भंयकर थिरकन क्या आज भी काली छाया बनकर उन भूले बिसरे क्षणों की याद नहीं दिलाती जब जफ़र के दो बेटों और एक पोते का सिर काटकर बाप के पास उपहार स्वरूप भेज दिया गया था। हुमायुं का मकबरा वह स्थान है जहां से आजादी की चिंगारी शोला बन भड़क उठी थी।

मुगल बादशाह बाबर के बेटे नासिर-उन्दीन मुहम्मद हुमायु का यह मकबरा अपने सागर समान अतुल हृदय में जहां एक ओर ऐतिहासिक ज्वार-भाटों के उतार चढ़ाव समेटे हुए है वहां दूसरी ओर हुमांयु की वफादार बीवी हाजी बेगम की पाक मुहब्बत का दामन थामें खड़ा है। दाम्पत्य जीवन की प्यार-मुहब्बत की इस अनूठी निशानी का निर्माण स्वयं हाजी बेगम ने 1565 ई० में करवाया था। इस की शानों-शौकत में कोई कमी न रह जाए इसके लिए शाही खजानों के मुह खोल दिए गऐ थे और 15 लाख रूपये की आहुति डालकर अमिट प्यार की इस शिखा को प्रज्जवलित किया गया था। इस इमारत पर जब दृष्टि जाती है तो बादशाह हुमांयु के मात्र 8-9 वर्ष के संघर्षमय शासन काल की स्मृति-रेखाएं एक एक करके हृदय पटल पर उत्तर आती हैं।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस मकबरे का क्या महत्व है और किस-2 संदर्भ में इसका उल्लेख किया जा सकता है, यह एक अलग प्रश्न है।

एक कलाकार की दृष्टि से यदि इसके कालात्मक पक्ष को देखा जाये तो वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। सत्य तो यह है कि

मकबरा कला की ऐसी शैली का उत्कृष्ठ उदाहरण है जिसकी कोई दूसरी मिसाल नहीं है। कहा जाता है कि यह मुगल वास्तुकला का सर्वोत्तम उदाहरण है और भारतीय वास्तुकला के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। यह साजसज्जा और अलंकृत वास्तुकला का प्रतीक है। इस नवीन पद्धति की चरम परिणती है आगरे का ताजमहल। ऊंची गर्दन पर गुलाईनुमा दोहरा गुबंद और आसपास के क्षेत्र को बाग बगीचों से सुसज्जित करने के विशेष तरीके फारसी पद्धति से लिए गये हैं। यद्यपि बहुत बड़े अहाते में बने मकबरे पहले भी प्रचलित थे किन्तु पार्कनुमा एक बड़े अहाते के बीचों बीच मकबरा बनाने की प्रथा सम्भवतः यहीं से आरंभ हुई थी जिस बगीचे में हुमांयु का मकबरा स्थित है उसमें पक्के रास्ते, फूलों की क्यारियां और फव्वारे आदि बने हुए है। इस बागीचे की विशेषता यह है कि भारत में यह इस प्रकार का प्रथम मुगल बाग है जो आज भी अपने मूल रूप में ही विद्यमान है। इसके अतिरिक्त मकबरे का ऊंचा गुलाईनुमा गुबंद भी विशेष आकर्षण रखता है। पर्यटकों की नजर अनायास ही उस ओर उठ जाती है। हुमांयु के मकबरे को कलात्मक विशिष्टता इसकी स्वच्छता, सादगी, रूप, आकार, संतुलित एवं समानुपाती निर्माण पद्धति तथा लाल पत्थर और संगमरमर के मिश्रित कलापूर्ण कार्य में हैं।

इस मकबरे का मुख्य वास्तुक मिर्जा ग्यास नामक फांरसी था। सम्भवतः यही कारण है कि इसकी वास्तुकला भारतीय और फारसी दोनों पद्धतियों का समिश्रित रूप है। मकबरे में दाखिल होने के दो बहुत आलीशान गुद्दार दरवाजे हैं एक पश्चिम में और दूसरा दक्षिण में। पश्चिमी द्वार में छोटे छोटे बहुत सुन्दर मकान बने हुए हैं। प्रत्येक मकान में जाने के रास्ते भी पृथक ही बने हुए हैं। दक्षिणी द्वार में यद्यपि मकान नहीं हैं लेकिन चबूतरे हैं। प्रांगण की दांयी तरफ अरब की सराय है। इसे भी हाजी बेगम ने बनवाया था। मकबरे के अहाते की उत्तरी दीवार के बीचों बीच सात फुट उंचे चबूतरे पर एक छोटी सी इमारत बनी हुई है जिसमें एक महराबदार कमरा बना हुआ है। इसमें बड़े 2 बुर्जनुमां कुएं हैं जिनमें से दीवार के पीछे पानी लाकर नहरों में दौड़ाया जाता था। और बागों में पानी दिया जाता था। यह नहर 1824 ई० तक जारी थी। इस मकबरे का अहाता लगभग 13 एकड़ जमीन में है।

हुमांयु का मकबरा बाग के बीचों बीच एक बहुत बड़े 8 फुट उंचे चबूतरे पर बना हुआ है। इस चबूतरे की प्रत्येक भुजा लगभग 156 फुट लम्बी है। चबूतरा लाल पत्थर का बना हुआ है। चबूतरे में बहुत सी सी छोटी 2 कोठड़ियां हैं जिनमें कब्रें बनी हुई है। इसके उपर जाने की सीढियां भी पत्थर की बनी हुई है। कहते है इस चबूतरे को चारों ओर लाल पत्थर की जालियों का कटघरा था, लेकिन 1857 ई० के गदर में इस कटघरे को बागियों ने तोड़ फोड़ दिया था। कटघरे के अवशेष अब भी देखे जा सकते हैं। इस चबूतरे के तहखाने में हुमांयु बादशाह और उनकी बेगम, साहिबा, दूधपीती शहज़ादी और राज्य परिवार के अन्य लोगों की असली कब्रें हैं और चबूतरे के उपर कब्रों के तावीज बनाये गये हैं। मकबरे का आकार वर्गाकार है परन्तु इसके चारों कोने इस प्रकार काटकर बनाये गये हैं कि यह अष्ट भुजी बन गया है जिसकी चार भुजाए. छोटी हैं और चार भुजाएं बड़ी। इसकी प्रत्येक छोटी भुजा मकबरे के चारों कोनों में बनी चार बुर्जियों की एक एक दीवार का काम देती है। कोनों की बुर्जियां दो मंजिरी हैं। इन बुर्जियों और केन्द्रीय मकबरे की उपरी मंजिल पर चारों ओर एक तंग वीथी बनी हुई है। यह उपरी भाग इस प्रकार का घुमावदार है कि इसमें जाकर आदमी उलझ जाता है और इस उतरने का रास्ता नहीं मिलता मकबरे की छत के उपर जाने का कोई रास्ता नहीं है क्योंकि उपर जाने के लिये कोई सीढ़ियां नहीं बनाई गई हैं। इसके बीच वाले कमरे की खिड़कियों का सिलसिला ऐसा है कि उपर वाली खिड़कियां नीचे वाली खिड़कियों से कुछ छोटी है। गुबंद के अन्दर तरह-तरह के संगमरमर के पत्थरों का फर्श है। हुमांयु की कब्र के तावीज के नीचे छः इंच ऊंचा संगमरमर का चबूतरा बना हुआ है। चबूतरे पर संगमरमर की पटिटयां हैं। इस तमाम कमरे का फर्श संगमरमरम का है।

बीलर का कहना है कि "यह मकबरा मुगल वास्तुकला का प्रथम उदाहरण है" दोहरे गुबंद का सूत्रपात इसी मकबरे से हुआ। मुगलकालीन मकबरों में कमरों और गलियारों का ऐसा सुन्दरतम विन्यास कभी नहीं हुआ था जिनकी आन्तरिक बनावट और बाहरी साज सज्जा और परस्तर कला इतनी श्रेष्ठ हो। कन्नीगोम के अनुसार "इमारत के चारों कोनों से जुड़ी हुई मीनारें बनाने का यह प्रथम प्रयास है।" वास्तुकला की इस भारतीय-फ़ारसी वास्तुकला का धीरे 2 सुधार और विकास हुआ और परिणाम स्वरुप यह ताजमहल के रूप में अपने पूर्ण उभार में हमारे सामने आई। इसके विकास के बीच की कड़िया हैं :—

(1) आगरे मे इत्मादौला का एक मंजिली मकबरा;
(2) सिकन्दर दरवाजे के दो मंजिली मिनारें; और
(3) लाहौर मे जहांगीर के मकबरे की मीनार।

उक्त तीनों उदाहरणों में मीनारें मुख्य इमारत के साथ जुड़ी हुई हैं परन्तु ताजमहल में ये मीनारें चबूतरे के चारों कोनों पर बनाई गई हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ताजमहल की मूल रूप रेखा का आधार यही हुमांयु का मकबरा ही है।

इस मकबरे का विशेष महत्व इस लिये है कि यह ऐशिया मे भवन निर्माण की दो कलाओं भारतीय और फ़ारसी कलाओं का संगम है। जहां बाग, महराब, गोल गुंबद, कमरों और गलियारों के संयुक्त रूप से फारसी कलाओं का प्रभाव है वहां सुन्दर छतरियां, पत्थर की राजगीरी और संगमरमर की पच्चीकारी मे भारतीय कला झलकती है। परसीब्राउन ने ठीक ही कहा है "यह फारसी कला का भारतीय प्रतिपादन है"।

वैसे यह मकबरा तो हुमांयु का ही है परन्तु इसे तमूर खानदान का कब्रिस्तान समझना चाहिये; क्योंकि किसी और मकबरे मे इतनी बड़ी संख्या मे मुगलखानदान के लोग दफनाएं नहीं गये जितने इसमें। हुमांयु की कब्र के साथ ही उसकी वफादार बीवी हाजी बेगम की कब्र है। धर्म जाति की संकीर्णता से उपर उठे सच्चे इन्सान के प्रतीक दाराशिकोह की बेसिर की लाश अपने

इन्सानी व धर्मनिरपेक्ष सिर को अपने में पुनः जुड़ने की प्रतीक्षित चिरनिद्रा में मौन पड़ी हुई है। औरंगजेब के लड़के बादशाह मोहम्मद आजमशाह और औरंगजेब के पोते बादशाह जहांदार का कब्रगाह भी यहीं है। फिर उसका बदनसीब जानशीन फरुखसियर भी यहीं दफन है जिसको उसके वज़ीरे आज़म ने जहर खिलाया था। यहीं रफीउद्दीन दरजा और रफीउदौला दफन है जो बादशाह बने भी, मगर तीन तीन महीने बाद तख्त से उतर गये। यहीं पर तालमगीर सानी दफ़न है जो अपने वजीर इमादादुलमुल्क के इशारे से कत्ल किया गया था। इसके अतिरिक्त भी बहुत से शहजादे और शहजादियां इस मकबरे में अपने बुजुर्गों के पास सोए हुए हैं। यह तो बात थी शाही खानदान की। परन्तु बादशाह के मकबरे के दक्षिणपूर्वी दिशा में उनके हज्जाम के मकबरे का होना क्या आज हमारे आधुनिक समाज की ऊंच-नीच, मालिक-नौकर के भेदभाव की प्रवृत्ति पर करारी चोट नहीं हैं? इस मकबरे के अन्दर दो कब्रे हैं जिन पर कुरान की आयतें खुदी हुई हैं। इनमें से एक कब्र पर अंक 999 खुदा हुआ है जो सम्भवतः हिज्री सम्वत 1590-91 के बराबर है।

हुमायुं के मकबरे का ऐतिहासिक महत्व तो है ही किन्तु इसके कालचक्र की घटनाओं के प्रादुर्भाव और इनके तिरोहित होने की श्रृंखला से कुछ ऐसे मानसिक संवेगों का सम्बन्ध है जिनकों यादगारों द्वारा छूने मात्र से ही अन्तः स्थल के कोमल तुन्तु झनझना उठते हैं और हृदय अतीत की गहराइयों में डूब जाता है। इस प्रकार की इमारतें देश की वह सम्पत्ति है जो अपने आंचल में वह दुर्लभ धन छुपाये बैठी हैं जो राष्ट्र की मानधारणाओं का पृष्ट पोषक होता है। भूत की स्मृति रेखाओं से उठते धूएं में प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम की टंकारों से उठती हुई जफ़र के मनोबल व साहस की कहानी आज हुमांयु के मकबरे से प्रतिध्वनित होती हुई प्रतीत होती होगी, तारीके दुनिया को वतन पर मिटने वाले परवानों की कुर्बनियों की दासतां मिलेगी, गुलामी की बेडियों का गला देने वाली ज्वाला मिलेगी, असहायों के करुण क्रन्दन में से भी इन्कलाब की उठती हुई आग मिलेगी और मिलेगा आजादी के लिए सरफिरोशी की तमन्ना का अहसास किन्तु आवश्यकता है केवल इन स्मृति रेखाओं की गहराइयों में खोकर इन भवनों के साथ आत्मिक तादातम्य स्थापित करने की।

मिसिङ जनजाति समाज

—भिक्षु कौण्डिन्य

परिचय :

मिसिङ लोग मुख्य रूप से असम प्रान्त के ब्रह्मपुत्र नदी को केन्द्र कर लखिमपुर, शिवसागर, दरंग और सदिया के नदी उप-नदियों के तटों पर निवास करते हैं। इसके अलावा अरुणाचल प्रदेश के लोहित, सियाङ, तथा सोवानशिरि अंचलों में भी मिसिङ लोग निवास करते हैं।

ऐसे तो असम के अन्य लोग मिसिङ लोगों को "मिरि" कहते हैं। 'मिरि' तिब्बती भाषा का शब्द है —'मि' –मनुष्य, लोग; रि' –पहाड़। 'मिरि' नाम से ये लोग चिढ़ते हैं। ये लोग अपना परिचय 'मिसिङ' या 'मिसिङ-आमि' अथवा 'तानि -आमि' नाम से देते हैं। 'मिसिङ-आमि' का अर्थ है 'मिसिङ जाति के लोग' और 'तानि-आमि' का अर्थ है 'मनुष्य -जाति के लोग' आहोम लोग मिसिङ लोगों को 'खा काढ़लाइ' और खामति लोग इन्हें 'हाड़-खात्' (हुडलंगोट, पूंछ; खात-खोया हुआ ') कहते हैं।

मिसिङ लोग कई भागों में विभक्त हैं, सामुगुरिया, सायिडिया मयिडि या, अयिडिया, दाम्बुकिया, पाग्र, देलु इत्यादि। पहाड़ी मिरि भी इन्हीं के वंशधर है, जो अरुणाचल प्रदेश के सोवानशिरि अंचल में निवास करते हैं। पहाड़ी-मिरि, आदि (आबर मिसिङ ये एक ही वंश के लोग माने जाते हैं। इनकी बोली तथा सामाजिक परम्पराओं में बहुत ही सम्य है। इस लेख में इन्हीं मिसिङ जनजातियों की सामाजिक जीवन और मान्यताओं पर प्रकाश डाला जाएगा।

घर और गांव

मिसिङ लोग नदी-उप-नदियों के तटों पर लकड़ी, बांस, बेंत, फुस आदि से ये लोग अपने निवास के लिए लम्बे-लम्बे दो छाजन का मचान घर बनाते हैं। घर के आगे पीछे दवार होते हैं। साधारणतः लकड़ी के खम्भे और बांस का मचान बनाते हैं मचान जमीन से 5-66 फुट उंचे होते हैं। मचान पर चढ़ने के लिए लकड़ी या बांस की सीढ़ी लगाते हैं। परिवार संख्या के आधार पर घर की लम्बाई होती है। कई एक परिवार एक ही घर में साथ रहते हैं। इसलिए इनके घर 200-250 फुट लम्बे होते हैं। बड़े-बड़े खान दान में 90-100 तक परिवार की संख्या होती है। एक ही घर में खाना, पीना, सोना आदि करते हैं। मिसिङ घर में बैठने के लिए आसन और सोने के लिए खाट नहीं होते हैं। बड़े-बड़े गांवों में तीन सौ, चार सौ तक गृह संख्या होते हैं। एक गांव में एक ही 'खेल' (जाति) के लोग रहते हैं। गांव के स्थानान्तर होने पर भी गांव का नाम पुराना ही रहता है। 'खेल' या जाति के अनुरूप गाव का नामकरण करते हैं। प्रत्येक घर वाले धान रखने के लिए घर के सम्मुख 'कुम्सुङ' (धानागार) बनाते हैं। 'कुम्सुङ' के चारों ओर टट्टरों से घेरते है। यह भी मचान होता है। हमेशा मिसिङ घर के दरवाजे बन्द रखते हैं। स्वयं बन्द होने के ढंग से दरवाजा बनाते हैं। घर के दरवाजों में ताला नहीं लगाते हैं। इनके गांवों में चोरी नहीं होती हैं। गांव के नवयुवक गांव की रखवाली करते हैं।

मिसिङों के मचान घर में ठंडा से रक्षा नही पा सकते हैं। आग प्रज्वलित कर ठंडक से रक्षा पाते हैं। इनके घर के भीतर पैर फिसलने का डर रहता है। इसलिए होशयारी के साथ पग बढ़ाना होता है। चाहे जितना ही लम्बा घर क्यों न हो, फिर भी घर के बीच में कमरे के लिए टट्टर नहीं लगाते हैं। हां-भाई-भाई के लिए घर के बीचों-बीच 'मेराम्' (चूल्हा) होते है। मिसिङ घरों को लीपने या पोतने की आवश्यकता नहीं रहती है। 'मेराम्' का आकार चार फुट लम्बे तख्त को चौखट नुमा बना कर उस में मिट्टी रखकर बनाते हैं। 'मेराम्' के उपर समान रखने के लिए पेराप, राब्बड़, कुम्बाड़ आदि होते हैं। मचान के नीचे दुर्गन्ध, कीचड़ रहता है। इनके पालतू पशु : सूअर, मुर्गी, हंस, गाय, बैल, भैंस आदि मचान के नीचे रहते हैं। थूकने पिशाप करने के लिए बाहर नहीं जाते हैं। बच्चे तो मचान के उपर से ही पाखाना करते हैं। गन्दी चीजों का जमीन पर गिरते ही सुअर हड़प जाते हैं। घर के चारों ओर गन्दा रहता है। कभी गांव की सफाई करने की बात नहीं उठती है। कभी-कभी महामारी फैलने से सारा गांव ध्वंश हो जाता है। जो लोग बचते है, वे किसी दूर स्थान में गांव वसा कर रहते हैं।

कृषि और खानबपान

असम के नदी उप-नदियों को केन्द्र कर निवास करने वाले मिसिङ लोग कृषिजीवि हैं। मिसिङ लोग मुख्य रूप से —धान, सरसों, उड़द, आदि की खेती करते हैं। घर के पास 'कुम्सुङ' (धानागार) को केन्द्र कर उसे बांस के टट्टर या लकड़ी के बाड़ा से घेर कर साग, सब्जी उगाते हैं। आस-पास केले के पौधे भी होते हैं। धान खेत में रखवाली / विश्राम के लिए 'तडि' (मचान) बनाते हैं। खेती के औजार 'तडि' में रखते हैं। 'झुम-खेती' भी करते हैं। ये लोग जमीन को उर्वरा बनाने की कोई विधि नहीं जानते हैं। 'झुम' प्रथा पूर्व भारत की सभी जनजातियों में प्रचलित है। वर्तमान स्थान अभाव के कारण 'झुम' प्रथा समाप्त हो रही है।

लोग सुबह चार बजे से दस बजे तक हल चलाकर धान खेत बोते हैं।

मिसिङ़ लोग पर्याप्त मात्रा में धान की खेती करते हैं। फिर भी अगली फसल तैयार होने से पहले ही अनाज समाप्त हो जाता है। बड़ी परेशानी से कुछ महीने गुजारते हैं। कभी-कभी तो बाढ़ के प्रकोप से खेत नष्ट हो जाता है, जब तक अनाज रहता है, तब तक दावतें उड़ती है। नाना देवी-देवताओं के नाम पर 'आपड़' (चावल से तैयार मद्य) चढ़ाते हैं। इस अवसर पर 'आपड़' बनाकर बहुत मात्रा में पीते और पिलाते हैं। वयोवृद्ध लोग तो प्यास लगने पर भी 'आपड़' ही पीते हैं।

मिसिङ़ समाज में धान खेत बोने का जितना महत्व है, उतना दूसरे के लिए नहीं दिया जाता है। खेत में काम न करने वालों को तुच्छ समझा जाता है। दूसरों का गुलाम होना पसन्द नहीं करते हैं। युवक-युवती, पुरुष-स्त्री, लगातार खेत में कार्य में लगे रहते हैं।

मिसिङ़ लोग मांस-मछली के बड़े शौकिन होते हैं। गांव के स्त्री-पुरुष मिलकर मछली पकड़ने जाते हैं। मिसिङ़ लोग नदी उप-नदियों के तटों पर इसलिए गांव बसाते हैं कि जिससे उन्हें मछली आदि जलसाग आसानी से मिल सके। साधारणत: मछली फंसाने के औजार बांस, बेंत से स्वयं बनाते हैं। ये लोग मृग, बाघ, हाथी आदि का भी शिकार करते हैं। धनुष-बाण, गिदिङ़, जाम्रक आदि इनके प्रमुख हथियार हैं। आजकल तो लोग बन्दूक भी रखते हैं। शिकार के दिन घर या गांव में अपवित्र कर्म नहीं करते हैं। नियमों का उल्लघंन होने पर शिकारी को सफलता नहीं मिलती है। आखेट में प्राप्त जीव-जन्तु/ मृगों को गांव में लाकर 'मुरड़घर' (सामाजिक संस्थान) में काट कर बांटते हैं। प्रमुख शिकारी को मृग-चर्म और सिंग दिया जाता है। पूर्वजों के नामों का उच्चारण कर चढ़ावा देकर 'मुरड घर' में भोज भी लगाते हैं।

मिसिङ़ समाज में कुछ मात्रा में अफ़ीम का भी सेवन करते हैं। अफ़ीम सेवन करने की आदत पूर्व-भारत की प्रायः पहाड़ी जनजातियों में हैं। मिसिङ़ लोग बीड़ी, पान, चाय, मद्य आदि का भी सेवन करते हैं।

वस्त्राभूषण

मिसिङ़ समाज में साधारणत: असमियां वेश-भूषा का भी प्रचलन है। धान खेत के कार्य से छुट्टी पाने पर स्त्रियां स्वयं हाथ-करघे में कपड़े बुनती हैं। युवतियां ब्लाउज, 'एगे' (मेखेला), 'गासर' (चादर) पहनती हैं। गांव की युवतियां विशेषकर सफेद वस्त्र पहनती हैं। नाना रंग-विरंग के 'फुलाम्' 'रवि-गासेड़' बुनने में पारंगता होती हैं। विवाहित स्त्रियां वक्ष से घुटने से नीचे तक 'एगे' पहनती हैं। कटी के नीचे एक लाल-काले रंग की 'केग्रेक' नामक चादर लपेटती हैं। 'केग्रेक' लेपेटने और वक्ष तक 'एगे' पहनने से ही विवाहित और अविवाहित स्त्री की पहचान है। केशविन्यास कर सुन्दरता के लिए सिर पर लकड़ी का कंघा अटकाए रखती हैं।

एंडी पाल कर-तापुम्-गासर (एंडी-चादर) बुनती हैं। कपास की खेती कर सूत तैयार कर 'गादु' (मिरि-जिम) बुनती हैं। यह 'गादु' असम का कीमती ओढ़ना हैं। इनके समाज में बाजार से कपड़े खरीद कर पहनने की प्रथा नहीं थी, किन्तु आजकल इसका खण्डन हो रहा है।

मिसिङ़ पुरुष साधारणत: 'उगन' (धोती जो घुटने तक ही होती है) पहनते हैं। काम के लिए वन/ खेत में जाते समय लकड़ी या बेंत से बनाई हुई 'पानती' (चप्पल) पहनते हैं।

कपड़े बुनने का काम स्त्रियां ही करती हैं, पुरुष इस कार्य से दूर रहते हैं। मिसिङ़ों में लंगोट, 'गविङ़' (पगड़ी), पहने की प्रथा है। वृद्ध पुरुष आज भी कान में 'ताक़पर' पहनते हैं। यह जंगल में प्राप्त होता है। 'दन्ने', 'दक्सिरि', 'मादलि' आदि स्त्रियों के कंठाभूषण हैं। गरीब घर की स्त्रियां कान में 'ताक़पर' पहनती हैं। वृद्ध स्त्री-पुरुषों के दांत काले रंग से रंग कर काला बनाते हैं।

आजकल की युवतियां बाजार के सस्ते दाम के कान के 'रिंग' पसन्द करती हैं। युवतियां नत्थी पहनना भी पसन्द करती हैं। नई पीढ़ी के लोग जातीय पोशाक परिधान छोड़ते जा रहे हैं। कोट-पेन्ट अपना रहे हैं।

विवाह-पद्धति

मिसिङ़ लोग पितृ प्रधान जनजाति हैं। वहिर्विवाह मिसिङ़ समाज में अनिवार्य हैं अर्थात् पुरुष अपने गोत्र के बाहर से पत्नी प्राप्त कर सकता है। सगोत्र से विवाह करने वाले को समाज च्युत किया जाता है, समाज च्युत होना महा अपराध समझा जाता है। मिसिङ़ समाज में बाल विवाह प्रथा नहीं है, किन्तु विधवा विवाह प्रचलित है। बड़े भाई की मृत्यु होने पर भाभी को अपनी सम्पत्ति समझ कर भाभी और भाई के बच्चों को संभालने की प्रथा है। स्त्रियां विधवा होकर मैके जाकर नहीं रहती हैं। ऐसे रहना दुर्भाग्य समझा जाता है इन्हीं कारणों से लड़कियों के मां-बाप बड़े घराने में शादी कराने के इच्छुक होते हैं, क्योंकि उसके पति की मृत्यु के बाद देवर के साथ रह सकें। यदि कोई स्त्री देवर को पति वरण नहीं करना चाहती है, तो उसे समाज विरोधी समझा जाता है।

मिसिङ़ समाज में मामा, फुफु (बाप की बहन) की लड़की से शादी करने का रिवाज है। इनके समाज में निन्यानबे प्रतिशत प्रेम विवाह होते हैं। मिसिङ़ों में चोर विवाह प्रथा ही लोकप्रिय है। लड़की चुराकर लाने पर भी बाद में लड़की के घरवालों को कुछ धन, गाय, बैल, भैंस आदि देकर इस चोरी को कानूनी रूप से 'आलिग' (अंगकर) देते हैं। ऐसा माना जाता है कि लड़की के बदले में 'आलिग' न लिया गया तो उनके सन्तान दीर्घायु के नहीं होते हैं। इसलिए नियम पालन के लिए 'आलिग' अवश्य ही लिया और दिया जाता है। जितने अधिक मात्रा में 'आलिग' लिया जाता है, उतनी ही सन्तान वृद्धि होती है। रात को चुपके से लड़की चुराने की प्रथा को 'याम्ने-रुनाम' कहा जाता है।

मिसिड़ समाज में बहु-विवाह पद्धति भी जीवित है। जिस व्यक्ति के पास स्त्रियां जितनी अधिक होती है, उसे धनी माना जाता है। किन्तु आधुनिक युग में योग्य और बुद्धिमान व्यक्ति सब से बाद में विवाह करना तथा सब से कम बच्चे पैदा करना चाहता है, जब कि बहुपत्नी प्रथा में योग्य व्यक्ति अधिक बच्चे पैदा करने वाली पत्नी पसन्द करता था।

मिसिड़ समाज में लड़की के लिए वर खोजने के लिए घर वाले कभी नहीं जाते हैं। चाहे पुत्री घर में ही वृद्धा क्यों न हो जाये। अधिक उम्र की लड़की से युवक विवाह करना पसन्द नहीं करता है। इनके समाज में लड़की का आजीवन मा-बाप के घर में रहना अधम समझते हैं। इसलिए पन्द्रह से पच्चीस की उम्र के बीच जीवन साथी का चुनाव करते हैं।

युवावस्था प्राप्त करने पर मिसिड़ युवक अपने घर में नहीं सोते हैं, वे प्राय: सोने के लिए मामा/फुफु के घर जाते हैं।, क्योंकि वहां अवसर पर मामा की लड़की से हंसी-मजाक कर पाते हैं। शाम को भोजन के बाद मिसिड़ युवक घर में नहीं रहते हैं। विवाह न होने तक घर में नहीं सोते हैं और सोने की व्यवस्था भी नहीं करते हैं। युवक का शाम के सात बजे के बाद घर में रहने पर सोचना चाहिए कि उसकी शादी हो गई है।

मिसिड़ों में पत्नी पाने के लिए सुसराल की सेवा करने की प्रथा भी है। इस प्रथा को 'माग्ब-दुग्नाम्' कहा जाता है। कुछ साल पूर्व तक 'माग्ब-पाकि' प्रथा भी प्रचलित थी। यदि युवक लड़की से शादी करना चाहता, तो उसे एक सुखी लकड़ी को 'माञ्चिक' (खड्ग) से काटने दिया जाता था। युवक उसे एक ही बार में काटने में सफल रहा तो समझा जाता था और योग्य लड़की के घर दो या तीन साल 'माग्ब-दुग्नाम्' (सुसराल की सेवा) करता था। घर वाले उक्त युवक को योग्य समझते है या नहीं इसकी परीक्षा के लिए युवक एक विशिष्ट पहाड़ी काला नमक से सब्जी पकाकर घर वालों को खिलाता था। यह सब्जी घर के सभी लोगों ने खाई तो युवक ससुर को सेवा प्रदान करता था। यदि किसी ने नही खाई तो युवक समझता था कि सुसराल के लोग उसे पूर्ण रुपेण नहीं चाहते हैं। जब वह सुसराल में सेवा के लिए रहता है, तब उसे नाना प्रकार की बहादुरी का काम कर परिचय देना पड़ता था। धनुष-बाण से बारह, मृग, पशु-पक्षी, मार कर ससुर को दिखाना होता था। इसे 'रालिड-गेलिक कहा जाता है। इन कार्यों में उत्तीर्ण होने पर ही उसे दामाद होने का अवसर मिलता था। बहादुरी का कार्य करने वाले युवक को युवती भी मन से चाहने लगती। एक साथ रहने बैठने से युवक-युवती के बीच स्नेह बढ़ने लगता है।

मृत-संस्कार

मिसिड़ लोग मृतक के शव को दफनाते हैं। साधारणत: पूर्व-पश्चिम दिशा करके कब्र खोदा जाता है। शव का सिर पश्चिम और पैर पूर्व दिशा में की ओर कर समाधि देते हैं। कब्र खोदने का कार्य मृतक के सम्बन्धी लोगों को ही करना होता है। गांव वालों का सामूहिक कब्र गांव से कुछ दूर, जंगल के पास, नदी तट पर किसी निर्धारित स्थान में रहता है।

गांव में किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति के मरने पर मृतक के घर के छत पर चढ़कर बड़ा वाद्य 'लेलाड़-बारबाड़' बजाते हैं। वाद्य की ध्वनि सुनकर लोग एकत्र होते हैं। लोगों के जमा होने पर मृतक को शमशान घाट ले जाते हैं। इस प्रकार वाद्य बजाकर सूचित करने की प्रथा पूर्व भारत की सभी जनजातियों के बीच है।

किसी दूसरे गांव का शव अपने गांव के कब्र में दफनाने नहीं दिया जाता है। दफनाने के बाद कब्र के चारों ओर से बांस आदि का ट्टटर बनाकर उसे सुरक्षित रखा जाता है। असुविधा रही तो ट्टटर भी नहीं बनाते हैं, केवल जंगल से खर-पतवार लाकर कब्र को ढक देते हैं। कहीं कहीं प्रतीक स्वरूप सेमल वृक्ष का पौधा लगाते हैं।

शव को दफनाने के लिए ले जाते समय उसे घर के द्वार से नहीं निकालते। आशय यह है कि दरवाजे से शव को निकालने पर मृत शरीर प्रेत बनकर उसी द्वार से पुन: घर में प्रविष्ट हो सकता है और अन्य लोगों को कष्ट पहुंचा सकता है। इसलिए वे घर की पश्चिम दिशा के 'बारे' (ट्टटर) को तोड़कर वहीं से मृतक को बाहर निकालते हैं और शीघ्र ही उस ट्टटर को बन्द करते हैं। जिससे मृत आत्मा वह रास्ता देख न सकें। इनके घर के दरवाजे तो हर-हमेशा ही बन्द रहते हैं। साधारणत: चार व्यक्ति शव को कन्धे पर उठाए ले जाते हैं। मृतक को ढोने वाले मृतक के वंश के लोग ही होते हैं।

समाधि स्थान को 'आग-गुलुड़' कहते हैं। इसे पवित्र एवं भयावह स्थान समझा जाता है। लोग कभी-कभी इसकी पूजा भी करते हैं। प्राय: लोग सूर्य अस्त के बाद कब्र स्थान में जाना भय करते हैं। विशेष कर स्त्री और बच्चे नहीं जाते हैं। क्योंकि रात को मृतक की आत्मा प्रेत बन कर एक दूसरे की प्रतीक्षा में रहते हैं। किसी को वहां देखने पर वह उसे मृतक का साथी समझ कर गले मिलने आता है।

समाधि स्थान में मृतक के जीवितावस्था की व्यवहारिक वस्तुएं रखने की प्रथा है। विशिष्ट व्यक्ति की मृत्यु पर विशेष नियमों का पालन किया जाता है। समाधि भी सजा कर, सुन्दर ढंग से दस-बारह साल तक नष्ट न होने के लिए बनाते हैं। धार्मिक 'भकत', 'आत्तुला', या वृयोद्धों को गांव के मान्य व्यक्ति ही दफनाते हैं। समाधि देते समय स्त्रियों को वहां जाने नहीं दिया जाता है दूसरे परिवार के व्यक्ति को अपने घर पर मरने नहीं दिया जाता है :यदि घर में कोई ऐसी घटना होने की संभावना हो तो मरने से पूर्व उसे घर से बाहर निकाल कर उसके सम्बन्धी लोगों के घर ले जाते हैं। अन्यथा उसे घर पहुंचाने की व्यवस्था करते हैं।

मृतक के घर जितने पशु-पक्षी हैं, उन्हें पेट भर दाना चारा खिलाते हैं। मिसिड़ लोगों में विश्वास है कि इस प्रकार खिलाने से मृतक को कब्र में भूख नहीं लगती है। मृतक के कब्र में मुर्गे भुनकर रखने की प्रथा भी है। मांस भुनकर रख देने से मृतक की आत्मा भूख लगने पर उसे खाता है।

मृत्यु के बाद आदमी को विपरित समझा जाता है। इसलिए उस के कपड़े आदि उलटे पहना दिए जाते हैं। क्योंकि वह अन्य किसी दूसरे लोक में रहने जा रहा है। यदि वस्त्र उलटे न पहना दिए जाये तो वह प्रेत बनकर गांव वालों को सताता है।

जितने दिन तक शुद्धि कर्म नहीं करते हैं, उतने दिन तक मृतक के घर वाले नियम पूर्वक खाने-पीने की और विशेष ध्यान रखते हैं। दूध-दही, घी, मिर्च, मसाले आदि का सेवम नहीं करते हैं। मांस, मछली, भात, 'अपाड़' (मद्य) खाते पीते हैं। प्राय: दूसरों का दिया हुआ ही खाते हैं। स्वयं पकाते नहीं हैं। किसी खाद्य पदार्थ को खाने से पहले मृतक के नाम कुछ अग्नि देवता को चढ़ाते हैं या तो मचान से जमीन पर देवताओं को स्मरण कर गिराते हैं। तब स्वयं खाते हैं। मृतक के घर का मुख्य व्यवित अपने पास एक 'कातक' (चाकू) रखता है। वह पवित्र मन से रहता है, उसे कोई नही छू सकता है और वह भी दूर रहता है। दूसरे के घर जाना माना है। गांव के लोग पवित्र भाव से उन से मिलने आते हैं। वे अपने साथ कुछ खाद्य पदार्थ ले आते हैं। मुख्य व्यक्ति हर कार्य को उलटे (विपरित) ढंग से करता है। गांव के मित्र-कुटुम्ब आकर शोक गीत गाते हैं। और शोक सभा करते हैं तथा मृतक का गुण गान एवं संस्मरण सुनाते है। शोकाकुल घर को शान्त्वना देते हैं। विशुद्ध खाद्य सामग्री साथ लेकर मृतक के घर आना गांव वाले अपना फर्ज समझते है। दूर-दूर के लोग आकर घर वालों को शान्त्वना देते हैं।

मिसिड़ों को मान्यताओं म ऐसा माना जाता है कि मृतक की आत्मा भारतीय हिन्दुओं के आकाश के काल्पनिक स्वर्ग को नहीं मानते हैं, बल्कि वे पाताल को ही मृतक का स्वर्ग लोक मानते हैं। सत कर्म करने वाले ही पतालपुरी जाते हैं। अन्यथा इस नर लोक में प्रेत बनकर विचरण करते हैं।

'दद्ग्याड़ (श्राद्ध-कर्म) बड़े धूम-धाम के साथ मनाया जाता है। सुअर, मुर्गे, मछली, 'अपाड़', (मद्य), भात आदि पर्याप्त मात्रा में सेवन करते हैं। कर्म काण्ड 'आत्तुला' (मुख्य भक्त)। रामकृष्ण के नामों का उचारण कर गाय के गोबर, मूत्र, तुलसी के पत्ते, तिलहन आदि का जल छिड़क कर घर को शुद्ध करने की प्रथा भी मिसिड़ समाज में है। 'द्दग्याड़' के अवसर पर दूर-दूर से लोगों को निमन्त्रण भेज कर बुलाते हैं। वे अपने साथ सुअर, मुर्गे, 'अपाड़' आदि ले आते हैं। सिर भी मुडन करते हैं। किन्तु चोटी नहीं रखते हैं। सामर्थ्य अनुसार जितने भी साल के बाद हो सके श्राद्ध का कार्य सम्पन्न करते हैं।

श्राद्ध अवसर पर आए अतिथियों को घर की मालकिन 'गिरि' (लोटे) में पानी लेकर सब का पाव धुलाती है। इस प्रकार अतिथियों के पाव धुलाने से उनके स्वर्गीय पितर प्रसन्न रहते हैं और अपनी सन्तान को सम्पन्न रहने का आशींविाद देते हैं। श्राद्ध करने वाला व्यक्ति आजाये हुए अतिथियों को घुटने के बल जमीन पर लेटकर आर्शीवाद मांगते हैं। लोग आर्शीवाद के स्वर में कहते हैं।

''तुम्हारे स्वर्गीय पितृ सीधे मृत लोक चले जाएं। यदि पाप से कही रास्ते में लोक उलझे हों तो तुम्हारे किए हुए 'द्दग्याड़' (श्राद्ध) के पुण्य फल से मुक्ति पा जाएं। तुम और तुम्हारी सन्तान प्रसनता से रह सके।

'दद्ग्याड़' समाप्त कर खा-पी लेने के बाद युवक-युवतियां का नृत्य होता हैं। इस अवसर पर 'ऐनितम' (विरह-गीत), 'लेके-नितम्' (पौराणिक विरह गीत) गा-गा कर नाचते हैं।

संस्कृतीकरण—एक भ्रामक विचारधारा

—डा० श्यामसिंह शशि

पिछले दशक में संस्कृतीकरण (संस्क्रिटाइजेशन) के संबंध में कतिपय समाज-वैज्ञानिकों ने अपनी-अपनी मान्यताओं की स्थापना के लिए भिन्न-भिन्न तर्क प्रस्तुत किए हैं। कुछ 'ब्राह्मणीकरण' (ब्राहमनाइजेशन) की बात करते हैं, तो कुछ वैद्ध संस्कृतीकरण की संकल्पना को विकसित करने का। सबसे ज्यादा श्रेय दिल्ली विश्वविद्यालय के समाजविज्ञान विभाग के अध्यक्ष डा० एम० एन० श्रीनिवास को है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'रिलीजन एण्ड सोसायटी अमंग दी कुर्गस आफ साउथ इण्डिया' (आक्सफोर्ड—1952... पृष्ठ 20) में इस शब्द के महत्व पर बहुत जोर दिया है।

उन्हीं के शब्दों में :

"संस्कृतीकरण निःसन्देह एक अशिष्ट शब्द है किन्तु इसे कई कारणों से ब्राह्मणीकरण की अपेक्षा अधिक अच्छा समझा गया। यद्यपि ब्राह्मणीकरण, संस्कृतीकरण का ही एक अंग है फिर भी दोनों में मूलभूत अंतर है। उदाहरणार्थ—वैदिक युग के ब्राह्मण (सोम) मद्य-पान करते थे, मांस खाते थे तथा रक्त-बलि चढ़ाते थे किन्तु वैदिक युग के बाद दोनों ही प्रथाएं बन्द हो गईं। कहा जाता है जैन और बुद्ध धर्म के प्रभाव से उक्त प्रथाएं बन्द हो सकीं। आज अधिकतर ब्राह्मण शाकाहारी हैं। संक्षेप में, भारत में बसने के बाद ब्राह्मणों की प्रथाएं एवं आदतें बदलती गईं।

यह कहना कि केवल ब्राह्मण ही संस्कृतीकरण के वाहक रहे हैं कदाचित सत्य नहीं है। ब्राह्मणों ने अन्य जातियों के रीति-रिवाजों तथा आदतों को भी अपनाया था। सांस्कृतिक-मिश्रण का यह आदान-प्रदान शताब्दियों तक चलता रहा। कुछ रीतियां ब्राह्मणों ने वैश्यों या क्षत्रियों को दीं तो कुछ क्षत्रियों और वैश्यों ने उनसे प्राप्त कीं। शूद्रों ने देखा-देखी अनेक रीति-रिवाज ब्राह्मणों या अन्य जातियों से अपनाए। लेकिन इसका आशय यह नहीं है कि ब्राह्मणों ने गैर-ब्राह्मणों या वैश्यों या शूद्रों से कुछ नहीं लिया। पहले हल चलाना ब्राह्मण अपनी मर्यादा के अनुकूल नहीं समझते थे, जब कि क्षत्रियों एवं शूद्रों का यह पुश्तैनी पेशा था। लेकिन समय के साथ-साथ ब्राह्मणों की यह मर्यादा टूटती गई और वे स्वयं कृषक बन गए। आज तो स्थिति यहां तक पहुंच गई कि 'शर्मा बूट हाउस', 'वर्मा आयरन स्टोर' तथा 'गुप्ता मटन शाप', चला कर न केवल शूद्रों की तथाकथित संस्कृति को ही अपनाया गया, अपितु उनके पेशों को भी दैनिक जीवन का एक अभिन्न अंग मान लिया गया।

एक समय ऐसा आया जबकि दक्षिण भारत में लुहार जाति ने ब्राह्मणों का अनुकरण कर जनेऊ पहनना शुरू कर दिया। उन्होंने ब्राह्मणों के कुछ अन्य रीति-रिवाज भी अपनाए तथा स्वयं को विश्वकर्मा ब्राह्मण कहने लगे। किन्तु इसका परिणाम बिल्कुल विपरीत देखने में आया। अन्य सभी जातियां—यहां तक किहोलिया शूद्र भी—उनका स्पर्श किया हुआ पानी वैज्ञानिकों के लिए अभी तक अज्ञात बना हुआ है। संभवतः यह सामूहिक सामाजिक बहिष्कार की अनुक्रिया थी। किन्तु यह देखकर आश्चर्य होता है कि उत्तर भारत में जो बढ़ई, धी मान ब्राह्मण कहलाने लगे तथा जनेऊ पहनने लगे, उनका इस प्रकार कोई सामूहिक बहिष्कार नहीं किया गया, हालांकि उनकी सामाजिक हैसियत में कोई खास अन्तर नहीं आ सका।

ऊंची जातियां प्रस्थिति (स्टेट्स) की दृष्टि से उच्च होने के कारण अधिक सुसंस्कृत समझी जाती हैं, अतः छोटी जातियों का संस्कृतीकरण अधिक होता है और उच्च संस्कृति का अनुकरण किया जाता है। यह मान्यता डा० श्रीनिवास ने जातीयता के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए प्रकट की है। वस्तुतः ऐसा लगता है कि यह व्यवस्था जीवन के शाश्वत मूल्यों से हटकर की गई है। इसमें हमें कुछ पूर्वग्रह-अभिवृत्तियों की झलक दिखाई पड़ती है तथा निम्नलिखित शंकाएं स्वतः उत्पन्न होती हैं।

1. क्या पिछड़ी जातियों की अपनी कोई संस्कृति नहीं होती ?
2. नृविज्ञानियों ने ट्राइबल कल्चर शब्द को क्यों जन्म दिया ?
3. क्या उच्च और निम्न संस्कृति के बीच कोई स्पष्ट रेखा खींची जा सकती है ?
4. क्या यह उत्संस्करण (उकल्चरेशन) या सांस्कृतिक-मिश्रण से भिन्न कोई अन्य सामाजिक किया है ?
5. क्या पाश्चात्यकरण में तथाकथित पिछड़ी संस्कृति के अनेक तत्व मौजूद हैं ?

पहली शंका पर जब हम विचार करते हैं तो हमारी दृष्टि विधवा-विवाह पर जाती है। पहले ब्राह्मणों में लड़की की शादी किशोरावस्था में या उससे पूर्व ही हो जाती थी तथा बाल विधवा के लिए अच्छे वस्त्र एवं आभूषण पहनना पाप समझा जाता था। उसके लिए पुनर्विवाह वर्जित था। कहीं-कहीं उसे अपने सिर के बाल भी उस्तरे से उतरवाने पड़ते थे। इसके विपरीत निम्न जातियों में विधवा विवाह प्रचलित था। विधवा को न तो बाल ही उतरवाने पड़ते थे और न ही ब्राह्मण-विधवा की भांति कठिन जीवन बिताना पड़ता था। उसी प्रकार सती प्रथा जसी विचित्र प्रथाएं अधिकतर उच्च जातियों में विद्यमान थीं। प्रसिद्ध समाज सुधारक राजा राममोहन राय ने जब यह अमानवीय कृत्य देखा तो उनका सामाजिक हृदय द्रवित हो उठा और उन्होंने इस प्रकार के रीति-रिवाजों पर कानून द्वारा रोक लगाई। निःसन्देह, निम्न जातियों की संस्कृति को अपनाने का यह एक ज्वलंत उदाहरण था।

यहां ऐसा ही एक अन्य उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा। द्वितीय विश्व युद्ध तक ब्राह्मण शारीरिक कार्यों से कतराते थे किन्तु आर्थिक मन्दी एवं बेरोजगारी के कारण सेना में भरती होने लगे तथा न केवल देश के अन्य भागों अपितु विदेशों में भी जाने लगे। इस प्रकार जब उनके खान-पान एवं रहन-सहन के तरीकों में परिवर्तन होने लगा तो पुरातनतावादी ब्राह्मणों ने इसका विरोध किया किन्तु जैसे-जैसे शिक्षा बढ़ती गई वैसे-वैसे ब्राह्मण अन्य जातियों के पेशे अपनाते गए। बहुत से ब्राह्मण न केवल कृषि-कार्य करने लगे बल्कि मुर्गी पालन और अन्य निम्न समझे जाने वाले कार्य भी करने लगे।

इसी प्रकार निम्न जातियों म प्रचलित अनेक संस्थाएं (इंस्टीट्यूशन्स) काफी उदार होने के कारण आधुनिक संस्कृति के अधिक अनुकूल जान पड़ती है तथा तर्क पर भी खरी उतरती हैं।

सुप्रसिद्ध नृवैज्ञानिक वारियर एलविन ने लिखा है:

"मेरे जीवन के अधिकांश आवश्यक मूल्य आदिवासियों के सम्पर्क के कारण विकसित हुए हैं। उन लोगों ने मुझे जितना प्रभावित किया है मैं शायद उन्हें उतना नहीं कर पाया। उन्होंने मुझे प्रसन्नता की महत्ता एवं सादगी के महत्व की शिक्षा दी। उनके अकृत्रिम सौन्दर्य, स्पष्ट कथन तथा सरल जीवन से मैं अत्यधिक प्रभावित हुआ हूं।"

जनजातीय संस्कृति (ट्राइबल कल्चर) की चर्चा अनेक नृविज्ञानियों ने की है। वस्तुतः इस प्रकार की संस्कृति को हीन कहना न केवल उन सीधे-सादे, प्राकृतिक जीवन व्यतीत करने वाले आदिवासियों का अपमान करना है, प्रत्युत समूची मानवता का तिरस्कार करना है। काश! उनको अजायबघर की संस्कृति में खो जाने वाले सजीव मंडल न समझा गया होता, तो कल्याण-योजनाओं के सफलीभूत होने में इतना समय न लगता।

उपर्युक्त उदाहरणों से कुछ नए आयाम सामने आते हैं। वास्तव में जिस संस्कृति को हम कभी निम्न कहते थे वह आज उच्च हो गई है और जिसे उच्च जातियों ने अपनाया हुआ था वह त्याज्य समझी जाने लगी है। स्वयं कानून द्वारा संस्कृति के तथाकथित विभिन्न मूल्यों पर प्रतिबन्ध लगाए गए हैं। उत्तर भारत में प्रायः सभी हिन्दू जातियों में मामा-भांजी का संबंध पिता-पुत्री जैसा पवित्र समझा जाता है किन्तु दक्षिण भारत में चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र—सभी वर्णों में मामा-भांजी के विवाह को बहुत अच्छा समझा जाता हैं। अब यदि दक्षिण भारतीय संस्कृति को उत्तर भारत वाले हेय समझें और दक्षिण वाले उत्तर-भारतीयों की परंपराओं पर वज्र-प्रहार करें तो इससे राष्ट्रीय विघटन की समस्या ही उत्पन्न होगी। हम नहीं समझते कौन-सी ऐसी विभाज्य रेखा है जो संस्कृति की उच्चता एवं निम्नता को पृथक-पृथक दिखा सकती है।

प्रसिद्ध अमरीकी समाजशास्त्रियों आगवर्न तथा निम्कोफ के अनुसार जिस तरह विजेता जाति की संस्कृति पराजित जाति की संस्कृति को प्रभावित करती है उसी तरह पराजित जाति के भी अनेक लक्षण उसमें स्वतः आ जाते हैं। यही आदान-प्रदान संस्कृति सम्मिश्रण कहलाता है जो समाज को मिली-जुली नवीन संस्कृति प्रदान करता है। समनर संस्कृति को 'मानव व्यवहार का महायोग' कहता है। संस्कृतीकरण की अपेक्षा तो उत्संस्करण शब्द अधिक यथार्थ लगता है।

नृविज्ञानी हरकोविट्स के अनुसार—

"उत्संस्करण में उन सभी घटनाओं का समावेश होता है जो विभिन्न समूहों के अनवरत सम्पर्क तथा एक या दूसरे समूह के सांस्कृतिक प्रतिमानों में परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं।"

वास्तव में उत्संस्करण की क्रिया सदैव चलती रहती है। विभिन्न समूह युद्ध, व्यापार, यात्रा अथवा अन्य कारणों से परस्पर मिलते रहते हैं, अन्ततः सांस्कृति लक्षणों को प्रभावित करती हैं और इस प्रकार संस्कृतियों के मूल्य बदलने लगते हैं। विजित या विजेता, व्यापारी या ग्राहक, अतिथि या मेहमानवाज दोनों ही एक दूसरे की संस्कृति के कुछ प्रतिमान ग्रहण करते हैं तथा बदले में कुछ देते हैं।

अन्तिम शंका पर विचार करने से पूर्व 'पाश्चात्यीकरण' पर कुछ प्रकाश डालना उपयुक्त लगता है क्योंकि इसे बिना आधुनिक भारत के सामाजिक जीवन का पूरा विश्लेषण करना संभव नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजों ने जब भारत में दास-प्रथा, मानव बलि, सती प्रथा तथा कन्या शिशु-हत्या की अमानवीय संस्थाएं (इंस्टीट्यूशन्स) देखीं तो उन्होंने इन्हें समाप्त करने में पूरा जोर लगाया। ब्रह्म समाज, आर्य समाज तथा गांधीजी के आन्दोलनों ने इस प्रकार की अनेक प्रथाओं का अन्त करने में योगदान दिया। लेकिन अंग्रेजों ने न केवल इन प्रयासों को ही समाप्त किया बल्कि मेकाले योजना के अन्तर्गत यहां की भावी, चिन्तन क्रिया, वेश-भूषा एवं व्यवसायों में भी आमूल-चूल परिवर्तन किए। यज्ञोपवीत पहनना जहां द्विजों में अनिवार्य समझा जाता था वहां अंग्रेजी शिक्षा ने ब्राह्मणों तक से जनेऊ उतरवा दिए। आश्चर्य है जिस चोटी को उतरवाने के लिए औरंगजेब ने इतना खून-खच्चर किया, वह कर्जन फैशन की संस्कृति के समक्ष बिना कुछ विरोध किए स्वयं ही उतर गई।

पिछले डेढ़ सौ वर्षों में हिन्दुओं के सामाजिक जीवन में कर्म-निरपेक्षता ने कई महत्वपूर्ण भूमिकाएं अदा कीं। विशेष रूप से ब्राह्मणों के कर्मकांड को इससे भारी धक्का लगा। आज ब्राह्मण पश्चिम की नकल कर रहे हैं जबकि निम्न जातियों ने ब्राह्मणों के अनेक कर्मकांड अपना लिए हैं। लेकिन कतिपय समाज वैज्ञानिकों की यह बात समझ में नहीं आती कि पाश्चात्यीकरण के लिए संस्कृतीकरण एक प्रारम्भिक क्रिया है क्योंकि एक ओर जहां ब्राह्मणों ने पाश्चात्य संस्कृति को अंगीकार किया है वहां गैर ब्राह्मणों, अनुसूचित एवं आदिम जातियों ने भी अंग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप तथाकथित संस्कृतीकरण के बिना ही सीधे पाश्चात्यीकरण स्वीकार कर लिया है। नागालैंड का आदिवासी हिन्दू जातियों की संस्कृति के लक्षणों से अछूता रहता है तथा ईसाई धर्म से प्रभावित होकर पाश्चात्य संस्कृति के प्रतिमानों को अपना लेता है। उसके लिए संस्कृतीकरण का कोई अर्थ नहीं रखता। यह उल्लेखनीय है कि न केवल नागा आदिम जाति बल्कि भारत के अनेक पिछड़े एवं गैर-ब्राह्मण समाज सीधे पाश्चात्य संस्कृति को अंगीकार करते जा रहे हैं।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि पाश्चात्य संस्कृति में आखिर ऐसा क्या आकर्षण है जिसे भारत की तथाकथित असंस्कृत (?) से लेकर सुसंस्कृत समझने में गौरव अनुभव करती हैं। हम देखते हैं कि पश्चिमी संस्कृति में श्रम, मांस-भक्षण, सुरा-पान, स्त्रियों के समान अधिकार, विधवा-विवाह, पेशों की स्वतंत्रता आदि-आदि। अतः यदि इस प्रकार की संस्कृति उच्च मानी जा सकती है तो ब्राह्मणोतर संस्कृति उच्च क्यों नहीं? दरअसल प्रश्न यह नहीं कि कौन-सी संस्कृति ऊंची है अथवा नीची है बल्कि यह है कि जिसको हम उच्च संस्कृति समझते हैं, वही दूसरों के लिए निम्न संस्कृति बन जाती है।

भारत में ऐसे अनेक गांव मिल जाएंगे जहां बड़ी जातियों ने छोटी जातियों के रीति-रिवाजों को ही नहीं अपनाया बल्कि उनके पेशों तक को अपनी उदरपूर्ति का साधन बनाया। जिन गांवों में जो लोग पुरोहित का कार्य करते थे उनकी आर्थिक दशा बिगड़ती गई तो उनमें से अनेक कृषि कार्य करने लगे। इस प्रकार उन्हें गैर-ब्राह्मणों के अनुसार जीवन-यापन करना पड़ा और उनके अनेक आवश्यक कर्म-कांड स्वयं छूट गए। अतः जिस गांव में जिस जाति की आर्थिक दशा उन्नत थी वहां प्रायः उसी का अनुकरण करना अच्छा समझा जाता था, भले ही वह उच्च जाति हो या कोई पिछड़ी जाति।

कुछ समाजशास्त्री संस्कृतीकरण को एक पक्षीय क्रिया कहते हैं तो कुछ उभयपक्षीय। लेकिन उपर्युक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य म हम इसे न केवल एक पक्षीय मान सकते हैं और न ही उभय पक्षीय। वस्तुतः यह तो बहु पक्षीय क्रिया है जो स्वतः चलती रहती है। अंग्रेजी में निर्मित 'सांस्क्रटाइजेशन'—'भाषा में संस्कृत शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग करना।' अतः अच्छा होगा यदि समाज शास्त्री इसे 'संस्क्रिटाइजेशन' की अपेक्षा 'अकल्चरेशन' या 'सांस्कृतिक-मिश्रण' आदि संज्ञाओं से संबंधित करें। वस्तुतः संस्कृतीकरण की अपेक्षा पश्चिम के अन्धानुकरण की समस्या पर भारत के समाज वैज्ञानिक ध्यान देंगे तो अधिक हितकर होगा। हम किसी भी संस्कृति का अनुकरण करें किन्तु उसमें मानवता और विश्व-प्रेम का द्वार बन्द नहीं होना चाहिए। पूर्वग्रहों से अलग हटकर जब भारतीय समाजशास्त्री इस ओर ध्यान देंगे तो उन्हें सभी संस्कृतियों में अनेक उत्कृष्ट लक्षण दिखाई देंगे तथा स्वयं उसके अपने समाज में कई उत्कृष्ट समझे जाने वाले प्रतिमान निम्नतम लगने लगेंगे और तब उनकी प्राव-कल्पना 'सुसंस्कृतीकरण' की समस्या पर नहीं बल्कि पाश्चात्यीकरण उत्संस्करण अथवा 'सांस्कृतिक मिश्रण' पर ही केन्द्रीभूत हो सकेगी।

'दाम्पत्य के दायरे'

'दाम्पत्य के दायरे', श्रीमती कमला सिंघवी की दूसरी पुस्तक है जो प्रकाशन में आई है, प्रस्तुत है उनकी पुस्तक की लघु समीक्षा :

आज के युग में परिवार का आधार समानता है। इस समानता की आड़ में, जरा सी असावधानी से जो दाम्पत्य अभी तक सौंदर्य और सुगन्धों से भरपूर था उसका महल टूटन और विघटन के भूकम्प से ढहने लगता है जिसे खण्डहर होने में पल भी नहीं लगते। प्रश्न उठता है ऐसा क्यों होता है? प्रेम समाप्त क्यों हो जाता है? सच पूछिए तो प्रेम जैसी वस्तु दुनिया में होती ही नहीं। ये तो मन का उल्लास और मानसिक तृप्ति की अनुभूति ही है जिसे हम प्रेम कहते हैं। इसे बनाए रखने के लिए दाम्पत्य में पारस्परिक सौहार्द-पूर्ण अंतरंगता एवं निष्ठा की आवश्यकता पड़ती है। लेखिका ने अपने कुछ निबंधों में इसी निष्ठा का विस्तार से बहुत ही रोचक वर्णन किया है। इन्होंने पति-पत्नी को अविभक्त आत्मा के रूप में माना है जहां दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं। कोई न तनिक सा कम, न ज्यादा। वे कहती हैं "विवाह एक निर्धारित दायरे में मनुष्य के प्रेम-सूत्रों को प्रत्यक्ष और प्राणवान बनाता है, पारस्परिक दायित्वों और तुष्टियों के ताने-बाने में दुख:-सुख बांटने को, एक दूसरे के लिए कष्ट झेलने और उत्सर्ग करने की भावनाओं को संस्कार और परम्परा का जामा पहनाता है।" "दाम्पत्य को भी मित्रता की बेल की भांति परस्पर सहयोग और सद्भावना से सींचते रहना पड़ता है, जिसमें उन्होंने रोमान्स को सर्वोपरि स्थान दिया है। वे कहती हैं रोमान्स में सेक्स हो सकता है क्योंकि सेक्स को आज बिल्कुल स्वाभाविक रूप में ग्रहण किया जाता है। परन्तु केवल सेक्स ही रोमान्स नहीं है। दाम्पत्य का रोमान्स वह प्रेमपूर्ण स्पंदन है, जो पति-पत्नी—एक-दूसरे की उपस्थिति में और अनुपस्थिति में भी याद रखते हैं, उससे तृप्त होते हैं।

शिष्टाचार को भी दाम्पत्य में उन्होंने एक महत्वपूर्ण स्थान दिया है। पति-पत्नी का एक-दूसरे के प्रति शालीन व्यवहार उतना ही आवश्यक है जितना उनका प्रेम। पति उसे मात्र गृह-संचालिका न मानकर सहचरी मानें, पत्नी की आंखों में कटुता और संदेह की जगह प्यार और श्रद्धा हो। इसे वे "टू वे ट्रैफिक मार्ग" कहती हैं। एक ओर के मार्ग में भी जरा सी रुकावट आई तो सफल दाम्पत्य जीवन के आदर्श सुखद सपने खण्डित हुए बिना नहीं रहते। पुराने मूल्य टूट ही रहे हैं इस कारण नयों को स्वीकारने में ही चतुराई है। ऐसा उन्होंने प्रत्यक्ष प्रमाणित किया है। पर इस प्रमाण में व्यवहारिक तथ्यों का संयोजन एक शिल्पी की भांति इस प्रकार किया है कि कहीं भी उपदेशात्मक वातावरण नहीं बनता।

शालीन वेष-भूषा, सौन्दर्य का रख-रखाव, रंगों का चुनाव, इत्र का प्रयोग, बातचीत की कला, मित्र बनाना, मीठा बोलना, संकटों से बचाव, कुण्ठा की रोकथाम, मंहगाई की समस्या, कम खर्ची, लोकप्रियता, दूसरों को सुविधा, अच्छी पड़ोसिन, मेहमान व मेजबान, गृहिणी को बोरियत, महिलाओं की शौकिया नौकरी, पति की सफलता तथा शापिंग आदि विषयों पर अमूल्य सुझाव देकर विदुषी लेखिका ने गृहस्थी के महल की नींव को बहुत ठोस बना दिया है, जिसमें सुख, श्री एवं शान्ति के आवास की व्यवस्था है।

हमारे यहां कन्याओं को विवाह से पहले शिक्षाप्रद ग्रन्थ पढ़ने के लिए कहा जाता है जिससे उनका व्यावहारिक ज्ञान बढ़े। आज के युग में 'दाम्पत्य के दायरे' जैसी पुस्तक 'गागर सागर,' की उक्ति को चरितार्थ करती है। यद्यपि पुस्तक के अधिकतर लेख महिलापयोगी हैं पर उनकी नारी कहीं पर भी देवी के रूप में दिखाई नहीं देती। वह हाड़-मांस की, गुण-दोषों से भरपूर मानवी मात्र है। लेखिका ने उसे सामान्य इंसान के रूप में उभारा है। कमला जी ने अपनी इस कृति से जन-हित का जो प्रयास किया है इसके लिए समाज इनका आभारी रहेगा। वास्तव में वे स्वयं भी सहज पारिवारिकता से युक्त, भावना-प्रवण, कुशल, सजग एवं प्रबंध-पटु हैं। इन सभी निबंधों से जहां उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा उभरती है वहीं उनके हृदय की वंशी भी सहज ही सुनाई पड़ जाती है। भाषा के लालित्य के विषय में क्या कहूं प्रवाहमयी साहित्यिक भाषा होते हुए भी सरल तथा मन को छूने वाली है। शब्दों का चयन कहीं-कहीं पर क्लिष्ट होते हुए भी सामान्य है।

मुझे आशा है उनकी इन दोनों पुस्तकों से एवं आगामी अनेक पुस्तकों से भारतीय साहित्य की उपलब्धियों को नई गरिमा प्राप्त होगी।

—मीना अग्रवाल

जयन्ती (काव्य-संकलन)
प्रणेता—श्री प्रबोध नारायण सिंह
प्रकाशन—विद्यापति संस्थान, केशवचन्द्र सेन स्ट्रीट
पृ० संख्या : चालीस : मूल्य : दो रुपया मात्र

जयन्ती श्री प्रबोध नारायण सिंह की पन्द्रह कविताओं का एक सुन्दर, संश्लिष्ट स्तवक है। ये कविताएं सांस्कृतिक चेतना की पीठिका पर आधृत हैं। इन कविताओं के माध्यम से कवि ने जहां एक ओर जन-मनस में राष्ट्रीय चेतना को संचारित करने का प्रयास किया है, वहां दूसरी ओर सांस्कृतिक मूल्यों को कुरेदने का उपक्रम भी किया है। इन कविताओं में मानवता की जय-गाथा का उद्घोष है। श्री प्रबोध नारायण सिंह का समीक्ष्य काव्य युग-विवर्तन की चेतना का उद्गीथ है, जिसमें मानवीय अन्तश्चेतना की सफल अभिव्यक्ति की गई है।

समीक्ष्य संकलन की पहली कविता 'जयन्ती' के बिल्कुल प्रारंभ में कवि ने मानव और दानव की पहचान को परिभाषित करते हुए लिखा है।:

विज्ञानवान मानव
मानव हो जाय
तो देवता कहलाता है।
किन्तु यदि दानव हो
तो वसुधा पर
प्रलय को खींच लाता है।

कवि चूंकि मूल्यवादी है। अतएव सामाजिक प्रतिमानों के प्रति उसमें एक प्रकार की सहज आस्था दिखाई पड़ती है। यही कारण है कि आज की फैशनपरस्ती से अलग हटकर वह अनास्था, आक्रोश, संमास और कुंठा को नकार कर आस्था और जिजीविषा की अभिध्येयात्मक उद्घोषणा करता है। कवि अपनी स्पष्ट मान्यता व्यक्त करते हुए कहता है :

विकृत नेत्र और विकृत विचारवाले
अच्छिष्टजीवी ही देखते हैं
निराशा, आक्रोश का संमासा
नैसर्गिक वृत्ति
मुकूपी नहीं, जिजीविषा है।
किसी गन्दी नाली में
या चुल्लू भर पानी में
डूबकर आत्मघात करने वालों
अपने मेरुदण्ड के लोप की
कल्पना करने वालों,
हशीश और भंग के उपासकों,
वसुन्धरा के उदीयमान नौनिहालों,
याद रखो,
जीवन उत्कर्ष में है,
विवेक विमर्श में है
यौवन संघर्ष में है!
अतएव परामर्श के लहजे में वह कहता है :
'मननशील ऋषि संतानो,
उठो, जागो,
असि-धार पर भी चलकर
वरणीय को प्राप्त करो!
कुण्ठा समाप्त करो!

'जयन्ती' का कवि सांस्कृतिक चेतना से सम्पन्न और मूल्यवादी है। अतएव वह निर्माण का पक्षधर है। जीवन के प्रति उसमें घोर आस्था और महत् विश्वास है। कवि का मानस-क्षितिज विशाल है। उनकी यह विशालता उनके काव्य को व्यापक आयाम प्रदान करती है। प्रमाण के लिए उनकी ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं :

'जीवन?
'जीवन?
यह प्रगति की प्रक्रिया है,
विश्व-चेतना में
व्यष्टि का विलय
वा बूंद की वारिधिता है।
यह नटराज के माहाताण्डव का
एक अद्भुत सम है,
लासिका की शिंजिनी की
मादक झंकृति है,
श्रेय और प्रेय के कगारों के मध्य
सत् और चित् की ऊर्मियों से पुलकित
बहती हुई वेगवती
अजस्र ऊर्जा की धारा है।'

संग्रह की कुछेक कविताएं व्यंगात्मक होने के कारण अत्यंत अर्थात्मक और शसक्त बन गई हैं। 'उपदेश : 'तक्षक के वंश 'दीप', 'आत्म-विश्लेषण' और 'सूत उवाच' कविताएं मेरे इस कथन को बखूबी प्रमाणित करती हैं। इन कविताओं का व्यंगार्थ अत्यन्त तीव्र और गहरा है। अभिव्यक्ति, शिल्प और भाषा सौष्ठव के कारण श्री सिंह की ये कविताएं अत्यंत पुरस्कार प्रतीत होतीं हैं। सांस्कृतिक चेतना और मानव-मूल्यों के सहज सामंजस्य से समीक्ष्य संग्रह की कविताएं अत्यंत उदात्त और प्रभावोत्पादक सिद्ध होती हैं। कुल मिलाकर, ये कविताएं आज के कुंठित और दिग्भ्रमित मनुष्य को नया आलोक और ज्ञान-विज्ञान प्रदान करती हैं।

डा० नन्द कुमार राय

लेखक परिचय

1. मीना अग्रवाल,
   डी०-259, डिफेन्स कालोनी,
   नई दिल्ली।

2. डा० महेन्द्र मानावत,
   भारतीय लोककला मण्डल,
   उदयपुर (राज०)।

3. डा० नवरत्न कपूर,
   जीवन संत कुटीर,
   1697, मुहल्ला दीवान मूलचन्द,
   (समीप आर्य समाज)
   पटियाला।

4. मीनू मेहरोत्रा,
   द्वारा—डा० शिवनन्दन कपूर,
   387, टयाल चाल,
   खण्डवा (म० प्र०)।

5. डा० शीतांशु भारद्वाज,
   एफ० 50 (निकट एन० सी० सी०),
   विद्या विहार,
   पिलानी (राज०)।

6. मनोहर लाल,
   बी०–71, अशोक विहार,
   दिल्ली-110052।

7. डा० शरद कोठारी,
   209 (48) जे० सी० बोस रोड,
   कलकत्ता-17।

8. भूरचंद जैन,
   जूनी चौकी का वास,
   बाड़मेर (राजस्थान)।

9. शम्सुद्दीन,
   7/150, बैजनाथ पारा,
   रायपुर (म० प्र०)।

10. नरेन्द्र कुमार सोन्धी,
    मकान नं० 1/1073, ए2,
    डा० कसाने वाली गली,
    महरौली, नई दिल्ली-110030।

11. भिक्षु कौण्डिन्य,
    2, गयार हाल,
    दिल्ली विश्वविद्यालय,
    दिल्ली-110007।

12. डा० श्यामसिंह शशि,
    उप-निदेशक,
    प्रकाशन विभाग,
    सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय,
    नई दिल्ली।

13. डा० नन्द कुमार राय,
    ई 6/10, मालवीय नगर,
    नई दिल्ली-110017।

सदस्यता फार्म

विशेषाधिकारी (हिन्दी प्रकाशन)
शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय
शिक्षा विभाग ,
सी०-102, शास्त्री भवन,
नई दिल्ली।

महोदय,

मैं श्री/श्रीमती/कुमारी .... वर्ष............ के लिए संस्कृति का वार्षिक ग्राहक बनना चाहता /चाहती हूं। वार्षिक चन्दा (चार रुपए) मनीआर्डर द्वारा भेजा जा रहा है। नकद दिया जा रहा है। मेरा पता निम्नलिखित है।

नाम तथा पता

एक प्रति का --एक रुपया ....

वार्षिक --चार रुपए ....

दिनांक ....

टिप्पणी :--यदि आप 'संस्कृति' पत्रिका के ग्राहक हैं और आपने अपना चन्दा नहीं भेजा है तो कृपया जल्द से जल्द चन्दा भेजने की कृपा करें।

मन्त्रालय की अन्य हिन्दी पत्रिका।

शिक्षा विवेचन

●यह पत्रिका प्रत्येक वर्ष जनवरी, अप्रैल जुलाई और अक्तूबर में त्रैमासिक रूप में छापी जाती है।

●इस पत्रिका में, इस मन्त्रालय की अंग्रेजी की पत्रिका 'दि एजूकेशन क्वार्टरली' में छपे लेखों का हिन्दी अनुवाद छापा जाता है। इसमें शिक्षा सम्बन्धी विचारों, समस्याओं और सामाजिक विषयों की व्यवस्था होती है। पत्रिका में शैक्षिक रुचि के महत्वपूर्ण प्रश्नों और भारत तथा विदेशों में हो रही शैक्षिक और युवा कल्याण की गतिविधियों और प्रयोगों की जान-कारी देने का प्रयास किया जाता है। लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के अपने होते हैं और यह आवश्यक नहीं कि वे सरकार के विचारों और दृष्टिकोण के अनुरूप हों।

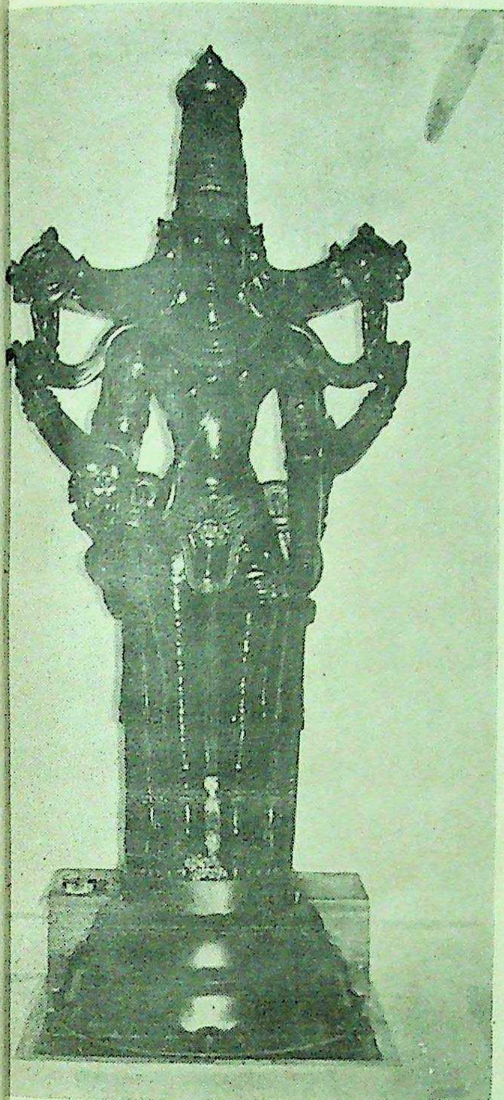
●इस पत्रिका की बिक्री के संबंध में पूछ-ताछ और वार्षिक चन्दा व मनीआर्डर आदि प्रकाशन प्रबंधक, भारत सरकार सिविल लाइन्स, दिल्ली-54 को भेजा जाना चाहिए। इसके लिए विशेषाधिकारी (हिन्दी प्रकाशन), शिक्षा मंत्रालय, 102-सी, शास्त्री भवन, नई दिल्ली को भी लिखा जा सकता है।

●विज्ञापनों आदि के बारे में जानकारी, विज्ञापन एजेन्ट, 5ए, 10 अन्सारी रोड़, दरियागंज, दिल्ली से मिल सकती है।

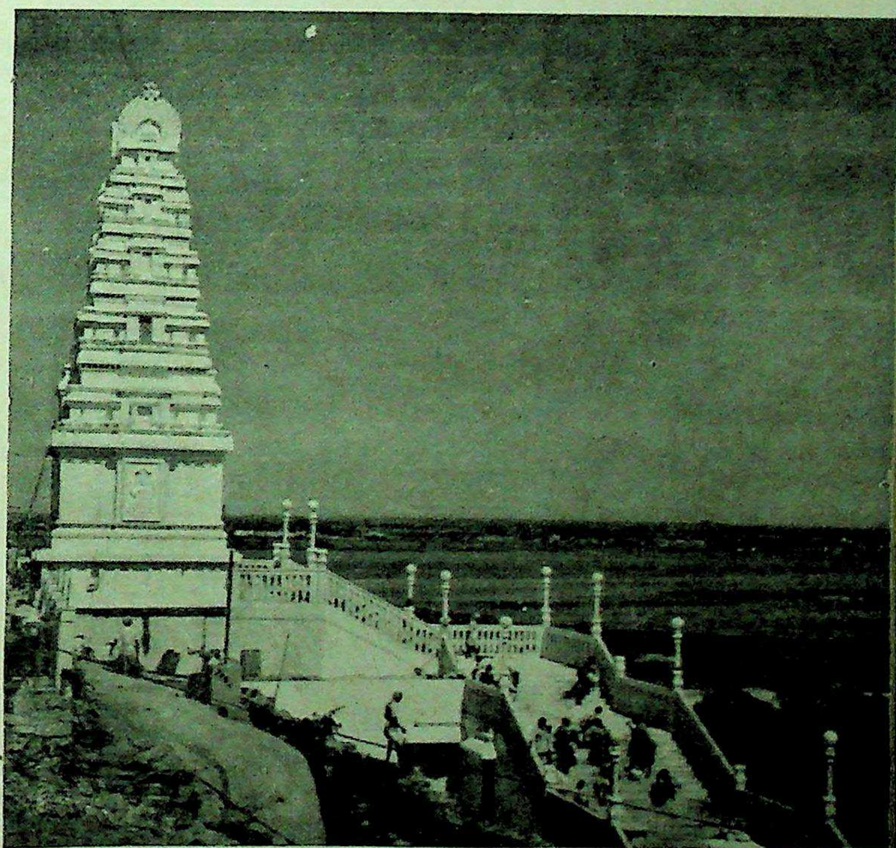
	भारत में	विदेशों में
मूल्य एक प्रति	4.50 रुपये	0.53 पौंड या 1 डालर 62 सैंट्स
वार्षिक चन्दा	18.00 रुपये	2.10 पौंड या 9 डालर 4 सैंट्स

रजिस्टर्ड संख्या 6724/59

प्रबंधक, भारत सरकार मुद्रणालय, फरीदाबाद द्वारा मुद्रित 1977



संस्कृति



वर्ष 19 : अंक 4

58

एक रुपया

संस्कृति––त्रैमासिक पत्रिका, हेमन्त, ग्रीष्म, पावस, शरत् (जनवरी, अप्रैल, जुलाई व अक्तूबर) को प्रकाशित होती है । इसका प्रत्येक अंक विशेषरूप से सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर केन्द्रित होता है तथा इसके लेख विचारोत्तेजक, खोजपूर्ण तथा भावपूर्ण होते हैं । इसके लेखों में देश-विदेशों की सांस्कृतिक परियोजनाओं, कार्य-कलापों तथा प्रयोगों सम्बन्धी अधिकृत सूचना दी जाती है । इसकी सामग्री वस्तुनिष्ठ व पूर्णरूपेण निष्पक्ष होती है । साथ ही इसमें पुस्तकों की समीक्षा भी प्रकाशित की जाती है ।

संस्कृति के लिये लेख सम्पादक, 'संस्कृति', शिक्षा, समाज कल्याण और संस्कृति मंत्रालय, 102 सी-खंड, शास्त्री भवन, नई दिल्ली को भेजे जाएं ।

संस्कृति का वार्षिक चन्दा मनीआर्डर द्वारा निदेशक (हिन्दी प्रकाशन), शिक्षा, समाज कल्याण और संस्कृति मंत्रालय, 102 सी-खंड, शास्त्री भवन, नई दिल्ली के पास भेजा जाए । संस्कृति की प्रतियों के विषय में पूछ-ताछ भी इसी पते पर की जाए ।

संस्कृति में मौलिक व अप्रकाशित लेख छपते हैं, कापीराइट शिक्षा, समाज कल्याण तथा संस्कृति मंत्रालय के पास होता है । इसमें प्रकाशित लेख सम्पादक की अनुमति पाये बिना अन्यत्र प्रकाशित नहीं किये जा सकते । लेखक यदि इसमें छपे अपने लेख को अन्यत्र छपाना चाहें तो उन्हें पूर्व अनुमति प्राप्त करनी चाहिए ।

यह आवश्यक नहीं कि लेखक द्वारा प्रतिपादित विचार सरकार के दृष्टिकोण को ही व्यक्त करते हों ।

संस्कृति

प्राच्या नव्या विलसततराँ संस्कृतिः भारतीया

हमारा आगामी अंक

इस अंक में पढ़िये भारत की विविध लोक-कलाओं के विभिन्न रूपों और शैलियों के संबंध में कलापूर्ण लेख । इन लेखों में मधुबनी की पुरानी किन्तु नवीन रूप में विकसित चित्रशैली, मिट्टी शिल्प की दस्तकारी तथा मेंहदी मांडने से लेकर अन्य पर्वों पर मांडने की कला का सुन्दर वर्णन दिया गया है । इसके अतिरिक्त कुछ शौर्यपूर्ण तथा सुरुचि पूर्ण साहित्यिक लेख दिए गए हैं ।

वर्ष 19 : अंक–4
(अक्टूबर, 1977)
वार्षिक चन्दा—चार रुपये

एक प्रति—एक रुपया

इस अंक में



पत्रावली......

...संस्कृति का 56वां अंक मुझे अभी मिला । इसके मुखपृष्ठ पर विविध थापों के जो चित्र दिये हैं उनमें गंगाजी के थापों का भी उल्लेख है । ये थापे गंगाजी के नहीं होकर राजस्थान के ही लोक देवता मोगाजी के हैं ।

अपने इस लेख में मैंने राजस्थान में प्रचलित मुख्यतः उन्हीं थापों का उल्लेख किया है जो अधिकाधिक लोकप्रिय हैं और जिन्हें 'थापा' नाम से जाना जाता है । ये वे थापे हैं जो दीवाल पर हल्दी, पीठी, काजल, कंकू, घी, कोयला मेंहदी से बनाये जाते हैं परन्तु बहुत प्रारम्भ में ये सभी गोबर से बनाये जाते थे । सांझी तथा संक्रांत पर बनने वाले गोबर के विविध अंकन भी एक तरह से थापे ही हैं पर ये 'थापा' नाम से नही चलते हैं । संक्रांत पर उपलों के माध्यम से चूड़ियों, अंगुठियों, अंगुलियों, अंगूठों, हथेली तथा मुट्ठियों के माध्यम से जो सातिये, चट्टे तथा विविध अंकन बनाये कोचराये जाते हैं वे सब 'सकरांतडे' कहलाते हैं । नवरात्रों पर भी माताजी के विविध प्रकार के थापे बनते हैं।

इस विषय पर हमारा ध्यान अभी तक नहीं के बराबर गया है पर यह बड़ा गूढ़ और गहन विषय है, इनके अध्ययन से लोकजीवन की कला-सांस्कृतिक उन बहुत सारी थातियों की लंबी परंपरा के द्वारा खुलते हैं जो हमारे भारतीय जीवन को जीवंतता को अक्षुण्ण बनाई हुई हैं । अलवा पर के थापों का इधर राजस्थान में अब अधिक रिवाज़ नहीं मिलता । विवाह के थापों का संकेत तो मैंने अपने लेख में दिया है। ये थापे मेंहदी की बजाय हल्दी, पीठी, गुलाबीरंग तथा कंकू के अधिक चलते हैं ।

प्रारम्भ में दीवालों पर हाथ के अंगूठे के पास वाली दोनों अगुलियों को उल्टी रख उनके बीच गोबर से जो आकृति उभारी जाती थी, वही थापा कहलाता था पर अब अंगुलियों का वह ठप्पा ही थापा न रहकर पूरे हाथ का चिन्हमुट्ठी के भांत भांत के ठप्पे तथा अंगुलियों की विविध कला कोरी भी थापे में सम्मिलित हो गई है । सरवण के थापों ने जबसे रक्षाबंधन पर गोबर तथा रंग दीवाल को देने के बजाय उन्ही आकृतियों को कागज पर रंगना शुरू किया कि वह 'थापा' अब 'पाठा' बन गया है ।

मनुष्य ने ज्यों ज्यों विकास पाया त्यों त्यों उसकी दृष्टि में बदलाव आया फलतः उसके मापदंड भी बदले, सौंदर्य उपकरणों में भी बदलाव आया । थापों में भी यह बदलाव अवश्यंभावी था अतः गोबर का स्थान धीरे धीरे सिन्दूर, हिंगलू, कुंकुम, मेंहदी, दूध, काजल, हल्दी, गेरू, ऐपण, घी तथा लाल गुलाबी हरे नीले काले-पीले-आसमानी रंग ने ले लिया । ये समग्र रंग उपादान शुभ, मांगलिक और विघ्नहरण मंगलकरण माने जाते हैं ।

विवाह के लिये जो मंडप बनाया जाता है उसके बांसों पर भी विवाह करने वाली लड़की के हाथ का चावल के घोल का थापा थरपाया जाता है । नैनीताल की ओर तो लक्ष्मी प्रवेश के लिये दीवाली पर जो घर म पथ मनाया जाता है उसे लाल सफेद रंगों में मुट्ठी का थापा लगाकर बड़े कलात्मक ढंग से तैयार किया जाता है । कहीं कहीं वर घी से तथा वधू मेंहदी से थापा थापती है। सतियों के हाथ भी थापे कहलाते हैं । घरों की पहचान के लिये भी थापा चिन्हों की कहानियां सुनने को मिलती हैं । राजस्थान की एक लोकगाथा 'निहालदे सुलतान' में दूती मालिन के लिये उँट के मांस से गृह द्वार पर थापा लगा देती है ताकि मकान पहचाना जा सके ।

इन थापों को पूरता देने के लिये इनके आसपास ऊपर नीचे सातिये, शंख, चक्र, सूरज, चांद, दीपक, कलश, वृक्ष, फूल, पत्तियां, लता, बेल, पत्ता, शेर, गाय, हाथी, घोड़ा, हिरण, तोता, गुग्गा, चील, मोर, चकोर, सारस, मैना, महल, मंदरी, काच, कांगसी, आठी, डोरा, चक्की चूल्हा, धानचून, भाई बहिन, देवर जेठ, घाट हाट, नौकर चाकर, आभूषण तथा विविध व्यंजनों का जड़ाव जड़ दिया जाता है। कितने श्रद्ध सिद्ध हैं ये थापे । कितना सांस्कृतिक सुप्रचिवान है हमारा जीवन ।

डा० महेन्द्र भानावत

सांस्कृतिक विचारों की प्रतिनिधि
त्रैमासिक पत्रिका

(ग्रीष्म, पावस, शरत् और हेमन्त में प्रकाशित)

नोट--पाठक अपनी प्रतिक्रिया, सुझाव भी भेज सकते हैं, हम उनका स्वागत करेंगे। संक्षिप्त में अपने रोचक और मौलिक विचार, संस्मरण, यात्रावर्णन भेजिए जिसमें देश विदेश की संस्कृति की झांकी मिलती है।

पत्र व्यवहार का पता
सम्पादक संस्कृति
शिक्षा, समाज कल्याण और संस्कृति मंत्रालय
102-सी, शास्त्री भवन
डा० राजेन्द्र प्रसाद मार्ग,
नई दिल्ली। टेलीफोन नं० 384151

सम्पादकीय

आज शिक्षा की 10+ की नई पद्धति की बहुत चर्चा है। संकल्पना में और व्यवहार में यह पद्धति गांधीजी की बुनियादी तालीम की पद्धति पर आधारित है। इससे यह पता चलता है कि अन्य क्षेत्रों के साथ-साथ शिक्षा के क्षेत्र में भी गांधीजी के विचार कितने व्यापक थे और वे कितने दूरदर्शी तथा व्यावहारिक थे। 'संस्कृति' के प्रस्तुत अंक में श्री शम्सुद्दीन ने गांधीजी की शिक्षा पद्धति के मूलतत्वों पर प्रकाश डाला है तथा उनका विवेचन किया है।

'एकं सत्यं विप्रानां बहुधा वदन्ति'--इस कहावत की सचाई सर्वकाल में और हमारे जनजीवन तथा धर्म-संस्कृति के हर रूप में परिलक्षित है। भारतीय संस्कृति की इस विशेषता को तथा इसकी आधारभूत भावनात्मक एकता को दिखाने के लिए इस अंक में कुछ लेख हैं, जैसे 'अक्षर का तात्विक विवेचन' (श्री ओमप्रकाश वेदालंकार), 'हैदराबाद का वेंकटेश्वर मंदिर' (डा० सरोज बजाज), 'किरातकूप के ऐतिहासिक मंदिर' (श्री लक्ष्मीचन्द चितारा)।

एक ग्राम कहावत है--'सेवा करै सो मेवा पावै।' भावार्थ यह है कि दीन-दुखियों की सेवा करना ही परम धर्म है--और भगवान को प्रसन्न करने का भी यही सबसे प्रबल माध्यम है। फ्लोरेंस नाइटगेल से लेकर आज मदर टेरेसा तक सभी विशिष्ट जनों ने इसी धर्म का पालन किया और मानवजाति को असीम तथा बहुमूल्य प्रेरणा दी। श्री दुर्गाशंकर त्रिवेदी ने अपने लेख 'दीन दुखियों की माता: करुणामूर्ति मदर टेरेसा' में आज की इस महान विभूति के व्यक्तित्व और कृतित्व पर रोचक प्रकाश डाला है।

भारतीय संस्कृति, धर्म तथा साहित्य में रामकथा की व्यापकता निर्विवाद है। संत तुलसी ने सम्पूर्ण जगत को 'सियाराममय' जो जाना था उसका मर्म हम सभी भारतीय सर्वकाल में और जीवन के हर क्षेत्र में भलीभांति समझते हैं। आदिकाल से कही जानेवाली यह कथा मानो मात्र 'कथा' न होकर मानव-कथा हो गई है। हमेशा की तरह आज भी आप देश के किसी भी कोने में चले जाएं, आपको रामकथा की गूंज सर्वत्र मिलेगी। श्री सुरेश पंत ने तमिल साहित्य में रामकथा विषयक अपने लेख में इस विषय पर खोजपूर्ण प्रकाश डाला है।

भारतीय संस्कृति की आधारभूत एकता को प्रदर्शित करने वाले कुछ और लेख इस अंक में ये हैं--'कोंकणी का साहित्य' (श्री उदय एल० मेम्ब्रो), 'हिन्दी क्षेत्र के लोक नाट्य और उनकी परम्परा' (डा० लक्ष्मी नारायण दुबे), 'धार्मिक फिल्में : संस्कृति के कितने समीप' (श्री विश्वभावन देवलिया 'ब्रज भाषा काव्य के कीर्ति स्तम्भ' (श्री जगन्नाथ दास रत्नाकर)।

आशा है कि पूर्ववर्ती अंकों की तरह यह अंक भी पाठकों को रुचिकर लगेगा और वे इसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करेंगे।

देश दर्शन

प्रातः हुआ उजाला
सोहे कंठ किरन की माला

भारत माता खड़ी है पहने रंग बिरंगा रे भाई।
दर्शन कर ले तेरा चोला होगा चंगा रे भाई।

बृद्ध हिमालय तू महिमालय भाग्य से भूपर आये हो बाबा।
उज्ज्वल चोटियां हैं अथवा सब मानव हंस उडाये हो बाबा।

दूध की धोई बंधी पगड़ी, कहो साबुन कौन लगाये हो बाबा ?
मैली न होती कभी पगिया, किस धोबी से पाग धुलाये हो बाबा ?

भूपर खडा हिमाला,
ऊपर खड़ा शिवाला वाला

माथे गंगा, गले भुजंगा, भोला नंगा रे भाई।
दर्शन कर ले तेरा चोला होगा चंगा रे भाई।

मैं तो चली सुमनों के यहां पिय को तितली ने जवाब दिये हैं।
प्रेमियों का गलहार बनूं कुसुमावलियां नये ख्वाब लिये हैं।

डालियों में झुक झूमते केसर फूल ये जैसे शराब पिये हैं।
सुन्दर हैं इतने, कितने भवरों के कुटुम्ब खराब किये हैं।

कढ़ी शाल कश्मीरी
जैसे भजन लिख रही मीरा

सारी प्रकृति बनी है ईश्वर की अर्द्धांगा रे भाई।
दर्शन कर ले तेरा चोला होगा चंगा रे भाई।

आँख के कोना में टोना भरा, इन नैनों को पार नहीं कर पाते।
जादू का जोर है, दादू बचे रहो, डूबने वाले नहीं उतराते।

चेत करो चेतन्य महाप्रभु, हैं निभते यहाँ नेह के नाते।
काम की देवी बसे 'कमरु' लख जोगियों के डमरू गिर जाते

बोल हिरामन तोता,
कैसा बंगला जादू होता ?

साधु बचकर जाना बंगल में कंचन जंघा रे भाई।
दर्शन करले तेरा चोला होगा चंगा रे भाई।

पीठ दमोदर दाँत लगाम दबाये बढ़ी रन झाँसी की रानी
आगे दुआरे-दुआरे गये, गढ़ झोपड़ियां मिलती बलिदानी।

सून लगे इतिहास तेरे बिन, धन्य रे राजस्थानी कहानी।
पानी चढ़ा तलवार के ऊपर भूमि बली सब रेगिस्तानी।

देखो हल्दीघाटी
बलिदानों से हमने पाटी,

माटी माथे रख, परिपाटी बडी उमंगा रे भाई।
दर्शन करले तेरा चोला होगा चंगा रे भाई।

माखन धोकर चांदनी में, मुसुकान मिठाई गई कुछ घो ली।
ऊपर छींटती खांड़ खड़ी, यह बेटी अहीर की है बड़ी भोली।

चोरी से आ, कुछ और मिला गई माई सरस्वती खोल के झोली।
अमृत में वहीं फ़ेंट के राधिका-कान्ह बना गये रे ब्रज बोली।

चल मन धीरे धीरे
कुंजकुटीरे, जमुना तीरे ।

जय, जयदेव गीत गोविन्दम् ललित लवंगारे भाई।
दर्शन करले तेरा चोला होगा चंगा रे भाई।

पर्व नहीं यह गर्व महान है, जाने जो संस्कृति में अनुरागे।
नेंह की गाली मुहाल जिन्हें, वही निन्दक हैं मतिमंद अभागे।

राधिका-कान्ह की प्रीत की रीत को छोड़ के बोलो कहाँ कोई भागे ?
है कोई देश बताओ जहाँ भर फ़ागुन बाबा भी देवर लागे ?

भीगे तन मन भीगे सारी,
उड़े गुलाल लाल भये बादर बजे मृदंगा रे भाई।
दर्शन करले तेरा चोला होगा चंगा रे भाई।

मंदिर, मंदर और समुन्दर दक्षिण सागर की बलिहारी।
पानी के ऊपर तैर रही, दसकंधर सोने की लंका तुम्हारी।

आकृति गोल बड़ी अनमोल उठे मन में उपमा अति न्यारी।
फेंक के गागर नीर में घाटे के ऊपर है खड़ी कन्या कुमारी।

कबसे खड़ी गुजरिया,
इसकी डूबे नहीं गगरिया,

बादल के बालों में करे नारियल कंघा रे भाई।
दर्शन कर ले तेरा चोला होगा चंगा रे भाई।

चन्द्र शेखर मिश्र

सागर तट पर (एक भाव चित्र)

शीला गुजराल

मैं समझती थी, विशाल सागर के सम्मुख अपनी तुच्छता का एहसास होता होगा लेकिन मैंने तो यहां पाया—अहम् का विस्तार, अपने को अपने में ही पूरक ! घंटों सागर की लहरों का संगीत सुनती रहती हूं, मन नहीं ऊबता, अपनों की स्वर-लहरी के लिए मन नहीं तड़पता। घंटों चंचल लहरों की क्रीड़ा निहारती रहती हूं, किसी से आँख मिचौली खेलने की तृष्णा मन में जागृत नहीं होती। किसी को बाहों में भींच लेने के लिए मन नहीं मचलता। संसार से नाता तोड़ मानो एक नई दुनिया में पहुंच जाती हूं। और अनायास ही कुछ शब्द गुनगुनाने लगती हूं। भाषा की गरिमा का ध्यान नहीं रहता, पंक्तियों के ताल मेल की चिन्ता नहीं होती, लेखनी के संतुलन की कोई परवाह नहीं रहती। विचार स्वयँव भाषा की बगिया में बैठ कर मेरे मन आँगन में घूमने लगते हैं। जब विचरते भाव हियाँगन को पूरी तरह घेर लेते हैं तो कोरे कागज पर उनका रेखा-चित्र उतार उन से अलविदा लेती हूं और पुनः सागर की गम्भीरता को निहारने लगती हूं।

कई बार देखती हूं, सागर तट पर एकदम सुन सान हो गया है, सभी दर्शक अपने अपने घर चले गए हैं। सूर्यदेव भी अपनें रथ पर चढ़ कर सीमा पार पहुंच गए हैं। केवल मैं और मेरा साथी समुद्र दोनों ही वहां रह गए हैं। ऐसे में भी मन चिन्तित नहीं होता, अकेलेपन का आभास नहीं होता। मैं विदा गान गुनगुनाती सागर का सारा सौन्दर्य हृदय में संजो अनमने मन से घर की राह लेती हूं।

'हैदराबाद नगर के काले पहाड़ पर भारतीय कला का प्रतीक' शुभ वेंकटेश्वर भगवान का मन्दिर

डा० सरोज बजाज

भारतवर्ष आदि काल से संस्कृति वैभव तथा कला का महान देश रहा है। यहां पर कभी दूध-दही की गंगा नदियां प्रवाहित हुआ करती थीं। भारत की अतुल धनराशि को देखकर ही विदेशियों ने इसे सोने की चिड़िया के नाम से पुकारा।

मन्दिर निर्माण भारत की आदिकाल से प्रवृत्ति चली आ रही है। इसके चतुर्दिक कई कलाएं विकसित हुई। विशेषरूप से वास्तु और मूर्ति निर्माण कला में इसने विशिष्टता और ख्याति अर्जित की। यहां के मन्दिरों की कला आज भी पाश्चात्य जगत के लिये आश्चर्य की बात है। मध्यकाल में विदेशियों के शासनकाल में मन्दिर निर्माण का कार्य शिथिल रहा। स्वतंत्रता के पश्चात् मन्दिरों के निर्माण हुये। मन्दिरों के जीर्णोद्धधार का कार्य भी समस्त भारत वर्ष में हुआ। वैसे भी भारतवासी धार्मिक प्रवृत्ति के होते हैं। आगरा पन्दरपुर आदि कई नगरों में नये मन्दिरों का निर्माण कार्य चल रहा है।

मूर्तिकला विशेषरूप से मन्दिर निर्माण के साथ जुड़ी रही है। धार्मिक आख्यान ही अब तक उसके मुख्य विषय रहे हैं। धर्मेतर विषय जैसे शृंगार काम आदि पर भी उल्लेखनीय वृत्तियों का निर्माण हुआ है। मूर्ति के साथ सदैव अपने यहां पूजा का भाव जुड़ा रहा है। वैसे पश्चिम के प्रभाव से अब सजावट के लिए भी मूर्तियों का निर्माण होने लगा है। भारतवर्ष में कहीं भी किसी भी स्थान पर मन्दिरों के दर्शन किये जा सकते हैं। अन्तर केवल इतना ही होता है कि जनता की रुचि और श्रद्धा के अनुकूल उनके इष्ट देवता की मूर्ति का स्वरूप भिन्न होता है। प्रायः सम्पन्न घरों के एक भाग में पूजा के लिये छोटा सा मन्दिर बना लिया जाता है। मध्यमवर्गीय घरों में भी पूजा के लिये अलग स्थान होता है।

दक्षिण भारत में एक से एक वैभव सम्पन्न और विशाल मन्दिर हैं। जहां का वेंकटेश्वर मन्दिर तिरुपति में भारत-वर्ष का सबसे बड़ा वैभव सम्पन्न मन्दिर माना गया है। यहां पर भारत से ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व से बालाजी के श्रद्धालु भक्त आते हैं।

हैदराबाद सिकन्दराबाद में 13 फ़रवरी 1976 को एक विशाल वेंकटेश्वर मन्दिर की स्थापना हुई। श्री वेंकटेश्वर मन्दिर नगर के मध्य में स्थित नौबत पहाड से लगे 13 एकड के क्षेत्रफ़ल वाले काले पहाड़ पर निर्मित हुआ है। इसका निर्माण कार्य 1969 में प्रारम्भ हुआ था। अब तक निर्माण कार्य में लगभग 75-80 लाख रुपये लग चुके हैं। अभी शेष कार्य पर 20 लाख रुपये और लग जावेंगे। इन छः सात वर्षों में लगभग 20 लाख रुपये श्रमिकों को मजदूरी के रूप में दिये जा चुके हैं। इस मन्दिर के निर्माण में आन्ध्र प्रदेश शासन की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। 13 एकड़ भूमि पहाड़ के साथ सरकार ने निःशुल्क प्रदान की। राज्य सरकार के सभी भांगों का विशेष रूप से धर्मस्व विभाग का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

अनेक विशाल मूर्तियों और प्रकोष्ठों की सुनियोजित प्रस्थापनाएं अपना विशिष्ट आकर्षण रखती हैं। मन्दिर की मुख्य मूर्ति, गुन्टूर के पास से उपलब्ध ग्रैनाइट पत्थर की बनी हुई है। एक ही शिला खण्ड में निर्मित इस मूर्ति का वजन 14 टन है। मूर्ति की ऊंचाई 9 फ़ुट 6 इंच है। आधार शिला डेढ़ फ़ुट ऊंची है। मूर्ति में एक ओर जहां कमनीयता और सौन्दर्य झलकता है, वहां अंग प्रत्यंग से अखण्ड पौरुष भी दीपित होता है। मूर्ति इतनी सजीव बनी है कि दर्शन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो भगवान साक्षात रूप में दर्शन देने उपस्थित हुए हों। गर्भगृह के जहां श्री वेंकटेश्वर भगवान की मूर्ति स्थापित है, बायीं ओर महालक्ष्मी जी की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। दायें हाथ पर आन्डाल गोदम्बाभूदेवी की मूर्ति स्थापित है। मन्दिर के मुख्य द्वार पर अगल बगल में द्वारपाल के रूप में जय और विजय की मूर्तियां विराजमान हैं। इनमें से प्रत्येक का वजन लगभग 2 टन है। मुख्य द्वार के सामने गरुणालय है। यह छह मूर्तियां सब की सब ग्रैनाइट पत्थर की हैं। मद्रास तथा आन्ध्र के विभिन्न नगरों से आये हुए शिल्पियों ने इन मूर्तियों को तराशा और संवारा है। मूर्तियों का निर्माण कार्य दक्षिण भारत के सुप्रसिद्ध कलाविद् आन्ध्र प्रदेश शासन के स्थापति श्री गणेशजी के निर्देशन में सम्पन्न हुआ है।

मन्दिर के अग्रभाग में 52 फुट ऊंचा ध्वज स्तम्भ है। पीतल के आवरण से मंडित इस स्तम्भ पर प्रात: और सायं को सूर्यकिरणें इसकी गरिमा को और भी बढ़ा देती हैं।

पूर्व दिशा की ओर राजगोपुरम अर्थात् प्रवेश द्वार है जो कि चित्र में देखा जा सकता है। यह प्रवेश द्वार भी कला की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर है।

मन्दिर में अलग से यज्ञशाला का निर्माण किया है। यज्ञशाला होना वायुमन्डल और स्वास्थ्य दोनों के लिये लाभकर होता है। अगर हम अपने प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में देखें तो विदित होगा कि कोई भी धार्मिक अनुष्ठान यज्ञ के बिना पूरे नहीं होते थे। हमारे ऋषिमुनियों ने यज्ञ के महत्व पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला है। साधु सन्तों तथा महापुरुषों के प्रवचन को सुनने के लिये आडिटोरियम भी हैं।

सुन्दर सुन्दर मूर्तियों को म्यूजियम में रक्खा गया है जहां पर सभी तरह की मूर्तियों का विशाल संग्रह रखने की योजना है। म्यूजियम के द्वारा हम अतीत और वर्तमान दोनों की कला तथा संस्कृति के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

यहां पर वाचनालय का भी प्रबन्ध किया गया है जिससे धर्मप्रेमी जनों को लाभ हो सके।

मन्दिर के प्रवेश द्वार पर दाय बाय संगमरमर के विशाल हाथी बने हुये हैं।

मन्दिर धार्मिक दृष्टि से तो अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता ही है परन्तु यहां का प्राकृतिक सौन्दर्य भी अवर्णनीय है। रात्रि को शशि के प्रकाश में संगमरमर का धवल मन्दिर किसी भी व्यक्ति के मन को बरबस आकर्षित करता ही है साथ ही वहां से सिकन्दराबाद और हैदराबाद की असंख्य विद्युत मणियाँ स्वर्ग का आनन्द देती हैं। सम्पूर्ण शहर स्वच्छ चांदनी में नहाया हुआ लगता है।

किरातकूप (किराडू) के ऐतिहासिक मन्दिर

लक्ष्मीचन्द चितारा

राजस्थान का इतिहास शौर्य और शिल्प दोनों के लिये विश्व विख्यात रहा है। युद्धकाल में यहां के रणबांकुरे शूरवीरों तथा वीरांगनाओं ने देश रक्षा और आत्म सम्मान हेतु हंसते-हंसते अपने प्राणों को न्यौछावर किया है तथा शान्ति के सृजनमय क्षणों में इन्ही शूरवीरों ने उच्च कोटि की शिल्पकला वास्तुकला और चित्रकला आदि को अपने जीवन का अभिन्न अंग बनाया। उनकी कलाप्रियता के ज्वलन्त उदाहरण हैं उनके द्वारा निर्मित भव्य किले, महल, मंदिर, विजय स्तंभ आदि। तेज आंधियों, चिलमिलाती धूप, बालू के ऊंचे-ऊंचे टीबों और शमशानी खामोशी के बीच बाहरवीं-तेहरवीं शताब्दियों में निर्मित शिल्प सौन्दर्य के नयनाभिराम मंदिर भी हैं। यह रेगिस्तानी मृगतृष्णा नहीं है। राजस्थान के सीमान्त जिले बाढ़मेर में अनेक आश्चर्यजनक बातें हैं। जिनमें किरातकूप (किराडू) के प्रसिद्ध मंदिर भी शामिल हैं। इतिहास के ये खण्डहर प्रहरी मरूमण्डल के प्रभार शासकों तथा यहां के शिल्पकारों की कलाप्रियता की अनेकों कहानियां लिये आज भी निर्जन रेगिस्तान में गर्व से खड़े हैं। ऐतिहासिक किरातकूप और वर्तमान किराडू मंदिरों की भव्य नगरी रहा है।

मंदिरों की राहः निर्जन परिवेश

इन अर्चचित एवं अपरिचित देवालयों के दर्शन करने सैंकडों सैलानी आते हैं। ये देवालय बाड़मेर-मुनाबा लाईन पर लगभग 30 किलोमीटर की दूरी पर खड़ीन स्टेशन से 5 किलोमीटर उत्तर में स्थित हैं।

तीन तरफ ऊंची-ऊंची पहाड़ियां और उनको घेरे हुए बालू के टीबे। टीबों पर रेगिस्तानी के चिरपरिचित बन-मित्र आक, बबूल, खेजड़ी, केर और उन पर मंडराते यदाकदा पक्षी। दाहिनी ओर की पहाड़ी पर एक देवी मन्दिर और बीच वाली पहाड़ी पर एक धवल कुटीर। किसकी कुटीर? गांव वाले बतायगे—"साब, उनमें एक महात्मा रहते थे। उनके शाप से ही यह वभव सम्पन्न किराड़ू नष्ट हो गया। आज दूर-दूर तक शमशानी खामोशी है।"

अब हम मंदिरों के करीब पहुंच गये हैं। सामने एक मंदिर का खण्डित शिखर दिखाई दे रहा है। जैसे ही आप अपनी दृष्टि उसकी ओर स्थिर करेंगे अनायास आपका पैर किसी रेत में दबे पत्थर से टकरायेगा। जरा झुक कर गौर से देखिये यह साधारण पत्थर नहीं है। यह तो किसी मूर्ति का अंग है। आह! इतनी सुन्दर खुदाई कला की ये उपेक्षा। ऐसे तो हजारों खण्डहरांश इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। कई बहुमूल्य कलाकृतियों को मूर्तिचोर उठा ले गये। खूब पैसा कमाया होगा लेकिन अब यह धन्धा बन्द हो गया है। अब पुरातत्व विभाग का चौकीदार नियुक्त है जो मंदिरों का रक्षक और पर्यटकों का 'गाईड' दोनों काम साथ-साथ करता है।

पांच खण्डहर मंदिर

दूर-दूर हजारों खण्डहरांशों के आधार पर इतिहासकार ऐसा अनुमान लगाते हैं कि किरातकूप (किराडू) में किसी समय लगभग 25 भव्य मंदिर बने हुए रहे होंगे। लेकिन आज हमारे लिये केवल पांच मंदिर अपने गौरवमय अतीत का, प्रदर्शन करते हुए लड़खड़ाते खड़े हैं। मगर यह सत्य है कि खण्डहर बता रहे हैं इमारत बुलन्द थी।

पांचों भग्न देवालयों का मुख्या सोमेश्वर देव का शिव मंदिर है। जिसका मुख पश्चिम दिशा की ओर है। अन्य मंदिरों की तुलना में यह अपेक्षाकृत कुछ ठीक दशा में है। सम्भवतः इसके पाषाणों में मुहम्मद गौरी तथा मुहम्मद गजनी जैसे निर्दयी आक्रमणकारियों के क्रूर प्रहारों को झेलने की अदम्य क्षमता थी। मंदिर के दो भाग हैं—आगे वाला सभामण्डप और पीछे वाला भाग गर्भगृह। सभा मण्डप 44 स्तम्भों के दो वृतों में अवस्थित हैं। स्तम्भ मृदभांड, लता पुष्प-पत्र झालीदार खुदाई से अलंकृत है। आंतरिक वृत के स्तम्भों के ऊपरी भाग पर मुंह फैलाये मकराकृतियों के मुंह में मानवाकृतियां छटापटा रही हैं गर्भगृह का आयताकार द्वार शिल्पियों के हाथों नववधु की भांति श्रंगारित है। किसी समय इस पावन स्थल पर केशर, कस्तूरी धूपदीप, पुष्प, नेवैध के मध्य शिव प्रतिमा प्रतिष्ठित रही होगी, जिसके आगे यहां के शासक और भक्त प्रजाजन नतमस्तक रहा करते होंगे। लेकिन आज इसके अंधेरे गर्भ में चिमगादड़ और उनकी दुर्गन्ध के अतिरिक्त कुछ नहीं है। मंदिर की परिक्रमा कर मंदिर का बाह्य दृश्य देखते समय महाभारत, रामायण और पुराण के संदर्भ संजीव हो उठते हैं। इधर पत्थरों पर गोवर्धन धारण और लाक्षागृह दहन दृश्य में तो

उधर सुग्रीव बाली युद्ध कहीं अशोक वन में सीता है तो समीप हनुमान द्वारा अशोक वन को उजाड़ने का दृश्य। उधर लंका विजय हेतु निर्माण हो रहा सागर पर सेतु। देवताओं तथा असुरों द्वारा सागर मंथन का सजीव चित्रण कर शिल्पियों ने अपने आपको अमर कर दिया है। इसकी स्थापत्य शैली को देखकर हम खजुराहो का कुण्डरिया नाथ महादेव मंदिर याद आ जाता है। कई स्थानों पर नर-नारी रति मथुन संभोग आदि आसनों में चित्रित किये गये हैं।

इस सोमेश्वर देव के मंदिर के पास वाले शिवालय पर भी रामायण, महाभारत के घटना दृश्य तीक्षित किये हुये हैं। एक स्थान पर भीष्म पितामह शर शैय्या पर लेटे हुए हैं, दूसरी जगह बाण वधित घायल लक्ष्मण श्री राम के घुटनों पर मूर्छितावस्था में लेटे हुए हैं हनुमान संजीवनी हेतु पहाड़ उठाये ला रहे हैं।

दूसरे मंदिर की भांति तीसरा और चौथा मंदिर भी बहुत अधिक खण्डित है। इनके सभामण्डपों के चिह्न तक लुप्त हैं। इन पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश की मूर्तियां भी हैं और कामासक्त संभोग चित्रण भी।

पांचवां मंदिर पूर्वविमुख है। इसे विष्णु का मंदिर मानते हैं। इसका सभामण्डप वर्तमान में बिना छत का स्तम्भों के एक वृत द्वारा बना हुआ है। ध्वंश दशा में भी स्तम्भों पर की गई खुदाई नयनाकर्षक है। स्तम्भों पर विभिन्न नृत्य मुद्राओं में नर-नारी यक्षणियों आदि की मूर्तियां अंकित हैं। मंदिर पर पद्मासन पर विष्णु की मूर्ति भी है जो लड्डू खाते गजानन्द भी हैं। इसके पृष्ठ भाग में एक अस्पष्ट शिलालेख भी लगा हुआ है।

किरातकूप: एक प्राचीन अर्वाचीन दृष्टि

एक दृष्टि उत्कृष्ट शिल्प सौन्दर्य मण्डित देवालयों के इतिहास पर भी डालते चलें। विभिन्न मंदिरों में वि० स० 1144, 1209, 1218 और 1235 के अस्पष्ट शिलालेख उपलब्ध हैं। इन मंदिरों का निर्माण कार्य परमार सोलंकी शासन काल में माना जाता है। प्रस्तर आलेखों पर चालुक्य सिध्दराज जयसिंह, कुमारपाल, अल्हण देव, कल्हण देव परमार सोमश्वर और चौहान मदन ब्रह्मदेव के नाम अंकित हैं। मरुमण्डल के इन पवित्र देवालयों को ई० 1178 में सुल्तान मुहम्मद गौरी और वि० स० 1368 में अलाउद्दीन खिलजी की क्रूर दृष्टि का शिकार होना पड़ा। इन विदेशी लुटेरे आक्रमणकारियों ने मंदिर की लगभग प्रत्येक मूर्ति को खण्डित कर दिया। आज भी ये मूर्तियां भयाक्रांत दिखाई देती हैं। मानो ये मूक मूर्तियां घबरा रही हों कि पर्यटक भी गौरी या गजनी की भांति उन्हें खण्डित करने या उठा ले जाने न आ गया हो।

इतिहास और संस्कृति की अमूल्य धरोहर ये देव मंदिर आज बहुत दयनीय दशा में हैं। लगभग नौ शताब्दियों से वर्षा, गर्मी, सर्दी व आंधी के असंख्य थपेड़ों ने इन्हें जर्जर कर दिया है। साथ ही इनका अधिकांश ऐतिहासिक अध्ययन और शोध कार्य भी बाकी है। पुरातत्ववेत्ताओं, इतिहासकारों और कलाप्रेमी सैलानियों को ये खण्डहर मंदिर किरातकूप (किराड़ू) आने का निमंत्रण दे रहे हैं।

अक्षर का सात्विक विवेचन

ओम प्रकाश वेदालंकार

संसार में अनेकानेक विद्याएं हैं, किन्तु उनमें सर्वोपरि महत्ता अध्यात्म विद्या की है। श्रीमद भगवद् गीता में 'अध्यात्म विद्या विद्यानाम (गी० 10.32)' द्वारा समस्त विद्याओं में अध्यात्मविद्या का सर्वाधिक महत्व निरुपित हुआ है। प्रकृति, आत्मा तथा परमात्मा के स्वरूप, पारस्परिक सम्बन्ध आदि के विषय में विचार करने वाली विद्या ही अध्यात्म विद्या कहलाती है। इस समय में हमें अध्यात्मविद्या विषयक 'अक्षर' का सात्विक विवेचन ही अभीष्ट है।

मुण्डक उपनिषद् की निम्न श्रुति में दो विद्याओं की चर्चा की गई है।

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ।। मु० 1.1.4

'ब्रह्म को जानने वाले इस प्रकार निश्चयपूर्व कहते आये हैं कि दो विद्याएं ही जानने योग्य हैं—एक परा तथा दूसरी अपरा।' मुण्डक उपनिषद् में 'अपरा' विद्या का लक्षण निम्न है :

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद : सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति ।। मु० 1.1.5

'(परा तथा अपरा) उन दोनों में से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष-ये सब अपरा विद्या के अन्तर्गत हैं।' मुंडक उपनिषद् में ही 'परा' विद्या का लक्षण भी निरुपित किया गया है, जो निम्न है :

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।। मु० 1.1.5

'और जिससे वह प्रसिद्ध अक्षर तात्विक रूप में जाना जाता है, वह परा विद्या है।' हमारे प्रस्तुत विचार-विमर्श का विषय 'परा' विद्या से ज्ञातव्य उस प्रसिद्ध परम अक्षर का ही तात्विक विवेचन है।

साधारणतया 'अक्षर' शब्द के आध्यात्मिक साहित्य में अनेक अर्थ उपलब्ध होते हैं, किन्तु परा विद्या में अक्षर का अर्थ मुख्य रूप में ॐ यह अक्षर तथा ॐ इस अक्षर का वाच्य परब्रह्म है। यहां अक्षर से अभिप्राय वर्णमालागत अकार आदि उन स्वर तथा व्यंजन वर्णों से नहीं है, जिनके विषय में गीता में 'अक्षराणामकारोऽस्मि (गी० 10,33)' अर्थात् अक्षरों में अकार हूं—ऐसा कहा गया है। यह 'अकार' साकार है, जबकि अक्षर ॐ निराकार है।

यहां इस प्रसिद्ध अक्षर से जीवात्मा वाचक उस अक्षर का भी निर्देश अभीष्ट नहीं है, जिसे गीता के निम्न श्लोकार्थों में क्षर की तुलना में कूटस्थ प्रतिपादित किया गया है तथा जिसकी अपेक्षा ब्रह्म को उत्तम माना गया है :

क्षरः सर्वाण्भूतानि कूटस्थोऽक्षर सुच्यते ।। गी० 15.16
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । गी० 15.17

माण्डूक्य उपनिषद् को निम्न श्रुति में ॐ को ही वह प्रसिद्ध अक्षर बतलाया गया है जो हमारे प्रस्तुत विचार-विमर्श का विषय है :

ओमित्येसदक्षरम् ।। मा० ।
ॐ यह अक्षर है।'

छान्दोग्य उपनिषद् की निम्न श्रुति में भी ॐ को ही अक्षर बतलाया गया है।

ओमित्येतदक्षर मुद्गीथमुपासीत ।। छा० 1, 1, 1

'ॐ यह अक्षर है। इसे उद्गीथ कहते हैं। इसकी उपासना करनी चाहिए। ॐ को उद्गीथ कहने का कारण इस शब्द की व्युत्पत्ति से स्पष्ट है—'उद्गीयते— एननेत्युद्गीथ :।' 'ॐ को उद्गीथ इस लिए कहते हैं कि इसका उच्चारण करके ऊंचे स्वर से साम का गान किया जाता है।' यही अभिप्राय छान्दोग्य उपनिषद् की निम्न श्रुति में स्पष्ट हुआ है :

ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम ।। छा० 1,1,1

'ॐ यह उच्चारण करके उद्गाता यज्ञ में उद्गान—उच्च स्वर से सामगान—करता है। उस उद्गीथ की ही व्याख्या की जाती है।' स्पष्ट ही ॐ ही यह प्रसिद्ध अक्षर है। यह ॐ ही परा विद्या से ज्ञातव्य उस प्रसिद्ध अक्षर का मुख्य अभिधय है।

ॐ यह अक्षर है। छान्दोग्य उपनिषद् में उसे स्वर कहा गया है और वह स्वर क्यों है इसका कारण भी प्रदर्शित किया गया है। सम्बद्ध श्रुति निम्न है :

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवाति स्वर त्येवं, सामैवं यजुरेष उ स्वरो यदेतक्षर मेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन् ।। छा० 1.4.4.

'जिस समय उपासक अध्ययन द्वारा ऋग् को प्राप्त करता है उस समय वह ऊँ ऐसा कहकर ही बड़े आदर से उच्चारण करता है। इसी प्रकार वह साम. यजु: को भी प्राप्त करता है। यह जो अक्षर ऊँ है, वह अन्य स्वरों के समान स्वर ही है। यह अक्षर अमृत तथा अभय रूप है। इसमें प्रविष्ट होकर देवगण अमृत और अभय हो गये थे।'

क्योंकि ऊँ यह अक्षर वेद मंत्रों के प्रारम्भ में उच्चरित होता है, इसलिए इस अक्षर को स्वर कहते हैं। स्वर शब्द की व्युत्पत्ति है: स्वरति उच्चरिति इति स्वर: । क्योंकि यह उच्चरित होता है, इसलिए स्वर कहलाता है। स्वृ धातु का अर्थ प्रकाशित करना भी है। ऊँ यह स्वर ब्रह्म को प्रकाशित करता है इसलिए भी यह अक्षर स्वर कहलाता है। छान्दोग्य उपनिषद् की इसी श्रुति (छा० 1.4.4) से यह बात भी स्पष्ट हो गई कि यह ओंकार अन्य स्वरों के समान स्वर अवश्य है, किन्तु उनकी अपेक्षा यह विशिष्ट है क्योंकि यह अमर तथा अभय है और इसकी उपासना करने वाला भी अमर तथा अभय (अखण्ड) हो जाता है।

परा विद्या में 'स्वर' शब्द से ऊँ यह अक्षर निर्दिष्ट है। यह बात छान्दोग्य उपनिषद् की निम्न श्रुति से भी स्पष्ट है:

> **देवा वै मृत्योर्विभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविश, स्ते**
> **छान्दोभिरच्छादयन् ------। तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्य**
> **मुदके परिपश्ये देवं पर्यपश्यद्टचि साम्नि यजुषि ।**
> **ते नु विदित्वोर्ध्वाऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् ।**
> **छा० 1.4.2-3**

'मृत्यु से भय मानते हुए देवताओं ने त्रयी विद्या में प्रवेश किया। उन्होंने अपने को छन्दों से आच्छादित कर लिया ------------------। जिस प्रकार मछेरा जल में मछलियों को देख लेता है, उसी प्रकार ऋक, साम और यजु: सम्बन्धी कर्मों में लगे हुए उन देवताओं को मृत्यु ने देख लिया। इस बात को जान लेने पर उन देवताओं ने ऋक, साम् और यजु: सम्बन्धी कर्मों से निवृत्त होकर स्वर में ही प्रवेश किया।' यहाँ यह स्वर ऊँ का ही वाचक है। स्वर में प्रविष्ट होने का यही अभिप्राय है कि उन्होंने स्वर से अभिप्रेत ऊँ इस स्वर अक्षर की उपासना की।

कठोपनिषद् की निम्न श्रुति में भी इस अक्षर से ऊँ ही अभिप्रेत है:

> **सर्वे वेदा यत्पदमामन्ति तपार्थंसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।**
> **यदिच्छन्तोब्रह्मचर्य चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीयोमि-**
> **त्येतत् ऽ**

कठ 1.2.15

'सम्पूर्ण वेद जिस पद का बार-बार प्रतिपादन करते हैं, सारे तप जिस पद का लक्ष्य कराते हैं, जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस पद को (हे नचिकेत: !) तुझे संक्षेप में बतलाता हूँ—वह पद ओंकार है।' ओंकार का अभीष्ट अर्थ यहाँ सब क्रियाओं को करता हुआ शब्द ब्रह्म ही है। यहाँ पद शब्द से यह अक्षर ही अभिप्रेत है जिसका तात्विक विवेचन करना इस लेख का विषय है।

कठ उपनिषद् की अग्रिम श्रुति में ऊँ के लिए पद के स्थान पर अक्षर शब्द ही प्रयुक्त है:

एतद्ध्येवा क्षरं ब्रह्म ।। कठ० 1.2.16

माण्डूक्य उपनिषद् की निम्न श्रुति से भी इसी बात की पुष्टि होती है कि वह प्रसिद्ध अक्षर ऊँ ही है:

सोऽयमात्माध्यक्षर ओंकारोऽधिमात्रम् ।। मा० 8

'यह परमात्मा उसके वाचक अक्षर के प्रवरण में वर्णित होने के कारण तीन मात्राओं से युक्त ओंकार है।'

इस प्रकार यह पूर्णतया स्पष्ट है कि परा विद्या से जानने योग्य अक्षर ऊँ ही है।

छान्दोग्य उपनिषद् की अभी उद्धृत की इस श्रुति (छा० 1.4.4) में यह बात स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है कि प्रत्येक मंत्र के प्रारम्भ में ऊँ इस अक्षर का उच्चारण करना चाहिए। इस बात की पुष्टि महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी के 'ओमभ्यादाने' इस सूत्र से भी होती है। इस सूत्र का यही अभिप्राय है कि प्रत्येक मंत्र के उच्चारण के पूर्व ऊँ इस अक्षर का उच्चारण करना चाहिए। इसके उच्चारण का अत्यधिक महत्व है। ऐसा करने से इस मंत्र के प्रत्येक शब्द का तात्पर्य सर्वार्थ में परिणत हो जाता है।

गीता के निम्न श्लोकों में तो कहा है कि यज्ञ, दान तप आदि सभी क्रियाओं का प्रारम्भ ऊँ अक्षर का उच्चारण करके ही करना चाहिए:

> **ब्राह्मणस्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिता: पुरा ।**
> **तस्मादोमित्युदाद्दत्य यज्ञ दान तप: किया : ।**
> **प्रवर्तन्ते विद्यानोक्ता सतत ब्रह्मवा दिनाम् ।। गीता**
> **17.23-24**

'ब्रह्म ने ही सृष्टि के आदि काल में ब्राह्मण, वेद तथा यज्ञादि की रचना की। इसलिए वेद मंत्रों का उच्चारण करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों की शास्त्रविधि से नियत की हुई यज्ञ, दान और तप रूप क्रियाएं सदा परमात्मा के ऊँ इस नाम को उच्चारण करके ही प्रारम्भ होती हैं।' किसी कर्म के प्रारम्भ में ऊँ का उच्चारण करने से उस कर्म की प्रत्येक क्रिया तादृश सभी क्रियाओं की प्रतीक हो जाती है। यदि कहीं दान कर्म का उपदेश हो तो उससे पहले ऊँ का उच्चारण करने से वह कर्म भौतिक तथा आध्यात्मिक सभी दानों का प्रतीक समझा जाता है।

शेष पृष्ठ 20 पर

दीन दुखियों की माता : करुणामूर्ति मदर टेरेसा

दुर्गाशंकर त्रिवेदी

'मां'—शब्द अपने आप में एक अजीब अनुभूति देने वाला है, न! मैं प्रयत्न कर रही हूं कि वे जिन्हें 'मां' का प्यार चाहिए देने का प्रयत्न करूं।"—·········मदर टेरेसा ने कहा!

······और मैं उनके मुंह पर बिखरे वात्सल्यानुभूति के उतार चढ़ाव को आत्मीयता से देखता रहा। 'मां' के कई बिम्ब तब मेरी आंखों में रह रह कर तैर उठते रहें।

65 वर्षों से भी अधिक आयु की वात्सल्य मूर्ति मदर टेरेसा, दुबली पतली किन्तु सेवा की जीती जागती मूर्ति है। झुरियों भरे उनके मुंह पर मातृत्व की अजीब-सी गौरव भरी आकांक्षाएं तैरती प्रतीत होती हैं। उनकी एक मुस्कान, ममता भरी थपकी और स्पर्श पीड़ा को अनायास ही हर लेती है। वे मानव सेवा को समर्पित कैथोलिक सम्प्रदाय की शायद पहली सन्यासिनों की टीम की अगुआ हैं जो कि पूर्णतः सन्यासी बन चुकी हैं। जिनने भारत की नागरिकता ग्रहण करके इस देश के दुःखी नागरिकों के लिए अपने आपको समर्पित कर दिया है। भारतीय वेशभूषा, भारतीय भाषा और 'नमस्कार' के द्वारा आगन्तुक का स्वागत करने वाली मदर टेरेसा 'यथानाम तथा गुण' की जीवन्त प्रतीक हैं। उनके काम का मूल्यांकन हो रहा है या नहीं, उन्हें अपेक्षित मात्रा में जन सहयोग उपलब्ध है या नहीं बिना इसकी परवाह किये वे हर किसी दीन दुःखी की पीठ पर मातृ सुलभ वात्सल्य का हाथ फेरती हैं और सन्तुष्टि तभी होती है उन्हें जबकि उस दुःखी के होठों पर एक मुस्कान तैर उठती है। यांत्रिक युग में उनकी सहज सेवा भावना का विशेष महत्व है। उपेक्षितों के प्रति उनकी करुणा का विशेष मूल्य है।

54-ए० लोअर सरक्यूलर रोड, कलकत्ता स्थित उनके आश्रम में मेरी सहज जिज्ञासा इस मिशन के ध्येय वाले तथ्य पर केन्द्रित रही। वहीं किसी ने तब मुझे बतलाया था। मदर टेरेसा का ध्येय है:—

"उनको प्यार देना, जिन्हें कोई प्यार नहीं करता है। उन्हें चाहना जिन्हें कोई भी नहीं चाहता चाहे वे अपंग हों, बेसहारा हों, बीमार हों या मरणासन्न हों।"

मानव सेवा की छटपटाहट

मानव मात्र की सेवा के लिए अहर्निश छटपटाहट में रत ऋषि माता-सी लगने वाली मदर टेरेसा को देखकर मन मानता ही नहीं है कि वे यूगोस्लाविया में जन्मीं एक विदेशी नारी हैं। बल्कि सफ़ेद नीली किनारे वाली सादी साड़ी में लिपटी, झुरियों से भरे चेहरे वाली वे 'मां' की एक आदर्श तस्वीर मस्तिष्क में अंकित कर देती हैं।

27 अगस्त 1910 को यूगोस्लाविया के स्कोपये नामक कस्बे में अल्बेनियन किसान दम्पत्ति के घर मानवता को समर्पित इस करुणा की मंजुल मूर्ति ने जन्म लिया था। बचपन में वे 'एगनेस' के नाम से पुकारी जाती रहीं थीं 18 वर्ष की आयु में उन्होंने धर्मप्रचार और ईसाई मिशनरी के माध्यम से दीन दुखियों की सेवा का व्रत लिया और घर छोड़ दिया। तब से वे मानव सेवा में ऐसी व्यस्त हुई हैं कि पीछे मुड़कर भी नहीं देखा और भारत की ही बनकर जन सेवा में रम गई।

अपने सेवामय जीवन की शुरुआत उन्होंने डबलिन में 'नन' के रूप में शुरू की थी। बाद में वे कलकत्ता के कैथौलिक सन्यासिनों के संगठन के अन्तर्गत संचालित 'लोरेटो स्कूल' में भूगोल की अध्यापिका बनकर आई और 17 वर्ष तक वे अध्यापन ही करती रहीं। यहीं गरीब अमीर के बीच की गहरी खाई, पीड़ितों दीन दुःखियों की उपेक्षा, भूखों नंगों की प्रति समाज का हीन भाव आदि नजदीक से देखा। वे मन ही मन उनकी पूरी तन्मयता से सेवा करने को छटपटाने लगीं। लेकिन कुछ बंधन उन्हें महसूस हो रहे थे। अतः 8 अगस्त 1948 को उन्होंने अपनी कुल जमा पूंजी पांच रुपये से लेकर एक मोटी सफ़ेद धोती पहन कर अपने आपको मानवता की सेवा में समर्पित करने की गरज से मिशन की सेवा से मुक्ति का प्रार्थना पत्र देकर बिदा ले ली वहां से।··········और वे तब से हर वात्सल्य के भूखे चेहरे के लिए 'मां' हैं पूरी वात्सल्यता भरी आत्मीयता ऊंडेलती 'मां'।

सहायता के बढ़ते हाथ

हर अच्छे काम के लिए कभी भी पैसे की कमी आड़े

नहीं आती। हां अलबत्ता कभी 'घी घणां कभी मुट्ठी चणां' वाली हालत तो रहती है ही। परन्तु मदर टेरेसा की 5 रु० वाली पूंजी ने तुरन्त ही सहायता को बढ़ते हाथों का अम्बार लगा दिया। उन्हें खुले हाथों सेवा कार्य के लिए सहायता व गुप्तदान मिलने लगा। पिछले 27 वर्षों के इस सेवाकाल में उन्हें कई पुरस्कार भी मिलें, जो कि आपकी मानव सेवा भावना की स्वीकारोक्ति थी। इन पुरस्कारों में प्रमुख है :–

दस हजार डालर का "रैमन मेगनासे पुरस्कार" इक्कीस हजार पांच सौ रुपये का पोप का पुरस्कार, जो कि शांति पुरस्कार है। पचास हजार डालर का "कैनेडी फाउन्डेशन एवार्ड" चौंतीस हजार पौण्ड का "टेम्पलटन फाउन्डेशन एवार्ड" इसके अतिरिक्त भी कई छोटे बड़े पुरस्कार उन्हें मिलें। उनकी मानव सेवा से प्रभावित होकर अप्रैल 1962 में 'मदर टेरेसा' को 'पदम श्री' की उपाधि से भारत सरकार ने अलंकृत किया। 1964 में पोप पॉल जब हमारे देश में पधारे तो उन्होंने मदर के लिए अपनी सफेद 'लिंकन कार' उन्हें भेंट कर दी थी। किन्तु मदर ने उसे गरीबों से मिलने में बाधक माना और लाटरी डालकर कार को बेच दिया। उस धन से न जाने कितने दीन दुःखियों की सेवा सही रूप में हुई होगी।

मानव सेवी संस्थाओं का जाल

पीड़ित मानवता के लिए समर्पित मदर टैरेसा ने कई स्वयं सेवी संस्थाओं का जाल बिछा दिया है। 'मिशनरीज आफ चेरिटी' नामक संस्थाओं के केन्द्र द्वारा ये संचालित होती हैं। निःस्वार्थ भाव से मानव सेवा के लिए समर्पित सन्यासिनें इसके माध्यम से सेवा भाव में संलग्न हैं। 'मिशनरी ब्रादर्स आफ चेरिटी' नाम से पुरुषों के लिए भी एक संगठन है। एक और संस्था है—'मदर टैरेसा के सहयोगी कार्यकर्त्ता इसमें हर धर्म, हर क्षेत्र और हर प्रकार की सहायता के लिए द्वार खुले हुए हैं।

कलकत्ता के लोअर सरक्यूलर मार्ग पर बेसहारा बीमार बच्चों के लिए 'निर्मला शिशु भवन' नामक संस्था संचालित है। इसके माध्यम से देश भर की इसकी शाखाओं में 3,300 से भी अधिक बच्चे पल रहे हैं। जिन्हें उनके माता-पिता ने निर्मम होकर मरने के लिए बेकार मानकर फेंक दिये थे। वे मदर टैरेसा से प्यार पा रहे हैं उन्हें सुयोग्य नागरिक बनने की शिक्षा दीक्षा के लिए इन केन्द्रों में पर्याप्त प्रबंध है।

कलकत्ता के काली मन्दिर के पास ही एक धर्म शाला में 'निर्मल हृदय' स्थापित है। मृत्यु की प्रतीक्षा रत लोगों के लिए इसमें से सुश्रुषा की व्यवस्था है। इस तरह के 32 केन्द्र देश भर में संचालित हैं, जिनम 2000 से भी अधिक बेसहारा मरणासन्न रोगियों को वात्सल्यता भरी मानसिक शांति एवं सुश्रुषा उपलब्ध करवाई जाती है।

कलकत्ते के पास ही शांति नगर में कोढ़ियों के लिए उन्होंने 34 एकड़ भूमि में इलाज के लिए पुनर्वास व रोजगार के लिए साधन जुटाये हैं। इस तरह के 67 केन्द्रों के द्वारा 44,000 से भी अधिक कोढ़ियों की चिकित्सा व रोजगार की व्यवस्था की जाती है।

स्कूलों डिस्पेन्सरियों मातृ एवं शिशु कल्याण गृहों, रिलीफ सेन्टरों आदि के माध्यम से हजारों बच्चों, बीमारों, अनाथों, विकलांगों, आदि को सहायता दी जाती है। इस प्रकार 'समाज सेवा' को नहीं 'मानव सेवा' को सेवा का मूल केन्द्र मानकर 'मदर टैरेसा' ने मूक मानवता की बहुमूल्य सेवा की है। उनकी सेवा संस्थाओं का जाल तेजी से फैलता जा रहा है, यह अत्यन्त शुभ बात है, पीड़ित मानवता के लिए उनके प्रयास हम सबके लिए मूक उपदेश भी हैं ही। काश हम उनसे कुछ सीख पाते।

सरलता की मूर्ति

'सादा जीवन उच्च विचार' की मूर्तिमत्त प्रतीक मदर का जीवन अत्यन्त सादा है। व्यक्तिगत सामग्री के नाम पर प्लास्टिक की एक बाल्टी, कुछ कपड़े, भजनों एवं प्रार्थनाओं की पुस्तकें उनके पास हैं। जो भी भोजन सदन में सबके लिए बने उसे वे अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण कर लेती हैं।

नित्य प्रति प्रातः 4-30 बजे उठकर वे स्नान ध्यान और प्रार्थना से निवृत्त होकर पैदल ही कुछ साथियों के साथ गरीबों की गन्दी बस्तियों में चली जाती हैं। जो भी सहायता का पात्र नजर आता है चाहे वह पशु पक्षी हो या मनुष्य हो उनसे वात्सल्य भरी सहायता पाता ही है।

उनकी मानव सेवा का यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चल रहा है। इटली, श्रीलंका, आयर लैण्ड, आस्ट्रेलिया, न्यूगिनी, इंग्लैण्ड, मध्यपूर्वी देश, अफ्रीका एवं लेटिन अमेरिका में भी।

आश्रम के एक सदस्य ने एक आत्मीय चर्चा के दौरान कहा था :—"'मां' शब्द केवल मैंने पढ़ा था। किताबों और किस्सों में उसके वात्सल्य की चर्चाएं और अतिश्योक्ति पूर्ण वर्णन पढ़ता सुनता रहा हूं। पर मदर टेरेसा के वात्सल्य से भीगा मैं अनुभूति कर पाया हूं कि मानव जीवन म आखिर 'मां' का महत्व क्या है।"

इस प्रकार करुणामूर्ति मदर टेरेसा मूक पीड़ित मानवता की सेवा में निःस्वार्थ भाव से लगी लोकनायक हैं। उनके सेवा भावी व्यक्तित्व और करुणामय कृतित्व से हमें प्रेरणा लेकर मानव सेवा म कुछ क्षण अवश्यमेव समर्पित करना ही चाहिए। 'मां' के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित इस प्रकार से संभव है। आइए, हम शुरुआत तो कर।

तमिल साहित्य में राम कथा के कुछ प्रसंग—बारहवीं शताब्दी तक

सुरेश पंत

अनादि काल से भारत की संस्कृति सामासिक रही है। कुछ चरित-कथाओं की व्यापकता ने सभी भाषा-भाषियों को एक ही भावधारा से जोड़कर देश की भावात्मक एकता को बनाए रखने और सुदृढ़ करने का कार्य किया है। तमिल भाषा भारतीय भाषाओं म ही नहीं, विश्व की प्राचीनतम भाषाओं में एक है और इसका साहित्य न केवल परिमाण में अपितु गुणवत्ता और विविधता में भी अपना वैशिष्ट्य रखती है। प्राचीनता में संस्कृत को इसके समकक्ष रखा जा सकता है किन्तु सदियों से संस्कृत आम व्यवहार की भाषा नहीं रही। एक समय उसका साहित्य कितना ही समृद्ध रहा हो, अब उसमें साहित्य रचना नहीं के बराबर ही होती है। तमिल के लिए यह गौरव की बात है कि उसकी साहित्यधारा आज तक अक्षुण्ण है।

दक्षिणी प्रायद्वीप के मनोरम प्राकृतिक वातावरण में पल्लवित तमिल तथा अन्य भारतीय भाषाओं में परस्पर आदान-प्रदान की भी सुदीर्घ परम्परा रही है। इसका एक उज्जवल उदाहरण है—रामकथा। इसमें संदेह नहीं कि राम-कथा को काव्य के रूप में निबद्ध करने का श्रेय आदिकवि बाल्मीकि को है, किन्तु यह कहना बहुत कठिन है कि भारतीय जनमानस म रामकथा का प्रारम्भ कहां से, कैसे हुआ। विद्वान वेदों में भी रामकथा के बीज ढूंढते हैं। ऐसी स्थिति में तमिल साहित्य में राम-कथा बाल्मीकि-रामायण के माध्यम से पहुंची या उससे भी पूर्व आसेतु हिमाचल लोकविश्रुत थी—यह निर्णय करना सरल नहीं।

तमिल साहित्य का प्रारंभ महर्षि अगस्त्य के ग्रंथ 'अगत्तियर' से माना जाता है। इस ग्रन्थ का उल्लेख मात्र मिलता है, विषयवस्तु के बारे में अधिक जानकारी नहीं मिलती। अगस्त्य के ही एक शिष्य द्वारा रचित लक्षणग्रन्थ 'तोल्काप्पियम्' से तमिल का क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। ग्रंथकार तमिल-प्रदेश को पांच भूभागों में बांटता है—कुरंजि निलम् (पर्वत-प्रदेश), मुल्लैनिलम् (वन प्रदेश), मरुदम् निलम (कृषि योग्य मदान), नेइदल निलम् (समुद्रतटीय प्रदेश) और पालैनिलम् (बंजर प्रदेश)। सारी सामाजिक व्यवस्था इन्हीं पांच प्राकृतिक भूभागों पर आधारित थी। तत्कालीन तमिल-प्रदेश में प्रकृति-पूजा प्रधान थी, तथापि इन पांचों भूभागों के अधिष्ठातृ देव क्रमशः इस प्रकार थे—शेयोन् (स्कंद), मायोन् (विष्णु), वेन्दन् (इन्द्र), वरुणन् (वरुण) और कोट्रवै (दुर्गा)। मुल्लै-प्रदेश के आराध्यदेव मायोन या तिरुमाल ही आगे चलकर विष्णु के रूप में प्रतिष्ठित हुए और विष्णु के विविध अवतारों की कथा इन्हीं के चतुर्दिक बुनी जाने लगी।

तमिल साहित्य में रामकथा के स्पष्ट उल्लेख ईसा की पहली शताब्दी से ही मिलने लगते हैं। प्रथम शताब्दी की रचना 'एट्टुतोखै' के कुछ संकलनों में रामकथा का उल्लेख मिलता है। इसी काल की रचना 'परिपाडल' में यद्यपि विष्णु संबंधी भक्ति-गीत ही हैं—तथापि उनमें राम का उल्लेख मिलता है। एक स्थान पर कहा गया है कि तिरुपरंकुंद्रम् में स्थित तिरुमाल के मन्दिर में अहिल्या-उद्धार का चित्र बना है। मन्दिर में आने वाले दर्शक उसकी प्रशंसा करते हैं। इसी युग के अन्य काव्य संग्रहों—'नेडुन्तोखै', 'अकना नूरु' और 'पुरनानूरु' में भी रामकथा के कुछ प्रसंग विद्यमान हैं। 'अकनानूरु' में रामबनवास का एक प्रसंग है। सीताहरण के बाद राम पांड्यदेश के दक्षिण में एक वटवृक्ष के नीचे बैठे हैं और सीता को लिवा लाने की योजना बना रहे हैं। तभी उस वृक्ष के पक्षियों के कलरव से कुछ क्षणों के लिए उनके कार्यक्रम में बाधा पड़ती है। 'पुरनानूरु' में एक कवि की चर्चा है जिसे पुरस्कार में आभूषण मिले थे। वह उन आभूषणों के प्रयोग के बारे में ऐसा ही अनभिज्ञ था जैसे सीता द्वारा अपहरण के समय फैंके गए आभूषणों से बंदर अपरिचित थे। इन संघकालीन संकलनों में रामकथा के प्रसंग यत्र-तत्र बिखरे हैं।

संघोत्तरकाल (200-500 ई०) को 'पंचमहाकाव्य काल' भी कहा जाता है। इस युग में दक्षिण के बौद्ध और जैन मतों का प्रचार-प्रसार प्रारंभ हो गया था, फिर भी रामकथा को साहित्यकारों ने विस्मृत नहीं किया। पांचों महाकाव्यों में विशिष्ट 'शिलप्पदिकारम्' में कवि एक स्थल पर कहता है—'उस कान से क्या लाभ जिसने तिरुमाल के रामावतार की कथा नहीं सुनी।' एक अन्य स्थल पर कहा गया है—'तीनों लोकों को नापने वाले तिरुमाल के चरण वनयात्रा के समय पीड़ा से लाल हो गए।' दूसरे महाकाव्य 'मणिमेखलै' में राम के द्वारा रामेश्वरम् में सेतु का निर्माण तथा राम की जीत और रावण की हार का उल्लेख है।

आठवीं शताब्दी तक पल्लव-शासनकाल के अन्तिम चरण में भक्ति आंदोलन अपने चरम उत्कर्ष पर था। कृष्णोपासना के साथ रामोपासना का भी पर्याप्त प्रसार हो चुका था। इसे आलवारों का युग भी कहते हैं। आलवार संख्या में बारह थे और उनकी वाणी 'नालायिर दिव्य प्रबंधम्' में संग्रहीत है। आलवार सिद्धान्ततः एकेश्वरवादी हैं और विष्णु के सभी अवतारों को एक मानते हैं, किन्तु इनमें कुलशेखर आलवार राम के विशेष भक्त हुए हैं।

कुलशेखर आलवार का समय ईस्वी सन् की नवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध समझा जाता है। उनकी रचनाओं का पांचवां भाग रामावतार से संबंध रखता है, जिसमें इष्टदेव राम के प्रति अत्यंत कोमल एवं गंभीर भक्ति प्रदर्शित की गई है। रामकथा में इनकी आसक्ति की अनेक जनश्रुतियां मिलती हैं। कहते हैं एक बार एकाकी रामचन्द्र द्वारा खर दूषण आदि अनेक राक्षसों का सामना करने का प्रसंग आ जाने पर उन्होंने आवेश में अपनी सेना को उनकी सहायता के लिए कूच करने की आज्ञा दे दी और उनके मंत्रियों को यह विकट स्थिति, अंत में, बड़ी कठिनाई से संभालनी पड़ी। एक अन्य अवसर पर सीताहरण की कथा सुनकर सेनापति को लंका पर चढ़ाई करने का आदेश दे डाला। एक बार तो सीता को रावण से छीन लाने के उद्देश्य से वे सहसा समुद्र की ओर दौड़ पड़े थे और उसे तैरकर पार करने के प्रयत्न से किसी भांति रोके गए।

कुलशेखर की रचना 'पेरुमाल तिरुमौली' में राम के लिए कौशल्या का लोरी गाना, वनगमन, दशरथ-विलाप आदि के प्रसंग हैं। अंतिम भाग में संपूर्ण रामकथा संक्षेप में दे दी गई है। राम-वनगमन के समय दशरथ के हृदय-द्रावी विलाप में उनकी पीड़ा की पराकाष्ठा है। 'तुम्हारा विवाह कर तुम्हें सुखी देखने के बदले मैं तुम्हें भयानक वन में भेजने का कारण बना, जबकि मुझे इस उम्र में वनवास करना था। मेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े हो रहा है। कौशल्या को तुमसे 'मां' कहलाने का सौभाग्य तक नहीं दे सका।' अन्तिम पंक्तियों में तो दशरथ की मर्मांतक पीड़ा अभिव्यक्त हुई है :—

का नक मे मिक विरुम्बिनी तुरन्द
पलनगरैं तुरन्द नानुस्
वानकमे मिक विरुम्बि पोकिन्रेन
मनुकुलत्तार तंगल कोवे।

'जैसे तुम समृद्ध अयोध्यानगर को छोड़कर वनमार्ग में जा रहे हो, वैसे ही मैं भी इसे छोड़कर आकाशमार्ग को जा रहा हूं।'

इनकी कुछ लोरियां (तालाट्टु) तो आज भी तमिल माताएं गाती हैं। एसी ही एक लोरी इस प्रकार है —

मन्नु पुकल कौ सलै तन् मणिवयिरु वाइतवैन
तेन्निलंक कोन् मुटिकल् चिन्तुवित्ताय सेम्पोन्सरे
कन्नि नन्मा मदिल पुटैचूल कणपुरत्तिन करुमणिये
यन्नुडैय इन्नमुदे इराधवने तालैलो।

'जगत प्रसिद्ध कोशल-नरेश की पुत्री की कोख से जन्में, लंकापति रावण के सिरों को लुंठित करने वाले मेरे दिव्यामृत हे राघव। सो जाओ।'

यद्यपि रामकथा को लेकर आलवारों ने कोई प्रबन्ध-काव्य नहीं लिखा, वह युग महाकाव्यों का था भी नहीं, तो भी रामकथा को कविता का विषय बनाकर विधिवत रामकाव्य का सृजन आलवारों ने ही किया है। उनसे पूर्व तमिल साहित्य में रामकथा के कुछ प्रसंगों का यत्र-तत्र उल्लेखमात्र ही मिलता है।

दक्षिण में रामोपासना का सर्वाधिक प्रचार वस्तुतः बारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। यही समय कंबन् का है। तमिल के रामसाहित्य-सागर में कंबन् प्रकाश स्तम्भ के रूप में उभरते हैं। तमिल की रामकाव्य परम्परा में आलवारों के बाद कंबन् ही महत्वपूर्ण हैं। उनकी अमर रचना 'रामावतारम्' 'कंब रामायणम्' के नाम से आज भी तमिल प्रदेश में उसी श्रद्धा से पढ़ी जाती है जैसे हिन्दी भाषियों में रामचरित मानस। रामावतारम् में यद्यपि घटना क्रम और पात्र योजना बाल्मीकि रामायण की ही भांति रखी गई है, किन्तु वर्णनशैली, चरित्रचित्रण, प्रकृति-वर्णन और ऐसी ही अनेक काव्यात्मक स्थितियों में कंबन् पूर्णतः मौलिक है और कहीं-कहीं तो बाल्मीकि को भी पीछे छोड़ गए हैं। बाल्मीकी के राम कंबन् के लिए परब्रह्म परमात्मा है। उन्हें परब्रह्म ब्रह्म दिखाते हुए भी संपूर्ण मानवोचित कार्यकलापों में उस परमात्म तत्व की संगति बिठाने का कार्य कंबन् ने किया है जो बाल्मीकी से दुष्कर है-- यही कंबन् की विशेष सफलता है। तुलसी तक को राम की पारमात्मिकता स्थापित करने के लिए शिव-पार्वती प्रसंग की उद्भावना करनी पड़ी है।

प्रत्येक पात्र की सूक्ष्मातिसूक्ष्म मनोभावनाओं को कंबन् ने शब्द दिए हैं। विवाह से पूर्व सीता और राम के परस्परावलोकन पर कवि कल्पना करता है--'प्रेम से सनी दृष्टि से एक दूसरे को देखते हुए धनुर्धारी राम और परमसुन्दरी सीता ने दृष्टिमार्ग से ही मानो एक-दूसरे के हृदय में प्रवेश किया'--

परुकिय नोक्कु एनुम् पासन्ताल् पिणित्तु
ओरुवरै ओरुवर तम् उल्लम् ईर्त्तलाल्
वरिसिलै अण्णलुम् वाट्कण् नंगैयुम्
इरुवरुम् मारिप्पुक्कु इदयम् एइदिनार्

कंब रामायणम् जहां तमिल साहित्य की अमूल्य निधि है वहीं तमिल साहित्य में रामकथा की महानतम उपलब्धि भी। परवर्ती युग में भी तमिलेत्तर दक्षिणभारती भाषाओं में कंब रामायण के अनुकरण पर अनेक रामकाव्य लिखे गए।

समस्त भारतीय साहित्य वस्तुतः एक ही सांस्कृतिक परम्परा का परिचायक है। भौगोलिक और भाषाई भिन्नताएं तो केवल सतही हैं। रामकाव्य उत्तर के हों या दक्षिण के, संस्कृत में या तमिल, हिन्दी या किसी अन्य भारतीय भाषा में, वस्तुतः एक ही सूत्र में पिरोए विभिन्न रूप-आकार-गंधवाले पुष्पों से निर्मित हार के समान हैं। यही भारतीय संस्कृति की विविधता में एकता के प्रतीक भी हैं।

कोंकणी साहित्य

उदय एल० मेम्ब्रो

पश्चिमी भारत के बम्बई से कोचीन तक के तटवर्ती क्षेत्रों में बोली जाने वाली और साहित्य रचना की भाषा कोंकणी में मराठी और गुजराती की तथा अन्य आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं की विशेषताएं विद्यमान हैं। सावंतवादी, गोवा और कारवाड़ की तो यह आम जनता की भाषा है। बम्बई और मंगलौर शहरों में कोंकणी भाषा बोलने वालों की संख्या काफ़ी है और केरल में तो यह मलयालम के बाद दूसरे नम्बर की भाषा है।

कोंकणी क्षेत्र विभिन्न शासनों के आधीन रहने से इस भाषा का उस तरह विकास नहीं हो सका जिस प्रकार अन्य भाषाओं का हुआ। लेकिन यह मरी नहीं। कोंकणी भाषी जिस क्षेत्र में रहे उन्होंने वहां की लिपि में अपनी रचनाएं कीं। इतिहास के प्रवाह ने कोंकणी भाषियों को चार साँस्कृतिक खण्डों में विभक्त कर दिया—पुर्तगाली, मराठी, कन्नडी और मलयालम। 1855 में पहली बार गोवा में कोंकणी को पुनः जीवित करने का प्रयास किया गया। 1880 में ईसाई समाज में कोंकणी के पैर जमे। पुर्तगाली-कोंकणी और कोंकणी-पुर्तगाली शब्दकोश तैयार किए गए। वामन बड़े बालाउनिका ने कोंकणी के पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया। वे बहुत विद्वान थे और उनके प्रयत्नों से ही आधुनिक कोंकणी आन्दोलन आरम्भ हुआ। भाषा के परिष्कार और साहित्य में कोंकणी की आत्मा का समावेश इनका मुख्य लक्ष्य था। उन्होंने 16 पुस्तकें लिखीं जो आधुनिक कोंकणी साहित्य भंडार की अमूल्य धरोहर है।

इनसे पूर्व कोंकणी साहित्य आन्दोलन गोवा और मंगलौर के कैथोलिक सम्प्रदाय तक सीमित था, उनकी रचनाएं उच्च कोटि की न होते हुए भी लोकप्रिय थी और उनसे जनता की साँस्कृतिक आवश्यकता की एक हद तक पूर्ति हुई। गोवा में कोंकणी साहित्य रोमन लिपि में रचा गया और मंगलौर में कन्नड़ी लिपि में। 1894 में एडवर्डो बुनो डी सूजा ने पाक्षिक पत्र उदेन्तेचेग सल्लोक प्रकाशित किया। प्रो० जोक्विम एन्टोनियो फ़र्नान्डिस ने आमचो साडवोन्डार की रचना की जो कोंकणी साहित्य की मानी जाती है। उदेन्तेखेम नेकतर और डोर मोहनशची रोट्टी यद्यपि धार्मिक पत्रिकाएं थीं फिर भी इन्होंने कोंकणी को साहित्य की भाषा के रूप में निखारने में अमूल्य योगदान दिया। इस कार्य को फ़ादर ए० परेरा आदि ने आगे बढ़ाया। फ़ादर डा० परेरा की पुस्तक ओनवल्लम जो रोमन लिपि में लिखी गयी कोंकणी के आधुनिक साहित्य की श्रेष्ठ रचना मानी जाती है।

कन्नड़ भाषी क्षेत्र में कोंकणी भाषी जनता ने कन्नड़ी लिपि अपनायी। 1878 में कोंकणी का पहला शब्दकोश और पहला व्याकरण रचा गया जो कन्नड़ी लिपि में थे। 'दिरवेम' (1912) के प्रकाशन के साथ ही नए युग का उदय हुआ। लघु-कथाओं कविताओं और गीतों की बड़ी संख्या में रचना की गयी। इसके पहले सम्पादक लुइस डि मेसकेरेन्हास की कविता अब्रन्न-बान्वेम यादना-दान (अब्राहम का बलिदान) श्रेष्ठ रचना है। अगले सम्पादक पेड्रो जोआओ सूजा पहले व्यक्ति थे जिन्होंने कोंकणी रचनाओं को धार्मिक क्षेत्र से बाहर निकाला और वे कोंकणी गल्प साहित्य के पिता कहे जाते हैं। 'दिरवेम' ने अनेक उच्चकोटि के साहित्यकारों को जन्म दिया। अनेक कवि, कथाकार नाटककार और उपन्यासकार प्रकाश में आये। 1940 तक 'दिरवेम' साहित्य जगत का अग्रदूत बना रहा। 'दिरवेम' के बाद "राखनो सुख-दुख" मोहन्नारी और मित्र ने अनेक नयी प्रतिमाओं का पथ प्रदर्शन किया।

इतिहास की करवटों के कारण कोंकणी साहित्य तीन लिपियों में लिखा गया। ये तीन लिपियां थीं, देवनागरी, रोमन और कन्नड़। 1950 के दशक में गोवा के स्वतन्त्रता संघर्ष ने कोंकणी साहित्य को नयी प्रेरणा दी। कोंकणी साहित्य परिषद् ने विशेष प्रयास किया। देवनागरी को कोंकणी की मुख्य लिपि बनाने के लिए विशेष प्रयत्न किए गए और सभी ने सर्व सहमति से इसे स्वीकार किया। इसके बाद कोंकणी साहित्य में एक नयी पीढ़ी का अभ्युदय हुआ जो साहित्य रचना देवनागरी लिपि में करती है। रोमन और कन्नड़ लिपियों का प्रयोग अब भी होता है लेकिन वह सिर्फ़ उनके साहित्य के लिए जो अधिक उम्र के लोग हैं और नयी लिपि नहीं सीख सकते।

गोवा के स्वतन्त्रता संग्राम (1946-1961) का भाषायी क्षेत्र पर विशेष प्रभाव पड़ा। बी० बी० बोरकर और लक्ष्मण-राव सरदेसाई के स्तर के साहित्यकारों ने जनता के निकट पहुंचने के लिए कोंकणी को अपनाया। सामाजिक-राजनीतिक साहित्य की रचना हुई और कोंकणी में पत्रकारिता खूब पनपी।

बोरकर ने न केवल कोंकणी में काव्य रचना की बल्कि एक साप्ताहिक पत्र 'पोरजेश्रो ग्रावाज' (जनता की ग्रावाज) प्रकाशित किया। उनके गीतों के संग्रह का कोंकणी में ग्रनुवाद किया ग्रौर कोंकणी की क्षमता तथा सौन्दर्य से सबको ग्रवगत कराया। उन्होंने खलील जिब्रान के 'पैगम्बर' का ग्रनुवाद किया जो हाल ही में प्रकाशित किया गया। यही नहीं उन्होंने लागेरकिस्ट के उपन्यास बरब्बास, केवल के मराठी नाटक 'सानशाही-कल्लोल' ग्रौर विनोबाजी के गीता प्रवचन का ग्रनुवाद किया। उनकी 'काव्य-नाटिका' 'संजीवनी' कोंकणी साहित्य की महत्वपूर्ण रचना है। कोंकणी संस्कृति पर उनका निबन्ध कोंकणी संस्कृतायें कोंकणी विरासत पर प्रकाश डालता है। लक्ष्मणराव सरदेसाई ने निबन्धों के ग्रलावा ग्रनेक सुन्दर लघु कथाएं लिखी ग्रौर कोंकणी को ऐसा गद्य साहित्य दिया जिस पर कोई भी भाषा गर्व कर सकती है।

रवीन्द्र केलकर ने गांधी स्मारक निधि की सहायता से गांधी जी की कुछ बुनियादी रचनाग्रों को कोंकणी में प्रकाशित कराया जिनका ग्रनुवाद गांधीवादी ग्रार० एन० नाईक ने किया। उन्होंने टैगोर की गीतांजलि ग्रौर उमर खय्याम की रुबाईयात का भी कोंकणी में ग्रनुवाद किया। गजानम राहकर ग्रौर ग्रभिजित की काव्य रचनाएं उल्लेखनीय हैं।

ग्राजादी के संघर्ष के दौरान ग्रनेक पत्र पत्रिकाग्रों के प्रकाशन से कोंकणी भाषा का विचार साहित्य खूब विकसित हुआ ग्रौर कोंकणी भाषा बलवती होकर ग्रपनी बात मनवाने की स्थिति में ग्राने लगी। इसी ग्रवधि में ग्राकाशवाणी के बम्बई ग्रौर दिल्ली केन्द्रों से कोंकणी के कार्यक्रम प्रसारित होने लगे जिससे तीन विभिन्न लिपियों की दुनिया में रहने वाले कोंकणी लेखक एक मंच पर ग्रा गए ग्रौर कोंकणी सम्मेलनों के द्वारा एकीकरण की प्रक्रिया तेज हो गयी।

गोवा की मुक्ति के बाद साहित्य-सृजन के द्वारा उन्मुक्त हो गए। सभी प्रकार का साहित्य फलने-फूलने लगा। प्रतिबन्ध हटा लिए जाने से कुछ ही समय में ग्रनेक पत्र पत्रिकाग्रों का प्रकाशन ग्रारम्भ हो गया। ग्रौर लेखकों, कवियों, नाटककारों की नई पीढ़ी सामने ग्रायी। लघु कथा, एकांकी, निबन्ध ग्रादि जो वर्षों से गतिरोध में फंसे थे मुक्त हो गए ग्रौर उनमें नई जान ग्रा गई। नई विधा ग्रौर नया कथ्य इनको गति देने के लिए काफी था।

गोवा की मुक्ति के बाद के पहले छह वर्षों में भाषा-विवाद बहुत तीव्र हो गया था ग्रौर कोंकणी का साहित्य कोंकणी मातृ-भाषा के पक्ष में रचा गया। चूंकि कोंकणी कविता के लिए बहुत उपयुक्त है इसलिए इस ग्रवधि में काव्य रचना ग्रधिक हुई। मनोहर राय सरदेसाई के काव्य संग्रह 'गोवा-ए तुजेग्रा मोगा खातिर' (ग्रो गावा तेरे लिए)" ने कोंकणी काव्य को नयी दिशा ग्रौर नया कथ्य दिया। इनके दूसरे संग्रह जैयत जाग की कविताग्रों का स्वर समाजवादी है।

इसी बीच ग्रार० वी० पंडित की कविताग्रों के पांच संग्रह प्रकाशित हुए जिन्होंने एक तूफान खड़ा कर दिया। इनकी कविता परम्परा से बन्धी नहीं है, नयी लाम, नई शब्दावली ग्रौर नई विधा। उन्होंने भी पीड़ित जनवर्ग की पीड़ा को उभारा है। उनमें किसान की शक्ति ग्रौर मिट्टी की गन्ध है। पंडित की रचनाएं दुनिया की 16 भाषाग्रों में ग्रनुदित हुई ग्रौर इस प्रकार उन्होंने कोंकणी साहित्य को विश्व भर में पहुंचा दिया। कोंकणी के इस साहित्यकार का विश्व के ग्रनेक देशों में सम्मान हुग्रा ग्रौर उन्हें पुरस्कृत किया गया।

पांडुरंग मंगी की कविताग्रों में विशेषकर उनके काव्य संग्रह "दिस्तावो" (दृष्टि) में ग्रात्मा की तड़प है। नागेश करमाली की कविताग्रों में एक स्वतन्त्रता सेनानी का जोश ग्रौर साहस है। शंकर भंडारी की गीत रचनाएं ग्रौर व्यंगात्मक कविताएं श्रेष्ठ हैं। उदय भीमराव ने कुछ उत्कृष्ट गीत रचे हैं।

गोवा राज्य बन जाने के बाद की पीढ़ी ने भी कोंकणी काव्य साहित्य का भंडार भरा है। माधव बोरकर, प्रकाश पद गांवकर, रमेश वेल्लूसकर, पुरुषोत्तम सिंह बल पुणलिक नारायण नाईक ग्रादि का नाम उल्लेखनीय है। बालोविन्ही गोमेस ग्रौर जैसे फर्नान्डिस दो प्रतिभाशाली कवि हैं।

मुक्ति के बाद के कथाकारों में चन्द्रकांत केनी, दामोदर मोजो, शीला नाईक, मीना गायतोंडे, सुरेश काकोदकर ग्रौर कवि पुण्डालिक नारायण नाईक का नाम उल्लेखनीय है। केनी, मोजो ग्रौर शीला नाईक, ने कोंकणी लघुकथा को ग्राधुनिक कथा साहित्य के प्रवाह से जोड़ दिया है।

पुण्डालिक केलेकर, ग्रच्युत तेतेकर, गोविन्द मुद्राम ग्रादि ने कथा लेखन कला को मांजा है। हास्य व्यंग्यकारों में ऊधाराम के० मुख्यकर ग्रौर ए० एन० महमवो का विशिष्ट स्थान है। उन्होंने परम्परा से जकड़ी समाज व्यवस्था पर कड़े प्रहार किए हैं। नाटक साहित्य की भी कोंकणी में निरन्तर श्रीवृद्धि हो रही है। रामचन्द्र शंकर नाईक ने ग्रनेक नाटकों की रचना की है। पुण्डालिक डांडो के नाटकों से कोंकणी मंच समृद्धशाली बना। मुक्ति के बाद विनय सुरलाकर, चन्द्रकांत परसेकर, रामकृष्ण जुवारकर ने नाटकों की बाढ़ ला दी। इसके बावजूद यह भी सत्य है कि कोंकणी में ग्रभी महान मौलिक नाटककार पैदा होना है।

ब्रजभाषा काव्य के कीर्ति स्तम्भ जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

डा० रमाकान्त शर्मा

आधुनिक युग में सांस लेते हुए भी जिनका मन मध्यकाल में ही रमता था ऐसे कवियों में रत्नाकर प्रमुख हैं। ब्रजभाषा-काव्य अपने आप में मध्यकालीन प्रवृत्ति का द्योतक है और रत्नाकर उसके अन्तिम कीर्तिस्तम्भ थे। ब्रजभाषा-काव्य के बुझते हुए दीपक की लौ रत्नाकर के रूप में एक बार अन्तिम रूप में अपनी भभक दिखला गई है।

रत्नाकर ने अपने काव्य के लिए जो विषय चुने हैं वे परम्परा-पिष्ट और पौराणिक हैं। उनके द्वारा गृहीत पौराणिक कथाएं प्रायः अपने मूल ढांचे में जकड़ी रही हैं। आधुनिक युग के अनुरूप उन्हें एक नया अर्थ देकर नया सन्दर्भ में ग्रहण करने की चेष्टा रत्नाकर ने नहीं की है। उनके अतीतकालीन संस्कार इतने प्रबल रहे हैं कि उनके कारण वे अपने युग से पूरी तरह कट गए हैं। कोई साहित्यकार अपने देश-काल से किस सीमा तक अछूता रह सकता है ये देखना हो तो रत्नाकर का काव्य इस प्रश्न का बहुत अच्छा उत्तर हो सकता है।

फिर भी रत्नाकर के काव्य में कोई ऐसा तत्व है अवश्य जिसने उन्हें हिन्दी-साहित्य का एक उल्लेखनीय कवि बना दिया है और जिसके कारण उनके नाम के बिना हिन्दी के प्रमुख कवियों की सूची अधूरी-सी लगती है। इस दृष्टि से उनके काव्य की सबसे बड़ी उपलब्धि भ्रमर गीत--प्रसंग का नूतन उत्थान है।

बिरह बिथा की कथा

रत्नाकर की सबसे अधिक प्रसिद्ध कृति 'उद्धव-शतक' की कथा का आधार श्रीमद्भागवत है। हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य की एक लम्बी परम्परा रही है। सूरदास और नन्ददास जैसे समर्थ कवियों ने भी इस कथानक को अपने काव्य में स्थान दिया था। ऐसे समर्थ कवियों की काव्य रचना के मुकाबिले में खड़े होना बहुत बड़े आत्म विश्वास का परिणाम था। रत्नाकर के काव्य ने यह सिद्ध कर दिया है कि रत्नाकर का यह आत्मविश्वास उनकी अपनी काव्य-सर्जन-प्रतिभा के अनुरूप था। सूरदास और नंददास की भ्रमरगीत-प्रसंग सम्बन्धी काव्य-रचना के सामने रत्नाकर की तत्सम्बन्धी रचना किसी भी प्रकार हीन दिखलाई नहीं देती, प्रत्युत उसमें कुछ ऐसा दिखलाई देता है जो उससे पहले की रचनाओं में दिखलाई नहीं पड़ता। सूर की गोपियां बहुत ही अल्हड़, मस्त, जिन्दादिल और खुली हुई हैं। वे उद्धव को ऐसा छकाती हैं कि उन्हें छटी का दूध याद आ जाता है। अपनी-कृष्ण-निष्ठा में डूब कर वे अपनी लगन के बहाव में ऐसी बह जाती हैं कि उद्धव की एक नहीं सुनती, उसे बोलने का मौका ही वे नहीं देतीं, उसके उपदेश को वे हवा में उड़ा देती हैं और उद्धव उनकी वाचालता के सामने ठगा-सा रह जाता है, उसकी बुद्धि ही काम नहीं करती। नंददास की गोपियां तर्क के सहारे उद्धव के दृष्टि-कोण को गलत सिद्ध करने की चेष्टा करती हैं। इसके विपरीत रत्नाकर की गोपियां अपनी पीड़ा के बल पर अपनी निरीहता से पाठक को प्रभावित करती हैं। उद्धव-शतक आरम्भ से अन्त तक दर्द में डूबा हुआ है। कृष्ण राधा के शरीर की गन्ध की याद दिलाने वाला व उसी के समान नीचे से ऊपर तक मुरझाया हुआ फूल सूंघते ही 'हाय' कह कर अचेत हो जाते हैं। बाद में उद्धव से 'बिरह बिथा की कथा अकथ महा' कहने का प्रयत्न करते हैं लेकिन कह नहीं पाते--

गहबरि आयो गरो भभरि अचानक त्यों
प्रेम पर्यो चपत चचाम पुतरिन सों।
नेक कही बैननि अनेक कही नैननि सौं
रही सही सोउ कहि दीनि हिचकोन सों।

उद्धव शतक में प्रेम की पीड़ा एक पक्षीय नहीं है। सूरदास और नन्ददास के भ्रमरगीत प्रसंग से ऐसा आभास होता है कि प्रेम निभाने की सारी जिम्मेदारी और उसके लिए सारा आग्रह जैसे, गोपियों की ही ओर से था, किन्तु रत्नाकर ने दोनों पक्षों को प्रेम-विह्वल और विरहाकुल दिखाया है। उन्होंने गोपियों की वेदना से पहले ही कृष्ण की वेदना अंकित की है और गोपियों के प्रेम की गहराई चाहने से पहले कृष्ण के मन में ब्रजभूमि की याद से उत्पन्न बेचैनी चित्रित की है। ब्रजभूमि की याद मानों रह-रह कर उन्हें बुलाने आती है--

सुधि ब्रजवासिनी दिवैया सुख रातिनि की
ज्यों नित हमको बुलावन को आवति॥

फिर भी यदि वे जा नहीं पाते तो उसका कारण कोई बड़ी मजबूरी होगी। यह तो स्पष्ट ही है कि ब्रज के स्नेहमयी जीवन की तुलना में मथुरा का वैभवसम्पन्न जीवन उनकी दृष्टि में महत्वपूर्ण न था। कृष्ण के विचार से संपूर्ण त्रलोक्य का वैभव भी गोकुल के रजकण और घास-पात की समता नहीं कर सकता था--

गोकुल की रज के कनूका औ तिनूका सम
सम्पति त्रिलोक की बिलोकन में आवे ना॥

कृष्ण प्रेम की पीर से तड़पते दिखलाई देते हैं, उधर गोपियाँ वियोग की घड़ियां पल गिन-गिन कर बिताती हैं। उद्धव उन्हें योग का उपदेश देते हैं, किन्तु गोपियों का वियोग-व्यथित जीवन

किसी भी प्रकार योग-साधना से कम नहीं था। योगी तो वस्त्र ही रंगाते हैं, उन्होंने तो अपने मन ही कृष्ण रंग से रंग डाले थे, योगी शरीर में भस्म रमाते हैं, इन्होंने तो अपने शरीर को ही वियोग की अग्नि में भस्म कर दिया था, योगी एक सांस में कई दिन निकाल देते हैं, लेकिन गोपियों के लिए तो एक सांस ही इतनी लम्बी हो जाती है जितना कि पूरा एक जन्म, योगी के मन में वैराग्य होते हुए भी मुक्ति-कामना रहती है, लेकिन गोपियों के लिए भोग और मोक्ष दोनों ही अग्राह्य हैं। उनके हृदय के घाव सदा हरे रहते हैं।

उद्धव-शतक में प्रेम की पीड़ा कृष्ण और गोपियों तक ही सीमित नहीं है, उनका प्रसार उद्धव तक भी है। कृष्ण को प्रेम की पीड़ा से व्याकुल देख कर उद्धव स्वयं इतने व्याकुल हो जाते हैं कि उनका मन उनके वश में नहीं रह जाता। जब वे गोपियों की प्रेम-विह्वलता से परिचित होकर लौटते हैं तो उनके

प्रेम-मद-छाके पग परत कहां से कहां
थाके अंग नैननि सिथिलता सुहाई है।

रत्नाकर ने कृष्ण और गोपियों के प्रेम-सम्बन्ध में जिस घरेलूपन की झांकी दिखलाई है उसके परिणामस्वरूप प्रेम-सम्बन्ध में एक अपूर्व अन्तरंगता का समावेश हो गया है। यह अंतरंगता पर्व और उत्सव के अवसरों पर विशेष रूप से कृष्ण की याद दिलाती है क्योंकि इन अवसरों पर कृष्ण के मन में विशेष उत्साह रहा करता था। इसलिए जब दिवाली आती है तो गोपियों को कृष्ण के गोधन-पूजन, पकवान चखकर अपनी प्रशंसा करने और अनुरोधपूर्वक गोपियों को दीपमालिका दिखलाने ले जाने तथा गोवर्द्धन धारण करने की बातें याद आती हैं और उन्हें चिन्ता होती है—

आवत दीवारी बिलखाई ब्रजवारी कहैं
अबकै हमारे गांव गोधन पुजै हैं को।
कहै "रत्नाकर" विविध पकवान चाखि
चाव सौं सराहि चख चंचल चलै है को।
निपट निहोरी कोरि हाथ निज साथ ऊधौ
दमकति दिव्य दीपमालिका दिखै है को।
कबूरी कबूर हैं उबरि न पावै कान्ह
इन्दु-कोप-लोपक गुवर्धन उठै हैं को ।।

उद्धव-शतक में वैभव और प्रेम के द्वन्द के संकेत भी यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं। एक ओर कृष्ण की दृष्टि में त्रैलोक्य की सम्पत्ति भी ब्रज के रजकणों और घास-फूस की बराबरी नहीं कर सकता तो दूसरी ओर गोपियां भी मथुरा की वैभव सम्पन्नता की तुलना में गोकुल के प्रेममय जीवन को अधिक मूल्यवान मानती हैं। वे चुनौती भरे शब्दों में कृष्ण के मथुरा-प्रवास के सम्बन्ध में पूछती हैं—

षट्रस व्यंजन तो रंजन सदा ही करै
ऊधौ नवनीत हूं सप्रीति कहूं पावें हैं।
कहै रत्नाकर विरद तो बखानै सबै
सांधी कहौ केते कहि लालन लडावें हैं।

गत्यात्मक भाव-निरूपण

उद्धव-शतक यद्यपि कथा-काव्य है, फिर भी उसका स्वरूप मुक्तक का ही है। उसमें एक मनःस्थिति एक पद में निहित रही है। दो पदों के मध्य परस्पर कोई शृंखला दिखलाई नहीं देती। पद्यों का पूर्वापर सम्बन्ध टूटा-टूटा सा लगता है। इसके विपरीत एक ही पद्य के भीतर प्रायः भाव-गति के दर्शन होते हैं। प्रत्येक पद्य की अपनी एक भाव-गति है। हर पद्य में भाव का स्वतन्त्र उठान दिखलाई देता है, फिर वह भाव उसी में धीरे धीरे फैलता दिखलाई देता है और अन्त में वह फैलाव सिमट कर परिसमाप्त हो जाता है। अगले पद्य के साथ पुनः यही क्रम दिखलाई देता है।

सांकेतिक शैली

रत्नाकर मनःस्थितियों का चित्रण करते हुए भाव के सीधे कथन अथवा वर्णन से प्रायः बचे हैं और इसलिए उन्होंने व्यंजना-शक्ति का भरपूर उपयोग किया है। नीचे से ऊपर तक मुरझाये फूल को सूंघ कर कृष्ण के अचेत होने की घटना इस सांकेतिक शैली का सुन्दर उदाहरण है। इसका और भी अधिक उत्कर्ष उस पद्य में दिखलाई देता है जिसमें गोकुल से लौटे उद्धव के मुख से वर्षा ऋतु में गोपियों के तड़पने का वर्णन करवाया गया है। उद्धव यह नहीं कहते कि वर्षा ऋतु में गोपियों का वियोग और अधिक उद्दीप्त हो जाता है, बल्कि वे कहते हैं कि बरसाने में पानी ही न जाने कैसा बरसता है कि जिससे सारी गोपियां जल-जल जाती हैं (जबकि सामान्यतया वर्षा होने पर लोग शीतलता का अनुभव करते हैं)—

ज्वालामुखी गिरितैं गिरत द्रवे द्रव्य कैंधों
बारिद पियौ है बारि बिष के सिवाने में।
कहै 'रत्नाकर' कै कालो दांव लैन-काज
फेन फुफकारें उहिं गांव दुख-साने में ।।
जीवन वयोगिनि को मेघ अंचयो सो किधौं
उपध्यो पध्यौ न उरताप अधिकाने में।
हरि हरि जासौं बरि बरि सब सारी उठै
जानै कौन बारि बरसत बरसाने में ।।

अंगचेष्टाओं का चित्रण इस सांकेतिकता का एक साधन रहा है। अनेक स्थानों पर कवि ने अंगचेष्टाओं का चित्रण कर मनोगत भावों को जीते जागते रूप में अपने काव्य में उतार दिया है। उद्धव जब गोकुल से लौटने लगते हैं तो गोपियां कृष्ण से सन्देश भेजने के स्थान पर उद्धव से कुछ ऐसी अंगचेष्टाओं का अभिनय करने को कहती हैं जिनसे उनकी वेदना स्वतः कृष्ण के सामने स्पष्ट हो जायेगी—

आह के कराहि नैन नीर कछु अवगाहि
कहि को चाहि हिचकी बेरहि जाइयो ।।

लौटते समय उद्धव को कृष्ण को देने के लिए भेंट दी जाती है उनमें राधा द्वारा प्रदत्त बांसुरी की भेंट में भी एक अर्थपूर्ण संकेत निहित है जिससे रत्नाकर के काव्य की अर्थ-गरिमा में वृद्धि हुई है।

भाषा-प्रयोग और अलंकार

रत्नाकर की भाषा कोमलकान्त पदवली युक्त एव प्रवाहमयी है। उसमें अनुप्रास जनित संगीतात्मकता का समावेश व्यापक रूप से देखने को मिलता है। 'पटरस-व्यंजन तो रंजन सदाही करे, नवनीत हूं सप्रीत कहूं पावें हैं, पांसुरी उमांहि कबौं बांसुरी बजावे हैं', में आंतरिक तुक सम्पन्नता दिखलाई देते हैं। उद्धव-शतक में इस प्रकार के प्रयोगों की संख्या स्वल्प नहीं है। इसके अतिरिक्त दमकति दिव्य दीपमालिका, कूबरी के कूबर ते अवर न पावे, जैहै व्यथा विषम बिलाइ, बिरह विथा की कथा अकथ महा, आसन दे सांसन समेटि सकुचनि तैं, जमुना में जलजात एक देख्यो जात, थरकति बांह थामि थहरि थिराये लेति जैसे प्रयोगों में भी अनुप्रास का अपेक्षाकृत अधिक दूरगामी निर्वाह भी दिखलाई देता है, जैसे—

कहा कहैं ऊधो सौं कहै हूं तौ कहालौ कहैं
कैसें कहैं कहै पुनि कौन सी उठान तें।

लेकिन रत्नाकर की प्रवृत्ति अर्थालंकारों की ओर अधिक रही है। रूपक-रचना में वे सिद्धहस्त हैं। वियोगनि गोपियों को वर्षा ऋतु का रूप देते हुए उन्होंने सांग रूपक की रचना की है। इसी प्रकार सुयश कमानें के उत्साह में ज्ञान का सौदा करने के लिए गोकुल जाते हुए उद्धव की ज्ञान-गठरी खुलने के रूप में उन्होंने सांग रूपक की गतिशील सृष्टि की है। जलाने वाले जल की वर्षा के प्रसंग में सन्देह अलंकार का सुन्दर उदाहरण दिखलाई देता है।

निष्कर्ष

स्पष्ट है कि रत्नाकर न केवल भाव-संकुल काव्य-रचना के कारण बल्कि सांकेतिक शैली, अनुभाव-चित्रण, गतिशील भाव-निरूपण, कोमलकांत पदावली से सम्पन्न संगीतात्मक भाषा-प्रयोग तथा अर्थालंकारों के कौशलपूर्ण उपयोग की दृष्टि से भी उच्च कोटि के कवि सिद्ध होते हैं।

पृष्ठ 11 का शेष

यह तथ्य गीता के निम्न श्लोक से भी पुष्ट होता है :
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रिया :।

दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्तं मोक्ष काङिक्षभिः ।।
गी० 17.25

'उस उस क्रिया के प्रारम्भ में ॐ का उच्चारण करने का यही अभिप्राय है कि 'तत्' (परमात्मा का नाम) नाम से कहे जानें वाले परमात्मा का ही यह सब कुछ है, इस भावना से फल को न चाह कर नाना प्रकार की यज्ञ, दान तथा तप रूप क्रियाएं कल्याण की इच्छा करने वाले पुरुषों द्वारा की जाती हैं।'

इस प्रकार हमारे कथन का यही निष्कर्ष निकला कि उस प्रसिद्ध अक्षर का अभिधेय शब्द ब्रह्म ॐ है और इस अक्षर का ज्ञान कराने वाली विद्या परा विद्या है। परा विद्या से हमें इस तथ्य का बोध होता है कि प्रत्येक मंत्र के उच्चारण से पूर्व तथा प्रत्येक कर्म को करने से पहले ॐ का उच्चारण करना चाहिए जिससे उपासक अनासक्त होकर प्रत्येक क्रिया करता रहे और परम कल्याण को प्राप्त कर सके।

(क्रमशः)

हिन्दी-क्षेत्र के लोक नाट्य और उनकी परम्परा

डा० लक्ष्मी नारायण दुबे

परिप्रेक्ष्य और परिपाटी

हिन्दी भाषा भाषी प्रदेशों में लोक नाट्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन और परिपक्व रही है। उसका मूल उत्स संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में अन्वेषित किया जा सकता है।

चिन्तकों का स्पष्ट अभिमत है कि लोक नाट्य का मूलाधार नृत्य है। इसीलिए बुन्देलखण्ड में राई नृत्य या आदिवासियों के करमा नृत्य को लोक नाट्य का ही स्वरूप प्राप्त है। जार्ज बर्नाडशा ने भी इसी मत की सम्पुष्टि की थी : नाटक हमारी दो उद्दाम प्रवृतियों के सम्मेलन से पैदा हुआ है--नृत्य देखने की प्रवृत्ति और कहानी सुनने की प्रवृत्ति। अभिनय दर्पणकार का स्पष्ट कथन है कि मुख से गीत का संचार हो, हाथों की मुद्रा से अर्थ की स्पष्टता हो, नेत्रों से भावों का हो और ताल लय के अनुसार पद-संचारण हो--

आस्येनालम्ब ये द्गी तं हस्तेनार्थ प्रदर्शयेत् ।
चक्षुम्यां दर्शयेदभान पादाम्यां तालमादिशेत् ।।

हिन्दी प्रदेशों में बिहार में विदेसिया, उत्तर प्रदेश में रास, स्वांग तथा मध्यप्रदेश में नौटंकी इत्यादि में संगीत लोक नाट्य का प्रभुत्व है।

संस्कृत के गीत गोविन्दकार जयदेव ने लोक भाषाओं के गीतों तथा लोक नाटकों को सर्वाधिक रूप में प्रभावित किया है। लोक नाटकों में शब्द-संगीत का महत्व अधिक होता है, इसलिए बिहार के भिखारी ठाकुर के गीतों ने लोक नाट्यों को प्रभावित किया है।

लोक नाट्य जनपदीय संस्कृति के प्रोज्वल परिचायक हैं। इनमें प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों रूप सुरक्षित हैं। मध्यकालीन कवियों का इनसे निकट से परिचय था। जायसी ने अपने 'पद्मावत' के 'सिंहल द्वीप वर्णन खण्ड' में इनका बहुमुखी रूप प्रस्तुत किया है--

कतहूं कथा कहे कुछ कोई । कतहूं नाच कोउमल होई ।।
कहतूं छरहटा पेखन लाना । कतहूं पाखण्ड काठ नचाना ।।
कतहूं नाद सबद होई भला । कहहूं नाटक चेटक कल। ।।

डा० दशरथ ओझा ने लिखा है कि मध्यकाल में सादुल्ला नामक एक प्रसिद्ध लोक कवि हरियाणा प्रान्त में उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार बारहवीं तेरहवीं शताब्दी में अब्दुल रहमान नामक कवि ने अपभ्रंश में सन्देश रासक की रचना की, उसी प्रकार सादुल्ला नामक लोक कवि ने अनेक लोक गीतों और लोक नाटकों की रचना की उनके लोक गीत और लोक नाटकों की परम्परा उत्तरोत्तर विकसित होती गई। आज दिन भी इन लोक-नाटकों का इतना प्रचार है कि सांग-मंडलियां, दिल्ली जैसी नगरी में एक-एक नाटक खेलकर पांच-पांच सहस्त्र रुपये तक अर्जित कर लेती हैं और सहस्त्राधिक व्यक्ति खुले मैदान में रात-रात भर इन नाटकों का अभिनय देखते रहते हैं।

विभाजन तथा प्रतिपादन

(1) **रासलीला** : हमारे यहां रास की परम्परा प्रथम शताब्दी के पूर्व विद्यमान थी। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे गेय रूपक माना था। रासलीला समूचे उत्तर भारत में व्याप्त है। रास-नृत्य गुजरात के गरवा-नृत्य से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। गुजरात में 'रासड़ो' नामक एक ग्रामीण नृत्य भी मिलता है। लोक नाट्यों में कीर्तनिया, जावा और भवाई के ढंग रास के समीपवर्ती भूमिका के प्रतीत होते हैं।

रास-लीला का सीधा सम्बन्ध श्रीमद्भागवत से है। समूचा कृष्ण-जीवन इसमें घटनामय होकर अभिनीत होता है। इसमें ब्रजभाषा की मधुर सरस रास शैली की अभिव्यक्ति है। रास-नाटकों की तीन शैलियों अर्थात् जन नाटकों की धारा, अपभ्रंश के चरिउ और रासो--में से इसका सम्बन्ध प्रथम धारा के साथ हूं। इस शैली को विकसित तथा पुष्पित करने का श्रेय वैष्णव धर्म की लोकप्रियता तथा व्यापकता को है। महाप्रभु वल्लभाचार्य, महाकवि सूरदास, नन्द दास, महात्मा हित हरिवंश आदि ने इसकी समृद्धि में अपना विशेष योगदान दिया। वृन्दावन इसका प्रमुख केन्द्र है। रासलीला में वृन्दावन की स्तुति इन शब्दों में मिलती है--

राजपाट को नाहि करैया, ओढ़ि कमरिया गाय चरैया ।
रथ विमान पर नाहि चढ़ैया, गरुड़ पीठ पर नाहिं उड़ैया ।।

पावन पावन नंगे डोलों, ब्रजरज सम कोउ नाहि ।
जो रस बरस रहयो ब्रज मांही, याको दरसन औ कहुं नाहि ।।

रासलीला नाटक की परम्परा के श्रीगणेश करने का श्रेय नन्ददास को है। ध्रुवदास ने भी बयालीस लीलाएं लिखी थीं। चाचा बृन्दावनदास, दामोदर स्वामी, ब्रजवासीदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और वियोगी हरि की रास-लीलाएं साहित्यिक महत्ता से भी सम्पन्न हैं। इस शृंखला की अन्तिम कड़ी वियोगी हरि की 'छदम-वियोगिनी लीला' है। रासलीला कृष्णभक्त कवियों की देन है। इस लोक नाट्य में नृत्य तथा गीत का पूर्णावलम्बन होता है। कीर्तनिया नाटकों के भी नायक राधाकृष्ण हैं। इन लीलाओं का इतना प्रभाव पड़ा कि इनके अनुकरण पर नरसिंह लीला, भागीरथ लीला, प्रह्लाद लीला, नाग मोर की लीला, ग्वाल पहेली लीला, दान लीला, मान लीला मोर लीला, स्नेह लीला, यज्ञ लीला, सगारथ लीला आदि अनेक पुरातन तथा नूतन लीलाओं की सृष्टि हुई। श्रद्धा, भक्ति तथा आसक्ति के कारण आज भी ग्रामीण जीवन में रास लीलाओं के प्रति पूर्ण निष्ठा तथा प्रीति है।

(2) **रामलीला** : रामलीला का समारम्भ महाकवि तुलसीदास ने किया। रामलीला उत्तर भारत में ही नहीं प्रत्युत कंचित परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ समूचे भारत में प्रचलित है। भक्ति आन्दोलन के पूर्व भी रामलीला के संकेत मिलते हैं। लोकमंच पर राम की लीलाएं पूर्व रूप से विराजमान थीं। लवकुश ने रामकथा का गायन किया था। रामायण तथा महाभारत में उसके अभिनय सूत्र मिलते हैं। हरिवंश पुराण में रामलीला पर आधृत एक नाटक के अभिनीत किए जाने की चर्चा है। तुलसी ने उसे 'मानस' में व्यवस्थित रूप प्रदान किया। रासलीला में शृंगार की बहुलता है परन्तु रामलीला में स्थिति विपरीत है। भारतेन्दु की प्रेरणा से देवकी नंदन त्रिपाठी ने 'सीता-स्वयंबर', मधुकर ने 'रामलीला-विहार' तथा दामोदर शास्त्री ने 'रामलीला' नामक श्रेष्ठ नाटक लिखे। 'श्री रामलीला नाटक मण्डली' और 'रामलीला माच' ने विगत युगों में लोक नाट्य का इतिहास बनाया था। दक्षिण भारत की 'कथकली' में कहीं-कहीं रामकथा का आधार लिया जाता ह। दिल्ली तथा अयोध्या में रामलीला की धूम मचती है। रामलीला ने देश की अनेक नृत्य-मण्डलियों को प्रभावित किया है। इस लोकनाट्य में रंगमंच, वेशभूषा तथा रंगसज्जा के लिए कोई विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं होती। रामलीला ब्रह्मदेश, स्याम, बाली द्वीप, कम्बोडिया आदि देशों में भी मिलती है।

(3) (क) **स्वाँग**—स्वांग के दो रूप मिलते हैं : एक तो पूर्वी रूप जो कि हाथरस तथा एटा जिलों में प्रचलित है और दूसरा पश्चिमी रूप जो कि हरियाणा एवं रोहतक में उपलब्ध है। स्वांग नाटकों में पौराणिक ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा लौकिक सभी वृत्तों को समाविष्ट किया जाता है। राजा भर्तृहरि, गोपी चन्द, भक्त पूरनमल, हीर-रांझा आदि लोक नाटकों ने जनता के हृदय को लूट लिया है। जनता में इस दिशा में सर्वाधिक लोकप्रिय लोक नाट्यकार लखमीचन्द हैं। इन नाटकों में नारियों को भी विशेष महत्व मिला है। शृंगारिकता की फूहड़ता के कारण संत तुकाराम ने स्वांगों का विरोध किया था। कण्हपा तथा कबीर ने भी इनकी चर्चा की है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में स्वांग के उत्कर्षकर्ता रामगरीब चौबे तथा दीपचन्द थे।

(ख) **भगत** : भगतों में अनेक प्रकार की लीलाएं होती हैं। डा० सत्येन्द्र ने ब्रज में दो प्रकार की भगत की चर्चा की है—एक आगरावाली और दूसरी हाथरसवाली।

(ग) **नौटंकी**: नौटंकी, स्वांग अथवा भगत प्रकारान्तर से तीनों एक की नाट्य हैं। स्वांग में पुरातन, भगत में मध्यकाल और नौटंकी में रीतिकाल की ऐतिहासिक स्थिति संस्थित है। अमीर खुसरो ने नौटंकी को प्रभावित किया। राजशेखर ने इसे एक लौकिक तमाशा कहा था। जयशंकर प्रसाद ने इसकी व्युत्पत्ति 'नाटकी' से मानी। डा० रामबाबू सक्सेना ने नौटंकी का श्रीगणेश उस कविता तथा लोकगीतों से माना है। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में इसका प्रचलन हुआ परन्तु अट्ठारहवीं शताब्दी में इसको सर्वाधिक विस्तार मिला। मल्ल जाट, रावती राजपूत और रंगा जुलाहा—इसके प्रवर्तक थे। एक लोक कथा के अनुसार नौटंकी एक राजकुमारी थी जैसी कि सिंहल द्वीप की पद्मिनी। युवक फूलसिंह उसे अपने शौर्य से प्राप्त करता है। नौटंकी बाज ब्रज में नत्थाराम शर्मा गौड़ द्वारा लिखित 'संगीत नौटंकी शहजादी उर्फ अय्यारा औरत' को असली नौटंकी मानते हैं। हाथरस वाले नाथाराम या नाथा ने बीस नौटंकियां लिखी थीं परन्तु उनकी रामायण नौटंकी को बड़ी लोकप्रियता मिली। फरुखाबाद के तिरमोहन, कानपुर के श्रीकृष्ण, राधेश्याम कथावाचक तथा लम्बरदार प्रसिद्ध नौटंकी रचयिता हैं।

(4) **भवाई** : इस लोक नाट्य का मूल उद्गम स्थल राजस्थान तथा मालवा है। गुजरात में रणछोड़ भाई उदयराम ने इसकी अश्लीलता को दूर करने का विशेष प्रयत्न किया था। जाट, धाकड़, डांगी, भील, गूजर, लोदा, कुमागत आदि अनेक जातियों के भवाई राजस्थान मालवा में मिलते हैं। भवाई नाट्यों के कतिपय नाम इस प्रकार हैं—बोरा बोरी, सूरदास, डोकरी, लाड़ा-लाड़ी, शंकरिया, बीकाजी, बाधा जी, ढोला-मारु इत्यादि। भवाई के लोक नाट्यकर्त्ता भवाया या तारगाला कहलाते हैं। रासलीला के मुख्य वाद्य बांसुरी के समान भवाई का प्रमुख वाद्य मूगल है।

(5) **जुलूस तथा शोभा-यात्रा-नाटक** : हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों के जुलूस शोभा-यात्रा नाटकों में राम तथा कृष्ण का जीवन चित्रित है। ये नाटक प्रमुखतः प्रथाओं से सम्बन्धित हैं और इनमें लोक नाट्य का वैभव अभिव्यक्त होता है। सिंहासन राम डोल, कृष्ण झांकी आदि में इनका भाव्य प्रदर्शन होता है।

(6) प्रादेशिक लोकनाट्य

(क) **माच**—'माच' शब्द मालवी के मंच से बना है। यह मालवांचल का मुख्य एवं प्रभावपूर्ण लोक नाट्य है। इसके पूर्व मालवा में 'ढ़ारा-ढ़ारी' प्रचलित थे। माच का इतिहास एक शताब्दी पुराना

है। बालमुकुन्द गुरू, कालूराम उस्ताद तथा मेरु गुरु इसके प्रवर्तकों में से हैं। राधाकिशन गुरू, नाथू सिंह उस्ताद, सिद्धेश्वर सेन, मेवा राम परमार, रामजी लाल बंधु, लालाजी नंदराम, रामरतन दरक, शिवराम व्यास आदि ने इस लोक नाट्य की सफल परम्परा को अग्रसर किया है। इसकी मूल प्रवृत्ति श्रृंगारपरक है परन्तु इसका मालवा में जबर्दस्त प्रभाव है। माच साहित्य में पौराणिक, प्रेम कथात्मक, ऐतिहासिक तथा लोक कथात्मक रूप मिलते हैं। माच का मूल वाद्य ढोलक है।

(ख) **ख्याल**––माच तथा ख्याल में पार्थक्य होते हुए भी दोनों में तात्विक दृष्टि से एकत्व मिलता है। ख्याल राजस्थान में प्रचलित है। ख्याल उर्दू तथा फारसी की मिश्रित वस्तु है। यह भी अट्ठाहरवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी से प्रचलित है।

(ग) **राई नृत्य**––बुन्देलखण्ड का जन प्रचलित लोक नाट्य है। ये बेड़नियों के द्वारा नृत्य रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। और इनका लक्ष्य हास्य तथा श्रृंगार वृद्धि करना होता है। एक स्वांग-गीत द्रष्टव्य है :––

मन में बस गई मोरे, नैना रतनारे सूरत श्यामली।
राजा जिन मोई साव, कड़ गई लड़कपन की देहरा॥
जिन मारो नैना बान, जेखों लगे आई जाने।
राजा अब जिन सताव, कड़ गई लड़कपन की देहिरा॥

(ग) **कठपुतली का खेल**––आज इसका प्रधान संबंध राजस्थान के साथ है परन्तु इसकी परम्परा पुरातन काल से मालवा, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र तथा मलाबार प्रदेशों में रही है। भारतीय कठपुतली, मौजों वाली कठपुतली, सलाई वाली पुतली और चौड़ी पुतली––ये चार विशिष्ट प्रकार की कठपुतलियां होती हैं। राजस्थान में ऐतिहासिक आख्यानों तथा लोककथाओं को इनके माध्यम से प्रदर्शित किया जाता है। राजा अमरसिंह राठौड़ का शौर्य वर्णन इसका अत्यंत प्रख्यात खेल है। कुंवर सिंह की टेक भी प्रसिद्ध है।

(7) अन्यान्य लोकनाट्य

वृहत्तर हिन्दी क्षेत्र में अनेक लोकनाट्य प्रचलित हैं जिनमें प्रमुख उल्लेखनीय निम्नलिखित हैं :––

(क) **बिदेसिया**––यह भोजपुर तथा बिहार क्षेत्र का गीति नाट्य है।

(ख) **कड़ा**––यह राजस्थान की वीर रसपूर्ण नाट्य शैली है जिसमें नगाड़ा की टेक पर लोक कथा का गायन होता है।

(ग) **जट्ट जट्टवी**––मिथिला, उत्तर बिहार और भोजपुर में प्रचलित यह ग्राम्य गीतों से आपूर्ण लघु प्रहसन है जिसमें मैदान ही मंच होता है।

(घ) **भड़ैत**––यह भाण्डों का व्यवसाय है। लखनऊ, दिल्ली, वाराणसी, कन्नौज, मानिकापुर आदि में इनका धंधा जोरों पर है। ये लतीफे, लफ्फाजी, चुटकियां तथा वाक्पटुता से सबको मोह लेते हैं। चमेलियां लौंडी, अय्याराम कोरी, नाऊ, भटियारिन इत्यादि इनकी कतिपय लोकप्रिय भड़ैती हैं।

हिन्दी रंगमंच का निर्माण : लोकनाट्यों की भूमिका :

कृष्णलीला, रामलीला, रासलीला, जात्रा, की तिनिया नाटक, स्वांग, इन्दर सभा, व्यवसायिक पारसी थियेटर कम्पनियों आदि ने हिंदी रंगमंच के आरम्भिक निर्माण में महत्वपूर्ण तथा प्रभविष्णु भूमिका का सफल निर्वाह किया था। आधुनिक हिंदी के जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इन समस्त लोक नाट्य परम्पराओं का अध्ययन करके उनसे पूर्ण लाभ उठाया था। स्वांग तथा गीति नाट्यों ने हिंदी रंगमंच के विकास में नये युग का सूत्रपात किया था।

उपसंहार

रंगमंच लोक शिक्षा का अत्यंत प्रभावपूर्ण तथा शक्तिशाली माध्यम है। लोक नाट्यों के माध्यम से लोक जागृति, सर्वाधिक रूप में उन्नत की जा सकती है। हिंदी क्षेत्रों में अशिक्षा, गरीबी, रूढ़ियां तथा पिछड़ापन है। उसे दूर करने में लोक नाट्य तथा उनके सरल मंचों का भली-भांति उपयोग किया जा सकता है। समाज सुधार के अनेक अंगों यथा नारी शिक्षा प्रौढ़ शिक्षा, पुनर्विवाह तथा दहेज का उन्मूलन, अस्पृश्यता-निवारण आदि को लोक-नाट्यों के आश्रय से हिंदी क्षेत्रों में प्रचारित किया जा सकता है।

लोक साहित्य का सटीक मूल्यांकन करते हुए राल्फ विलियम्स ने लिखा था कि लोक-साहित्य न पुराना होता है न नया। वह तो उस वन्य वृक्ष के सदृश्य होता है जिसकी जड़ें अतीत की गहराईयों में घुसी होती हैं, मगर जिसमें नित नई शाखाएं, नई पत्तियां, नए फल निकलते रहते हैं।

गांधी जी की शिक्षा पद्धति के मूलतत्व

शम्सुद्दीन

बुनियादी शिक्षा को जन्म देने वाले राष्ट्र पिता महात्मा गांधी हैं। अतः इस शिक्षा के मूलतत्वों को समझने के लिए हमें महात्मा गांधी के जीवन दर्शन को समझना आवश्यक है। महात्माजी की प्रणाली शिक्षा के आधुनिक आधारभूत सिद्धान्तों पर आधारित है।

गांधीजी ने हरिजन नामक पत्रिका में शिक्षा संबंधी अपने विचार सन् 1937 के जुलाई अंक में प्रकाशित किए। उन विचारों का सारांश यह था कि बालक की वास्तविक शिक्षा उसका शारीरिक, बौद्धिक तथा नैतिक विकास है। साक्षरता अर्थात् अक्षर ज्ञान या लिखना पढ़ना ही शिक्षा नहीं है। यह तो साधन है, जिसके द्वारा वास्तविक व्यापक शिक्षा दी जा सकती है। महात्माजी बालक की आंतरिक मनोवृत्ति से परिचित थे। वह जानते थे कि बालक क्रियाशील होता है। वह चुप न रहकर कुछ न कुछ करते रहना चाहता है। अतः उसकी शिक्षा का प्रारम्भिक माध्यम अक्षर ज्ञान न होकर कोई कार्य होना चाहिए अतः महात्मा गांधी की बुनियादी शिक्षा बच्चे की क्रियाशीलता पर आधारित है। उस शिक्षा द्वारा बालक कुछ चीज़ बनाना सीखता है।

महात्माजी की बुनियादी शिक्षा का आधार दस्तकारी या हस्तक्रिया है। गांधीजी ने भारत की आर्थिक, नैतिक और सामाजिक परिस्थितियों का अत्यंत निकट से अध्ययन और अनुभव किया तथा अंत में वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि भारत के लिए ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो उसकी परिस्थितियों के अनुकूल तथा उसकी समस्याओं को हल करने में सहायक हो।

भारत की अधिकांश जनता गरीब और बेकार है। उन्हें उनके दैनिक जीवन की अत्यंत आवश्यक पदार्थ यानी भोजन, कपड़ा, और मकान भी नहीं मिलते हैं। ऐसी अवस्था में यदि उन्हें केवल बौद्धिक शिक्षा दी जाए जो उनके मस्तिष्क का विकास तो करे किन्तु उन्हें जीविका-उपार्जन के लिए योग्य न बनाए तो वह भारत के वातावरण के प्रतिकूल होगी और यहां के मनुष्यों के लिये उपयोगी न होगी। आज की अत्यधिक बौद्धिक शिक्षा का अधिकांश उत्तरदायित्व विदेशी अंग्रेजी सत्ता पर है। अंग्रेज यह कभी नहीं चाहते थे कि भारतीय घरेलू धंधों या उद्योगों में प्रवीण हों और अपनी आर्थिक स्थिति सुधारें, क्योंकि इससे वे भारतीयों को अधिक समय तक अपना गुलाम बनाकर रखने में असफल होते। दूसरे, वे भारत के लिये शिक्षा की कोई ऐसी महंगी योजना नहीं बनाना चाहते थे जिसमें उन्हें करोड़ों रुपये खर्च करने पड़ते, क्योंकि भारत की निर्धन परिस्थितियों से वे इतना धन प्राप्त नहीं कर सकते थे। इन सबका परिणाम यह हुआ कि भारतीय शिक्षा गरीबी और बेकारी की वृद्धि करती गई तथा लोगों को केवल बौद्धिक बनाती गई।

महात्मा जी ने इस चीज़ का बारीकी से अनुभव किया और उन्होंने शिक्षा को व्यावहारिक और उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया। भारतीय बालक गरीब होने के कारण अपनी फीस देने तथा किताब और अन्य आवश्यक चीज़ों को खरीदने में असमर्थ है। इसीलिये महात्मा गांधी ने अपनी शिक्षा को निःशुल्क रखा तथा उसका आधार दस्तकारी बनाया। बिना फीस की शिक्षा होने से प्रत्येक भारतीय बालक शिक्षा प्राप्त करने में समर्थ हो सकेगा तथा यदि किसी धंधे या उद्योग की शिक्षा उसे प्राप्त होगी तो उसके सहारे अपनी जीविका कमाने में समर्थ हो सकेगा और आर्थिक स्थिति अच्छी होगी।

शिक्षा का आधार कोई कार्य या उद्योग होना एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। अमेरिका के प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री श्री जान डिवी भी शिक्षा का केन्द्र दस्तकारी रखने के पक्ष में थे क्योंकि वह बाल-मनोविज्ञान के इस सत्य से परिचित हैं कि बालक कोई-न-कोई रचनात्मक कार्य करना चाहता है। उसके सिवाय बुनियादी शिक्षा में बालकों को शिक्षा का केन्द्र माना गया है। यह भी मनोविज्ञान पर आधारित है।

महात्मा गांधी की बुनियादी शिक्षा के निम्नलिखित प्रमुख सिद्धान्त हैं :—

(1) सात वर्ष की उम्र तक के बालकों की अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा हो।

(2) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

(3) शिक्षा दस्तकारी या किसी उद्योग द्वारा दी जाए।

(4) शिक्षा स्वावलंबी तथा आत्मनिर्भर हो।

अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा

जन्म लेते ही प्रत्येक बालक का यह जन्म सिद्ध अधिकार हो जाता है कि वह समाज या राज्य से ऐसी शिक्षा प्राप्त करे जिससे उसका भावी जीवन सुखी हो। अतः आधुनिक लोकतंत्रीय राज्य और समाज का यह प्रथम कर्तव्य है कि वह अपने प्रत्येक नागरिक

की उचित शिक्षा का प्रबंध करे। यह शिक्षा एक सीमा तक अनिवार्य तथा निःशुल्क हो ताकि प्रत्येक बालक उसका लाभ उठा सके।

(2) शिक्षा का माध्यम

अंग्रेजों के शासन काल में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण न केवल भारतीयों की भाषा, साहित्य, आचार-विचार तथा शिष्टाचार को धक्का पहुंचा वरन् इससे उनकी संस्कृति और सभ्यता की भी बड़ी हानि हुई। भारतीयों पर पाश्चात्य सभ्यता का गहरा प्रभाव पड़ता गया तथा वे अपने देश की संस्कृति को भूलने-से लगे। इसके लिये आवश्यक था कि शीघ्र-से-शीघ्र अंग्रेजी माध्यम हटाया जाए और शिक्षा का माध्यम स्वदेशी भाषा हिन्दी में रखा जाए।

इसके सिवाय अपनी मातृभाषा द्वारा हर व्यक्ति अपने विचारों को सरलता से प्रकट कर सकता है तथा उसमें उसे गहरी आत्मीयता या अपनेपन की भावना का अनुभव होता है। यह सर्व साधारण की भाषा होती है तथा इसके द्वारा किसी भी विषय का ज्ञान स्वाभाविक रूप से सरलतापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना मनोविज्ञान-सम्मत है। इससे न केवल मनुष्यों में एकता और आत्मीयता की वृद्धि होगी वरन् देश की संस्कृति, कला-कौशल तथा सभ्यता का भी विकास होगा।

(3) शिक्षा और उद्योग

महात्मा गांधी की बुनियादी शिक्षा का प्रधान ध्येय यह है कि बालक की शिक्षा उदार-ज्ञान अथवा लिखने-पढ़ने से आरंभ न होकर किसी कार्य या उद्योग द्वारा आरंभ होनी चाहिए। यह बात भी मनोविज्ञान पर आधारित एक सत्य है। बालक आरंभ में कोई चीज तोड़ने-बनाने में या किसी-न-किसी शारीरिक क्रिया में लगा रहता है। वह न तो खाली ही बैठ सकता है और न कुछ समय तक एकाग्र मन से किसी बात को सुन सकता है। ऐसी हालत में शिक्षा उसके लिए तभी उपयोगी हो सकती है जबकि उसका आधार कोई कार्य या उद्योग हो, जिसके द्वारा बालक अपनी रचना प्रवृत्ति का विकास करते हुए उसके द्वारा अन्य बौद्धिक विषयों की शिक्षा प्राप्त कर सके। विशेष कर भारतीय वातावरण में जहां किसानों और मजदूरों की दशा अत्यंत दयनीय है, शिक्षा उद्योग द्वारा अवश्य ही दी जानी चाहिए ताकि प्रत्येक भारतीय मानसिक और नैतिक विकास करता हुआ अपनी आर्थिक स्थिति को भी सुधार सके।

(4) शिक्षा स्वावलंबी हो

गांधीजी अपनी शिक्षा का रूप ऐसा बनाना चाहते थे जिससे प्रत्येक बालक स्वावलंबी तथा आत्मनिर्भर बन सके। यदि बालक स्वावलंबी तथा उद्योगी होगा तो वह स्वयं अपने पैरों पर खड़ा हो सकेगा और समाज तथा राष्ट्र के ऊपर भार स्वरूप न रहेगा। भारत की बढ़ती हुई गरीबी और बेकारी को दूर करने के लिए भी यह एक मज़बूत कदम है। इससे अमीर-गरीब तथा ऊंच-नीच का भेद भाव भी दूर होगा। इस संबंध में गांधी जी पर आरोप लगाया गया कि वे स्कूलों को कारखानों तथा बालकों को मजदूरों के रूप में परिवर्तित करना चाहते हैं, किन्तु यह धारणा गलत है। वास्तव में यदि हम आर्थिक पराधीनता से मुक्त होकर सामाजिक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं तो हमें गांधीजी द्वारा निर्धारित शिक्षा का स्वावलंबी रूप ही ग्रहण करना होगा।

इस प्रकार महात्मा जी के विचारों पर विस्तार से अध्ययन करने के बाद हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि महात्मा जी की बुनियादी शिक्षा भारत के वातावरण और परिस्थितियों के अनुकूल सबसे उत्तम शिक्षा है। इसमें शिक्षा के सभी आधुनिक सिद्धांत सम्मिलित हैं। कुछ लोग बुनियादी शिक्षा के विरोध में आरोप लगाते हैं कि इसमें बालकों को असीम स्वतंत्रता दी जाती है तथा उन्हें खेल में अधिक लगाया जाता है, किन्तु जो लोग मनोविज्ञान और भारतीय परिस्थितियों के प्रकाश में शिक्षा का अध्ययन करते हैं वे इस शिक्षा की महत्ता और उपयोगिता को स्वीकार किए बिना नहीं रह सकते।

बुनियादी शिक्षा के मूल आधारों पर विचार करने के बाद हमें इसमें कई विशेषताएं दिखाई देती हैं: (1) मनोवैज्ञानिक विशेषता, (2) सामाजिक विशेषता, (3) आर्थिक विशेषता, (4) सामंजस्य की योग्यता, (5) वातावरण की अनुकूलता, (6) श्रम की महत्ता, (7) व्यक्तित्व के विकास की योग्यता। ये सात बातें उपयोगी और महत्वपूर्ण हैं तथा आधुनिक शिक्षा सिद्धान्तों पर आधारित हैं। इनके द्वारा मनुष्य का शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास होता है।

बुनियादी शिक्षा पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषयों का समावेश किया गया है: (1) कला और दस्तकारी, (2) भाषा, (3) गणित, (4) सामाजिक अध्ययन, (5) साधारण विज्ञान तथा (6) शारीरिक स्वास्थ्य सुधार।

ये सभी विषय बालक के लिए उपयोगी तथा उसके विकास में सहायक सिद्ध होते हैं। कला और दस्तकारी से शिक्षा में सामंजस्य संभव होता है, भाषा शिक्षा के माध्यम के रूप में उपयोगी है, गणित दैनिक जीवन के हिसाब-किताब तथा लेन-देन में सहायक होता है, सामाजिक अध्ययन के विषय बालक को देश और समाज का ज्ञान कराने में मदद पहुंचाते हैं, विज्ञान बालक में अन्वेषण, अनुभव व प्रयोग की शक्ति बढ़ाता है तथा स्वास्थ्य सुधार बालक को सशक्त, सुरक्षित नागरिक बनाता है। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम में सभी विषय समाविष्ट हैं, जो बालक का पूर्ण विकास करने में सहायक होते हैं।

भारत गांवों का देश है और यहां की अधिकांश जनता गांवों में ही रहती है। अतः गांधी जी ने अपनी बुनियादी शिक्षा में ग्रामीणों की आवश्यकताओं का विशेष ध्यान रखा था। ग्रामीणों की प्रधान समस्याएं हैं: (1) शिक्षा में अरुचि (2) धन की कमी (3) शिक्षा और जीवन का असंबद्धता (4) व्यावहारिक ज्ञान की कमी (5) स्त्री-शिक्षा का अभाव तथा (6) शिक्षा में पूर्णता की कमी। बुनियादी शिक्षा में ग्रामीणों की इन सभी समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया गया है।

समाज सेवा

(1) उत प्राहामतिदीव्या जयाति कृतं यच्छ्वध्नी विचि नीति काले ।
यो देवकामों न धना रुर्णाद्धि समित् तं राया सृजति स्वधावान् ।
(ऋक० 10/42)

अच्छे कर्म और सद् इच्छा उचित समय पर कर अभिव्यक्त,
दिव्य भावना उत्तेजित कर निज महत्व के प्रति अनुरक्त ।
नष्ट न कर अपने हित अपनी ज्ञान-सम्पदा, हे कर्मठ जन,
और अधिक उन्नत हो, इसका यदि समाज को करे समर्पण ।
इच्छा-शक्ति बढ़ाकर अपनी, वीर, विजय से प्यार कर
रुक मत जाना जीवन पथ में बाधाओं से हार कर ।

(2) आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतो दब्धासो अपरीतासं उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्न प्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ।।
देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम् ।
देवाना सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ।। 2।।
(ऋक् ० 1/89)

हमें प्राप्त हो जन-समाज की बाधा-धोखा-हीन भावना ।
और करें मंगल भावों से हम समाज-कल्याण कामना ।
शुभ कर्मों में देव-गणों का नित्य अभय-आशीष प्राप्त हो ।
रहें लक्ष्य की ओर अग्रसर, प्रगति हमारी दिशा व्याप्त हो ।
सरल मार्ग से जाने वाले देवों का निर्देशन पाकर,
दीर्घ आयु हों, पूरा जीवन जियें, सुमति के पथ पर चलकर ।

घायल पुरोहित (आहत 'होता')

कंधों पर लदा हुआ अंधा-बूढ़ा अतीत,
वर्तमान का श्रवण घूम रहा तीर्थ-तीर्थ,
राह-घाट, हाट-बाट, इस पथ से उस पथ तक,
मृत्यु-दूत दशरथ तक,
आशंकित, छू रहे भविष्य-दंश से !
आदि-वंश से, आदि-वंश से !!

हर भ्रम की आहट पर रच पड़ते अश्व मेघ,
धोखा खा जाते हैं, दशरथ के शब्द भेद,
मर जाता वर्तमान, आहत 'होता' भविष्य,
रक्तिम समिधा-हविष्य,
आतंकित मानव-मन युद्ध-दंश से !
आदि वंश से, आदि-वंश से !!

संस्कृति की टकराहट बन जाती 'दाशराज्ञ',
शंबर के दुर्गों का भेद न हो जाता है,
मतभेदी जन-दर्शन, कर्म और भोग पथी,
देवासुर युद्ध-व्रती
संत्रासित संस्कृतियां कर्म-अंश से
भोग वंश से,
आदि-वंश से, आदि-वंश से !

वशीर अहमद मयूख

धार्मिक फिल्में संस्कृति के कितने समीप

—विश्वभावन देवलिया

धार्मिक फिल्में यूं तो भारत में चित्रपट के जन्मकाल से ही बनती चली आ रही हैं परन्तु शोभना समर्थ अभिनीत "रामराज्य" से धार्मिक फिल्मों का वास्तविक इतिहास प्रारम्भ होता है। तब से अब तक सैंकड़ों की संख्या में धार्मिक फिल्में बनाई और प्रदर्शित की जा चकी हैं।

धार्मिक फिल्मों पर बहस का विषय महत्वपूर्ण कहा जा सकता है लेकिन सारी बहस किसी एक "जय संतोषी मां" जैसी फिल्म की व्यावसायिक सफलता को लेकर या उसके बाद, उठाई जाए और धार्मिक फिल्मों का इंकलाब बोला जाए तो उसे मैं दिमागी खुराफात इसलिये कहूंगा कि आज इस देश में बनाई जा रही दो चार फिल्मों को छोड़कर तमाम फिल्में बच्चों के लिये हैं और किसी न किसी प्रकार की धार्मिकता उनमें ठूंसी गई होती है। फार्मूला फिल्मों में भी "धर्म" एक जरूरी मसाले के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। क्योंकि फिल्मों में प्रायः देवीदेवता, मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर क्रूस पर टंगे हुए इसामसीह, नमाज पढ़ते हुए पात्र, शंख-घंटा ध्वनि या आरती इत्यादि को नाना प्रकार से प्रस्तुत करके भावनात्मक उत्तेजना उत्पन्न की जाती है क्योंकि ये सब कार्य-व्यवहार कहीं न कहीं धर्म से जुड़े हैं और जिन फिल्मों में ये पिरोये जाते हैं ऐसी हर एक फिल्म धार्मिकता के समानान्तर चलती है इसके अतिरिक्त तरह-तरह के अंध-विश्वास, लटके, भाग्यवादिता और अति कल्पनाओं का जादू यह सिद्ध करता है कि हमारे मस्तिष्क में बहुत गहरे जमीं हुई धर्म की जड़ों का लागत से अधिक मुनाफा उठाया जा रहा है।

धार्मिक फिल्मों के बारे में अश्लीलता, ग्लेमर, केबरे, विकृत घटनाओं और नाच-गाने की भरमार तक बहस सीमित नहीं रखी जा सकती लेकिन यह सही है कि धार्मिक फिल्में धर्म के नाम पर दर्शकों को बेवकूफ बनाती हैं। सवाल यह भी उठता है कि ऐसी फिल्मों में नैतिकता होती कितनी है ?

हमारा सम्पूर्ण पौराणिक साहित्य अपने समय के सामाजिक परिवेश और उसके यथार्थ का प्रतिबिम्ब है, जिससे उन मूल्यों की स्थापना हुई थी, जिन्होंने समाज की आदर्श इकाई के अनुसंधान में श्रम किया। यह कहना गलत नहीं है कि हम आज जो कुछ भी हैं हमेशा नये होते जा रहे समाज किन्तु उसकी पौराणिक मान्यताओं की अभिव्यक्ति तो अवश्य ही हैं। किसी भी पौराणिक कथा को आधुनिकता के परिवेश में कभी भी प्रस्तुत किया जा सकता है। कल्पनाशीलता यदि जटिल न हो तो प्रत्येक पौराणिक रचना को हमारे आज के आदमी के प्रति प्रतिबद्ध और आधुनिक प्रतिमानों के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है, जो लोग यह सोचते हैं कि पौराणिक कथाएं केवल यही दिशा ज्ञान कराती हैं कि ईश्वर पर विश्वास रख कर संसार की हर मुश्किल को पार कर जाना सम्भव है। ऐसे लोग विचारहीन कहे जायेंगे, क्योंकि आज भी हमारे देश में वैचारिक क्षमता के ऐसे कितने लोग मिलेंगे जो केवल ज्ञान-विज्ञान के सहारे जी रहे हैं। अभी हमारे देश में ईश्वर की मृत्यु नहीं हुई है, और भविष्य भी ईश्वर के हाथ में है। ऐसी स्थिति में धार्मिक फिल्मों का निषेध नहीं किया जा सकता। लेकिन धार्मिक फिल्मकारों से यह अपेक्षा अवश्य की जा सकती है कि वे जो भी फिल्में बनायें उसकी पौराणिक कथा को अविश्वसनीय न बनायें। दूसरे ऐसी फिल्म की वैज्ञानिकता वही होनी चाहिये, जिसके हम उपभोक्ता हैं। उसका लोक-दर्शन वैभवपूर्ण तो हो किन्तु उसका चाक्षु रूप और अनुभूतियां अतिकल्पनाओं की डोरियों से बंधी हुई न हों, अन्यथा बाहर की बात तो नहीं कहता, हमारे ही देश के लोग अपनी ही सांस्कृतिक विरासत को संदेह और घृणा की दृष्टि से देखने लगेंगे। इसलिये यहां यह भी जोड़ना जरूरी है कि धार्मिक फिल्में मानसिक परिप्रेक्ष्य में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती हैं बशर्ते कि जिस परम्परा और फार्मूले में धार्मिक फिल्में बनाई जाती हैं उसे उसी प्रकार तोड़ा जावे जिस प्रकार 'सारा आकाश', 'फिर भी', 'अंकुर' 'अधूरी कहानी', 'उसकी रोटी' आदि फिल्मों ने फार्मूला फिल्मों की लीक को तोड़ने का काम शुरू किया। इसके लिये साहस चाहिए और यह साहस ढेर सारी अश्लीलताओं और नंगेपन और अंधविश्वास और विकृत दर्शन से नहीं आवेगा। इसके लिये अपनी जमीन और असली दिमाग होना जरूरी है।

ढेर सारी पतनोन्मुख प्रवृतियां केवल धार्मिक फिल्मों में ही नहीं तमाम सामाजिक फिल्मों में भी तेजी के साथ भड़भड़ाकर घुस आई हैं तथापि जीवन मूल्यों से कटी हुई फिल्में ढाई घंटे का सुख भले दे लें परन्तु आम जिन्दगी से अलग-अलग इनका स्थायित्व आखिर कुछ नहीं है और इस "कुछ नहीं" के लिये लाखों रुपया धार्मिक फिल्मों के बहाने लुटाया और लूटा जाता है। धार्मिक फिल्म निर्माण के पेट में 'दरबारी संस्कृति' लोर रही है जो कलात्मक कलाबाजी, विलासिता और पारम्परिक चमत्कारपूर्ण रहस्यों के जाल के बीच मकड़ी की तरह बैठकर भारतीय मनुष्य और सामाजिक जनमानस का आर्थिक और सांस्कृतिक शोषण कर रही है? धार्मिक फिल्मों का केन्द्रीय दृष्टिकोण धर्म और समाज के बीच संतुलन का होना जरूरी है। अतिशय कल्पना की उड़ान और रहस्यजाल पौराणिक कथाओं की प्रमाणिकता का प्रश्न खड़ा कर देता है और इसका जवाब इतना मुश्किल होगा कि इस देश की पौराणिक सामग्री शकास्पद होकर फेंकने लायक हो जावेगी और इसलिये धार्मिक फिल्मों को अपनी समुचित भूमिका का निर्वाह करने के लिये युग बोध के स्रोतों को टटोलने के साथ-साथ अपने आधुनिक परिवेश के यथार्थ बोध और युग-चेतना को प्रक्रिया से सीधा जुड़ना होगा। तभी भारतीय संस्कृति की रक्षा संभव है। अन्यथा यह आरोप सही है कि धार्मिक फिल्म निर्माता भारतीय संस्कृति की कब्र खोदने पर तुले हुए हैं और उसका कंकाल विकृत रूप से प्रस्तुत करके 'धार्मिक फिल्मों' के माध्यम से जनमानस को दूषित कर रहे हैं तथा सामाजिक प्रदूषण में उनका एक बड़ा समूह कार्यरत है।



शिला नगर में

'शिला नगर' में अपने इस नवीनतम काव्य संग्रह में कवि डा० श्याम सिंह शशि एक ऐसी मानसिकता को भाषा देते हुए प्रतीत होते हैं, जो शिला नगर की कठोरता में, अपने चारों ओर नंगी छायाओं से घिरे रहकर अकेलेपन का अथवा अपने परिवेश में घिरे रहकर एक बेचैनी का अनुभव करती रही है। एक संवेदनशील हृदय के लिए नगर का अजनबीपन औपचारिकता एक विवशता बन गई है। हृदय कवि डा० शशि की भावुक चेतना इस घुटनमयी दबोच में भी मर नहीं पाई है और सपाट भी नहीं हो सकी है, वरन् और अधिक संवेदना पूर्ण, तीखी और सूक्ष्म हुई है। इसका मुख्य कारण संवेदना के साथ 'दर्द' का जीवित बना रहना है। सम्पूर्ण संग्रह में दर्द की यह बेचैनी पाठक को अनुभव होती रही है। वास्तव में इस संग्रह की रचनाएं किसी 'वाद' विशेष में बंधकर नहीं आई हैं। गांव के सहज संस्कार शहरी औपचारिकता से टकराकर, गरीबी अमीरी का द्वन्द्व पूर्व-पश्चिम का आमना-सामना मानव हित और विज्ञान के आविष्कार, रूढ़ि अंधविश्वास और नागर सभ्यता की द्वन्द्वमयी मनस्थिति झुंझलाहट के रूप में कवि के मन को कचोटती रही है। जिसके जीवन में, चेतना में क्रांति की चिनगारी सुलग उठती है, उसे प्रशंसा का सारा वातावरण मारक प्रतीत होने लगता है। तभी तो कवि की चेतना पुकार उठती है 'गठबन्धन न करो मेरे प्रशसकों/मेरे हितैषियों तेरे श्रद्धालुओं मुझ पर अब और पुष्प न लादो। मुझे ईसा का क्रास न बनाओ। (पृष्ठ 104)

पीड़ा और व्यथा का जीवन में बहुत बड़ा भाग होता है। औपचारिकता में यदि जीवन का संवेदनशील अंग ही सुन्न पड़ जाए, थोथे आदर्शों के घात-प्रति घात यदि निष्ठुर बनादे तो भीड़े में घिरी हुई भी चेतना ऐसा ही अनुभव करेगी हर तरफ़ से हर किस्म के सांप ने इतना डसा है। नाग कालेका जहर भी अब असर करता नहीं है। (पृ०52) कवि का अस्तित्व शिलारूप 'अवसर' की कठोरता से टकराता रहा है और उस टकराहट से जो स्फुलिंग निकले हैं, वे अधिकांश रचनाओं में अनुभव किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए "ओक्खां पहाड़ां रा जीणा" रचना है। इसमें कवि को लगा है कि पर्वत की घाटियों में जो जीवन है, उनकी सम्पूर्ण ऊर्जा रूढ़ियों के द्वार पर समर्पित है। जंगल के वे गुमनाम गुलाब खिलते तो हैं, खुशबू भी फैलाते हैं, परन्तु उनका व्यक्तित्व और कृतित्व 'गुंगा देव' की बलि चढ़ता रहता है। इसीलिए कवि अपने विश्वास से अवश्य भावी परिवर्तन को रावी के बहाव में 'लाल रंग' देख रहा है (पृ० 16) यहीं कवि को बड़े-बड़े आदर्श-शिखर काले-कलूटे और विद्वान लगते हैं। वह सोचता है कि रूढ़ि की रस्सी से बंधे इस जन जीवन के पुल को दोनों ओर से कब ठोस धरती मिल पाएगी।

प्रतीक संकेत मयी एक कविता है 'महानगर में कठफोड़वा'। इस लम्बी रचना में काव्य थोड़ी ही पंक्तियों में हैं, परन्तु है बहुत जीवन्त, नाटकीय तत्वों के सहारे रचना का प्रारम्भिक और अन्तिम अंश दृष्टव्य है 'मेरा वैरागी प्रश्न/किसी अज्ञात नशे में विक्षिप्त महानगर के द्वारे द्वारे फोड़ता है सिर चोंचों से।' (पृ० 69) उत्तर के स्थान पर मेरा कठफोड़वा कूटने लगता है अपनी ही चोंचों (पृ० 63) कवि को लगता है कि महानगर के द्वारों के भीतर ही जीवन के प्रश्न को बन्दी बना लिया गया है। इसका समाधान उन बन्द द्वारों को अनावृत करने में जन जीवन के लिए खोल देने म है। पर, इन निपट कपाटों को खोलना कठफोड़वे की चोंच के खट खट मात्र से सम्भव नहीं है। इस रचना में आपात् स्थिति में व्याप्त बुद्धिजीवियों की विवशता की परिस्थिति बड़ी सामर्थ्य से व्यंजित हुई है।

'आधुनिकता का कैंसर' रचना के सारे प्रतीक नये होने पर भी अपरिचित और अप्रभावी नहीं लगते। व्यंजना के माध्यम से कृषि ने सामाजिक-सांस्कृतिक ह्रास का रूपक प्रस्तुत किया है। आज भी वैज्ञानिक दाय मानवीय संवेदना से तालमेल नहीं खा पा रही है। कवि को विज्ञान के परिवेश में समूची मानवीय संवेदना मशीन के सांचों में फिट होकर आंकड़े तैयार करती हुई सी प्रतीत हुई है। 'आदमी और आदमी और आदमी' में रचनाकार ने आदमी के अन्दर छिपे सिहक, लोभी, कामुक रूप का नगेटिव बड़ी पैनी दृष्टि से झांक कर प्रस्तुत किया है। उसने प्रत्यक्ष देखा है कि आदमी के भीतर छिपा भेड़िया अवसर की तलाश में घूर रहा है, जब कि बाहर से वह धर्माचारी का लिबास धारण किए है।

'सामूहिक भोग' की विचारोत्तेजक परिस्थिति से भी 'शिला नगर' का रचनाकार जूझा है। सामूहिक भोग की समस्या सामाजिक व्यवस्था के लिए जटिल प्रश्न है। शिला नगर का कवि सेक्स के प्रति खिलवाड़ स्वीकार नहीं कर पाया है। तभी तो वह खीझ कर रह उठा है—'गांधी और विनोबा-सा देव महात्मा मत बनाओ मुझे। बस भीड़ में खोया मामूली मनुज ही रहने दो मुझे। पुस्तक निश्चय ही नयी कविता के पाठक के लिए उपयोगी है।

डा० रमेशचन्द्र मिश्र

लेखक परिचय

1. चन्द्रशेखर मिश्र, अस्सी वाराणसी,

2. शीला गुजराल, भारतीय दूतावास मास्को (रूस)।

3. डा० सरोज बजाज, 6-3-862, अमीर पेठ, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)

4. लक्ष्मी चन्द चितारा, प्राध्यापक राजकीय महाविद्यालय बाड़मेर (राजस्थान)।

5. ओम प्रकाश वेदालंकार, तारघर के सामने डी० एल० एफ० कालोनी, रोहतक-124001।

6. दुर्गाशंकर त्रिवेदी, प्रबन्ध सम्पादक; दैनिक सोशलिस्ट समाचार मकबरा बाजार, कोटा-324006,

7. सुरेश पन्त, सी० 4 सी० 14/10 जनकपुरी, नई दिल्ली-110058।

8. उदय एल० मेम्ब्रो, पब्लिकेशन सिंडिकेट 1, तानसेन मार्ग, बंगाली मार्केट, नई दिल्ली।

9. डा० रमाकान्त शर्मा, हिन्दी व्याख्याता राजकीय कालेज, बाडमेर (राजस्थान)।

10. डा० लक्ष्मी नारायण दुबे, असिस्टेन्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग सागर विश्वविद्यालय, सागर (म० प्र०)।

11. शम्सुद्दीन 7/150 बैजनाथपारा, रायपुर, (म० प्र०)।

12. बशीर अहमद मयूख, श्लान, विज्ञान नगर कोटा-5।

13. विश्वभावन देवलिया 906, कमला नेहरू नगर जबलपुर 482002 (म० प्र०)।

14. डा० रमेश चन्द्र मिश्र राम लाल आनन्द कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

विशेष सूचना

1. यदि आप पत्रिका संस्कृति के ग्राहक हैं तो कृपया नये वर्ष (1978) के लिये वार्षिक चन्दा जल्द से जल्द भेजने की कृपा करें।

2. यदि नहीं तो जल्द से जल्द इसके ग्राहक बनने की कृपा करें। इस पत्रिका का वार्षिक चन्दा केवल चार रुपये है।

3. ग्राहकों से निवेदन है कि मंत्रालय से पत्र व्यवहार करते समय संदर्भ संख्या अवश्य दर्शायें। संदर्भ संख्या दर्शाने से पत्र व्यवहार में दोनों को सुविधा होगी।

4. पत्रिका संस्कृति में प्रकाशित प्रत्येक रचना का पारिश्रमिक दिया जाता है। सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर उच्चकोटि की मौलिक रचनाएं सादर आमन्त्रित हैं।

सदस्यता फार्म

निदेशक (हिन्दी प्रकाशन)
शिक्षा, समाज कल्याण तथा संस्कृति मंत्रालय
(शिक्षा विभाग),
सी०-102, शास्त्री भवन,
नई दिल्ली ।

महोदय,

मैं श्री/श्रीमती/कुमारी .... वर्ष ....
के लिये संस्कृति का वार्षिक ग्राहक बनना चाहता/चाहती हूं । वार्षिक चन्दा (चार रुपए) मनीआर्डर द्वारा
भेजा जा रहा है । नकद दिया जा रहा है । मेरा पता निम्नलिखित है ।

नाम तथा पता

एक प्रति का——एक रुपया ....

वार्षिक——चार रुपए ....

दिनांक ....

टिप्पणी :——यदि आप 'संस्कृति' पत्रिका के ग्राहक हैं और आपने अपना चन्दा नहीं भेजा है तो कृपया
जल्द से जल्द चन्दा भेजने की कृपा करें ।

859 Deptt. of SW/77

मन्त्रालय की अन्य हिन्दी पत्रिका

शिक्षा विवेचन

●यह पत्रिका प्रत्येक वर्ष जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्तूबर में त्रैमासिक रूप में छापी जाती है।

●इस पत्रिका में, इस मन्त्रालय की अंग्रेजी की पत्रिका 'दि एजूकेशन क्वार्टरली' में छपे लेखों का हिन्दी अनुवाद छापा जाता है। इसमें शिक्षा सम्बन्धी विचारों, समस्याओं और सामाजिक विषयों की व्यवस्था होती है। पत्रिका में शैक्षिक रुचि के महत्वपूर्ण प्रश्नों और भारत तथा विदेशों में हो रही शैक्षिक और युवा कल्याण की गतिविधियों और प्रयोगों की जानकारी देने का प्रयास किया जाता है। लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के अपने होते हैं और यह आवश्यक नहीं कि वे सरकार के विचारों और दृष्टिकोण के अनुरूप हों।

●इस पत्रिका की बिक्री के संबंध में पूछ-ताछ और वार्षिक चन्दा व मनीआर्डर आदि प्रकाशन प्रबंधक, भारत सरकार, सिविल लाइन्स, दिल्ली-54 को भेजा जाना चाहिए। इसके लिए निदेशक (हिन्दी प्रकाशन), शिक्षा, समाज कल्याण तथा संस्कृति मंत्रालय, 102-सी० शास्त्री भवन, नई दिल्ली को भी लिखा जा सकता है।

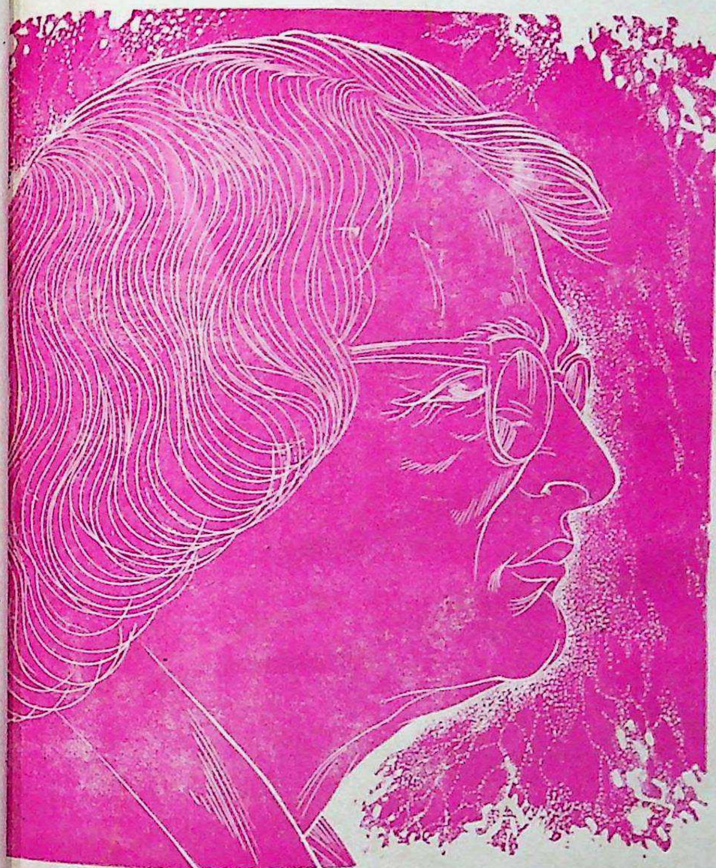
●विज्ञापनों आदि के बारे में जानकारी, विज्ञापन एजेन्ट, 5ए, 10 अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली से मिल सकती है।

	भारत में	विदेशों में
मूल्य एक प्रति	4.50 रुपये	0.53 पौंड या 1 डालर 62 सैंट्स
वार्षिक चन्दा	18.00 रुपये	2.10 पौंड या 9 डालर 4 सैंट्स

रजिस्टर्ड संख्या 6724/59

प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, फरीदाबाद द्वारा मुद्रित, 1978

संस्कृति



ओ स्वर्ण हरित छायाओ
इन सूक्ष्म चेतना सूत्रों में
मुझे मत बांधो
मैं गीत खग हूं
उड़ता हूं—
ज्योतिजाल में नहीं फसूंगा।

*

ममता सहृदयता से छूकर
मृत अतीत का क्रूर दैन्य हर
गत इतिहास धरा का करना
नव संस्कृति में मज्जित।

सुमित्रानन्दन पन्त

60

वर्ष 20 - संयुक्तांक 2 और 3

मूल्य दो रुपये

संस्कृति--त्रैमासिक पत्रिका, हेमन्त, ग्रीष्म, पावस, शरत् (जनवरी, अप्रैल, जुलाई व अक्तूबर) को प्रकाशित होती है । इसका प्रत्येक अंक विशेषरूप से सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर केन्द्रित होता है तथा इसके लेख विचारोत्तेजक, खोजपूर्ण तथा भावपूर्ण होते हैं । इसके लेखों में देश-विदेशों की सांस्कृतिक परियोजनाओं, कार्य-कलापों तथा प्रयोगों सम्बन्धी अधिकृत सूचना दी जाती है । इसकी सामग्री वस्तुनिष्ठ व पूर्णरूपेण निष्पक्ष होती है । साथ ही इसमें पुस्तकों की समीक्षा भी प्रकाशित की जाती है ।

संस्कृति के लिये लेख सम्पादक, 'संस्कृति', शिक्षा, समाज कल्याण और संस्कृति मंत्रालय, 102 सी-खंड, शास्त्री भवन, नई दिल्ली को भेजे जाएं ।

संस्कृति का वार्षिक चन्दा मनीआर्डर द्वारा निदेशक (हिन्दी प्रकाशन), शिक्षा, समाज कल्याण और संस्कृति मंत्रालय, 102 सी-खंड, शास्त्री भवन, नई दिल्ली के पास भेजा जाए । संस्कृति की प्रतियों के विषय में पूछ-ताछ भी इसी पते पर की जाए।

संस्कृति में मौलिक व अप्रकाशित लेख छपते हैं, जिनका कापीराइट शिक्षा, समाज कल्याण तथा संस्कृति मंत्रालय के पास होता है । इसमें प्रकाशित लेख सम्पादक की अनुमति पाये बिना अन्यत्र प्रकाशित नहीं किये जा सकते । लेखक यदि इसमें छपे अपने लेख को अन्यत्र छपाना चाहें तो उन्हें पूर्व अनुमति प्राप्त करनी चाहिए।

यह आवश्यक नहीं कि लेखक द्वारा प्रतिपादित विचार सरकार के दृष्टिकोण को ही व्यक्त करते हों ।

संस्कृति

प्राच्या नव्या विलसतुतरां संस्कृतिः भारतीया।

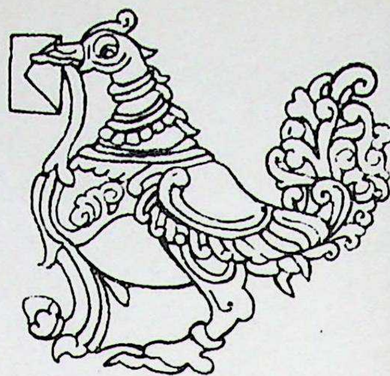
हमारा आगामी अंक

इस अंक में कुछ ऐतिहासिक तथा स्वतंत्रता संग्राम से सम्बन्धित लेख दिये गये हैं। भारत के प्राचीन व अर्वाचीन संस्कृति के संबंध में भी सामग्री दी गई है। बाल साहित्य पर भी इसमें एक लेख दिया जा रहा है और सुप्रसिद्ध लेखक श्री आरिगपुडि का 'बसन्ती दिन' पर एक भाव चित्र बिशेष रूप से इस अंक में सम्मिलित है। आशा है पाठकों को इस अंक में नव रस जैसा आस्वाद मिलेगा।

वर्ष 20 : अंक—2 – 3
(अप्रैल से सितम्बर 1978)
वार्षिक चन्दा—चार रुपये

एक प्रति—दो रुपए

इस अंक में



पत्रावली

'संस्कृति' का 'मोरिशस विशेषांक' (जनवरी-अप्रैल-जुलाई, 1977) हिन्दी पत्रकारिता की एक अपूर्व कृत्ति है । आर्य महा-सम्मेलन तथा तत्पश्चात् विश्व हिन्दी-सम्मेलन के कारण यह हमारा 'लघु भारत' विशेष चर्चित रहा । हिन्दी और 'मानस' ने वहां हमारी संस्कृति को अक्षुण्ण तथा प्रवहमान रखा । आज मोरिशस वासी भारतीय हमारे देश की उसी प्रकार भाव भीनी याद किया करते हैं जिस प्रकार एक नारी अपने "मायके" की ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मोरिशस ने ही हिन्दी को सर्व प्रथम तथा सर्वविश्रुत रूप में अन्तर्राष्ट्रीय मंच प्रदान किया । वह राष्ट्र भाषा से विश्वभाषा की ओर सफलता तथा सार्थकता पूर्वक उन्मुख हुई । स्वप्न द्वीप मोरिशस में हिन्दी के अभिषेक की गाथा ऐतिहासिक तथा युगांतर महत्व रखती है ।

इस पक्ष के अतिरिक्त विवेच्य विशेषांक में मोरिशस की भौगोलिक, सांस्कृतिक तथा तात्विक सामग्री भी प्रचुर मात्रा में मिलती है । इससे मोरिशस का एक अच्छा खासा चित्र हमारे मन-मस्तिष्क में उभर आता है । मोरिशस के कलाकारों के कृतित्व को भी इसमें समाविष्ट करके विदुषी सम्पादिका ने अपने व्यापक दृष्टिकोण का सम्यक परिचय दिया है ।

इस प्रकार प्राय: प्रत्येक दृष्टि से यह विशेषांक संग्रहणीय तथा अविस्मरणीय बन पड़ा है । इस प्रकार के विशेषांक और भी प्रकाशित किए जाने चाहिए । सामग्री तथा स्तर और सम्पादन की दृष्टि से यह एक स्तुत्य प्रयास हैं ।

डा० लक्ष्मीनारायण दुबे,
सागर विश्वविद्यालय, सागर (म०प्र०)

संस्कृति (56) में आपने सचमुच ही अपने सम्पादकीय वक्तव्य को चरितार्थ किया है। हिमालयीय संस्कृति पर एक साथ ही आस्वाद रूप रस और गंध प्राप्त हुआ । इस दृष्टि से एकता में अनेकता वाला और फिर उसमें भी एकता वाला आपका कथन सटीक है ।

कश्मीर से लेकर आसाम की उत्तरी सीमाओं तक, जहां तक भी हिमालय का विस्तार है, सांस्कृतिक स्तर पर, पर्वतीय समाज में समानता है । वहां के लोक साहित्य में भावगत ही नहीं कहीं कहीं तो थोड़ी सी भाषा वैषम्य को छोड़ कर काव्य का आधार एक ही है । उदाहरण के लिये हिमालय के पावन रूप की सभी ने अभ्यर्थना की है । यहां हम हिमाचल और उत्तराखण्ड (गढ़वाल कुमाऊं मण्डल) के लोकगीतों से उद्धरण लेकर इस समानता की पुष्टि कर रहे हैं :

जीणा पहाड़ां दा जीणा ओ ठंडी ठंडी हवा जो झुलल्दी ।

बरफा दा पाणी पीणा ओ जीणा पहाड़ां दा (सं० 56 पृ० 15)

इसीकी समानता वाला एक कुमाऊं लोकगीत भी देखिए :

तलीजाणू मन्नी जाणू हो, हिमालै को ठंडू पाणी
पिई जाणू हो ....

यह भावगत समानता संस्कृति (56) के पृष्ठ 14 और 15 पर भी द्रष्टव्य है । दोनों ही लोकगीतों में जन्मभूमि की समान भाव से अभ्यर्थना की गयी है :

गढ़वाल मेरी मुलीक देवतों की थाती ..... (पृ० 14)

नी । मेरा कांगड़ा देस प्यारा ..... (पृ० 15)

आशा है, इस प्रकार की सांस्कृतिक समानता वाले लेखों को देकर आप पत्रिका को संस्कृति का सजीव दर्पण वाला रूप प्रदान करेंगी ।

डा० शीतांशु भारद्वाज
पिलानी

आपके द्वारा सम्पादित "संस्कृति" के दो अंक देखे। आपको बधाई देना चाहता हूं । देश की संस्कृति से आपका रुचि-रस कितना गहरा और विस्तीर्ण, है इस पत्रिका से व्यक्त हो जाता है। ग्रामवासिनी भारत माता की गोद में ही भारत की संस्कृति और सुकृति पोषण पाती हैं, नगरों की नागरिकता तो विजातीय होती जा रही है । आपकी पत्रिका ने सही सूत्र पकड़े हैं । बधाई ....

रतन लाल जोशी,
12, फिरोज गांधी रोड़,
लाजपत नगर-III नई दिल्ली

सांस्कृतिक विचारों की प्रतिनिधि
त्रैमासिक पत्रिका

(ग्रीष्म, पावस, शरत् और हेमन्त में प्रकाशित)

नोट––पाठक अपनी प्रतिक्रिया, सुझाव भी भेज सकते हैं, हम उनका स्वागत करेंगे। संक्षिप्त में अपने रोचक और मौलिक विचार, संस्मरण, यात्रावर्णन भेजिए जिसमें देश विदेश की संस्कृति की झांकी मिलती हो।

पत्र व्यवहार का पता
सम्पादक– संस्कृति
शिक्षा, समाज कल्याण और संस्कृति मंत्रालय
102-सी, शास्त्री भवन
डा० राजेन्द्र प्रसाद मार्ग,
नई दिल्ली। टैलीफोन नं० 384151

सम्पादकीय

प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी–आधुनिक हिन्दी साहित्य की छायावादी कविता के इन चार 'स्तम्भों' में से स्वर्गीय सुमित्रानन्दन पन्त एक थे। "सुकुमार" किन्तु "कालदृष्टा" कवि पंत की मृत्यु से हिन्दी साहित्य का एक "युग" समाप्त हो गया। हिन्दी संसार में वह एक ऐसे युगप्रवर्तक थे, जिनका स्थान भरा नहीं जा सकता। इस क्षति की पूर्ति संभव नहीं। हिन्दी साहित्य को इस स्वर्गीय कवि की देन अमिट है और अमित भी।

हिन्दी काव्य के पराग को, उन्होंने मानो अंजलि भर भर सब ओर बिखेर दिया। आज उनके चले जाने पर भी इसकी सुरभि मानो कण कण में व्याप्त है। उस दिवंगत् आत्मा को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए भी उस कवि की उन्मुक्त वाणी के छन्द याद आते हैं। जहां भी उस कवि की आत्मा हो, वैसे ही उन्मुक्त क्षितिज में निःशब्द विचरती होगी

"चेतना के व्यापक रुपहले क्षितिज खुले हैं,
तुम स्वप्नों के मंजुल पंखों पर
उन्मुक्त वायु में,
निःशब्द विहार करो"

हमारे देश के कोने-कोने में स्थित तीर्थों, मंदिरों, पवित्र-स्थानों, ऐतिहासिक-स्थलों, रमणीय स्थलों, हमारे देश के अनेकानेक तीज-त्योहारों, रीति-रिवाजों, जनपदीय भाषाओं, बोलियों तथा साहित्यों एवं खान-पान, पहराव, कला आदि से हमारे धर्म, संस्कृति तथा सभ्यता की जो सबसे बड़ी विशेषता सामने प्रमुख रूप से आती है वह है––अनेकता में एकता। भारतीय संस्कृति अपने अनेकानेक तथा विविध रूप में मलतः भावनात्मक दृष्टि से एक ही है, यह हम सब भारतीय भली प्रकार जानते हैं। मूर्त रूप में तार्किक दृष्टि से तथा वैज्ञानिक आधार पर इस विशेषता को प्रगट करना हमारे लिए वर्तमान काल में विशेष रूप से आवश्यक है। प्राचीन और अर्वाचीन को यदि किसी कड़ी से जोड़ा जा सकता है तो यह हमारी सस्कृति ही है। इसी से हमारा राष्ट्र जुड़ा है, भावात्मक एकता के रूप में बंधा है और इसका आंगन नित नवीन कलाओं और रंगों की शोभा से शोभायमान है इस तथ्य की झांकी संस्कृति के इस अंक में दिए लेखों से होती है।

हमें आशा है कि संस्कृति के पाठकों को इसमें दी गई सामग्री रुचिकर और रसमय लगेगी और जहां कहीं उनका रस टूटता हो अथवा कहीं कुछ कमी हो तो सुविज्ञ पाठक इस ओर हमारा ध्यान दिलाएंगे। लेखक और पाठक दोनों के सहयोग से ही संस्कृति का रूप और अधिक परिष्कृत हो सकेगा।

धर्म दंश से जले इस वतन के नाम

रोज सांझ को, सूर्य बीज बो, काटते रहे ग्रोर की फसल,
कोटि कंठ की प्यास छीन कर, बांटते रहे आचमन का जल,
इस कदर चढ़ा ज्योति का नशा, पोथियों में खो गई स्वर्ग की दिशा—
ग्रौर हम खड़े, दीप के तले, रोशनी का रास्ता देखते रहे।

कुण्डली के गन्ध-चोर उस हिरन के नाम,
उस हिरन के नाम एक खत लिखो।
एक खत लिखो, रोशनी के नाम
रोशनी के नाम एक खत लिखो।

पीढ़ियां ढलीं, काल ढो रहा, वर्ण वर्ग के कर्म भाल को,
शास्ता बने, हुक्म लिख दिया, नर्क स्वर्ग के द्वार पाल को,
इस कदर उड़ी काफिलों से धूल गुम गये गुबार में लक्ष्य के दुकुल
ग्रौर हम खड़े राह से परे, 'चरैवेति-चरैवेति' टेरते रहे।

स्वप्न दंश से जले उस गगन के नाम,
उस गगन के नाम एक खत लिखो
रोशनी के नाम एक खत लिखो

पनघटों में कैद, पीढ़ियों की प्यास, भूख के कफन ग्रादमी की लाश—
ग्रोढ़ कर पढ़ें ग्रनपढ़ी किताब ग्रर्थ पास के शब्द इन्कलाब,
धर्म देश का, रक्त देवता, पीढ़ियों से ग्रादमी का खून पी रहा,
ग्रौर हम खड़े, घोषते रहे, 'सर्व जन हिताय, सर्व जन सुखाय'।

धर्म दंश से जले इस वतन के नाम
इस वतन के नाम, एक खत लिखो
रोशनी के नाम एक खत लिखो

बशीर अहमद मयूख

ओ गीत सखि ! मैं भी मधुमयी उड़ान भरूँगा

डा० शचीरानी गुर्टू

'ओ स्वर्ण हरित छायाओ
इन सूक्ष्म चेतना सूत्रों में
मुझे मत बांधो
मैं गीत खग हूं
उड़ता हूँ—
ज्योतिजाल में नहीं फंसूंगा ।'

भारतीय वाङ्मय के मूर्द्धन्य कवि श्री सुमित्रा नंदन पंत के निधन से एक ऐसा महान् स्तम्भ असमय धराशायी हुआ है जिससे काव्य-समृद्धि का एक युग ही समाप्त हुआ-सा लगता है। अल्मोड़ा स्थित कौसानी इनकी जन्मभूमि थी। उसी की गोद में ये पले, बड़े हुए। मां की मृत्यु तो उनके जन्म लेने के छः घंटे बाद ही हो गई थी, किन्तु यादों के दायरे छलना के स्वरों में लोरियां सुनाते रहे। शुरू से ही इस मातृहीन बालक ने अपनी उमंगों को प्रकृति में ढाल लिया। पर्वतीय सुषमा से ओतप्रोत सरसब्ज धरती, दूर-दूर तक फैली हरियाली और दिगंचल में बिखरे अनिर्वचनीय सौन्दर्य ने उसके भावुक व कल्पना-प्रवण मन को अभिभूत कर लिया। उषः बेला में क्रमश झिलमिलाती स्वर्ण रश्मियां, जो प्राची वधू का घूंघट सहसा उलटकर अपनी रंगमयता बिखेर देतीं और संध्या समय इसी रागरंग से उसकी सघन केश राशि में मांग आज देतीं, क्रमशः बढ़ते अंधेरे में आंख-मिचौनी करते उसकी चुनरी में टंके अनगिनत तारे, चांद की सुहाग-बिंदी बुध और शुक्र तारों के कर्णफूल, नभगंगा की करधनी जो उसे एक आवाक् नीरव सम्मोहन के आश्चर्य में डुबाकर कूर्मांचल की पर्वत-श्री के एकांत में क्षितिज के उस पार न जाने कितने गहरे-हल्के रंगों के फूलों और कोपलों से अपना रूपरंग, साज-सज्जा संवारती नजर आती तो इस पल-पल पर परिवर्तित छवि पर वह विमूच्छित सा हो उठता। प्रकृति के रम्य श्रृंगार गृह हिमाचल की तलहटी में बिखरी शुभ ज्योत्स्ना स्नात आलोक राशि, वृक्षों का, मर्मर झरनों का उच्छल बेग, सरिता का पुलकता प्रवहमान जल, अंगड़ाईयां लेकर शरमाने वाली गन्धलताएं, फूलों के रंजक, रंग, एक साथ विहंसती, मुरझाती पंखुरियां—न जाने ऐसी कितनी ही मोहक दृश्य छवियों ने उसके प्राणों को उद्वेलित कर दिया। पहाड़ी माहौल ने उसके मन को, तन को प्रफुल्लस्फूर्त बनाने की अप्रतिम प्रेरणा दी।

बचपन और यौवन के समयान्तर ने एक अबूझी टीस जगा दी। उसके किशोर मन के क्षितिज खुल गए। अपने प्राणों की पुकार का जवाब देने के लिए वह प्रकृति से मूक संलाप करने लगा। वह उसकी जीवन क्रिया से जुड़ गई। उसकी बौद्धिक अवधारणा ने जैसे उसका साक्षात् करा दिया। अनजाने ही अनुभव और बोध की दुनिया में उसकी गहरी पैठ होती गई। उसकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि स्थूल तथ्यों पर उतराती सूक्ष्म सत्यों में रम गई।

पंत की प्रारम्भिक कृतियों 'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव', 'गुंजन' आदि में कोमल भावानुभूति एवं रागात्मिका वृत्ति का प्राधान्य है। प्रकृति-जगत् और सौन्दर्य जगत् के मध्य जो झलमल-झलमल आलोक-रेखा कवि को खिंची दीखती, उसी के स्निग्ध तरल तार में उसकी अनगिन भावनाएं गुंथ गई। प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में वह घंटों बैठा अनुराग की उषः आभा में अपने प्राणों के अणु-अणु को रस-विभोर करता रहता और उसकी चिंतन-शक्ति का सशक्त आधार अन्तरिक्ष-पथ में किन्हीं दुरन्त, मोहमयी, अपार्थिव सूक्ष्म प्रक्रियाओं द्वारा उद्वेलित होता रहता। कवि ने लिखा है, 'पर्वत प्रदेश के निर्मल चंचल सौन्दर्य ने मेरे जीवन के चारों ओर अपने नीरव सौन्दर्य का जाल बुनना शुरु कर दिया था। मेरे मन के भीतर बर्फ की ऊंची, चमकीली चोटियां रहस्यभरे शिखरों की तरह उठने लगी थीं, जिन पर खड़ा हुआ नीला आकाश रेशमी चंदोवे की तरह आंखों के सामने फहराया करता था। कितने ही इन्द्रधनुष मेरी कल्पना के पट पर रंगीन रेखाएं खींच चुके थे, बिजलियां बचपन की आंखों को चकाचौंध कर चुकी थीं, फेनों के झरने मेरे मन को फुसलाकर अपने साथ गाने के लिए बहा ले जाते और सर्वोपरि हिमालय का आकाशचुम्बी सौन्दर्य मेरे हृदय पर एक महान् सन्देश की तरह, एक स्वर्गोन्मुखी आदर्श की तरह तथा एक विराट व्यापक आनन्द, सौन्दर्य तथा तपःपूत पवित्रता की तरह प्रतिष्ठित हो चुका था।'

कालान्तर में कवि के समक्ष प्रकृति हर मोड़ पर नये-नये रूपों में आ खड़ी हुई। प्रारम्भ में उसके अन्तर्देश का उन्माद और उल्लास प्रकृति की सौन्दर्य श्री से मुखरित होकर काव्य धारा में प्रसरित होता है। उसका उच्छल रसावेग हर हृदय वस्तु, हर आकर्षण और 'सुन्दर' में रमना चाहता है, फलतः उसके उन्मादक और हलचल भरे भावावेग कविताओं की पोर-पोर में भीने हैं। उसके काव्य सृजन के मूल तत्व 'सत्यं-शिवं सुन्दरम्', जो उसके प्राणों में औत्सुक्य जगाते हैं, उस समय 'सुन्दर' से अधिक प्रभावित हैं। स्नेह और अनुराग भरे मीठे सपने, हृदय की मधुर सिहरन और किसी अज्ञात रूपसी का बिखरा रूप उसकी उदभ्रांत चेतना को विमच्छित करता रहा है।

'एक पल मेरे प्रिया के दृग-पलक
थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था ।'

अपनी समवयस्का प्रकृति प्रेयसी से एक स्थल पर वह प्रश्न कर उठता है—

'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया
बोल, तेरे बालजाल में कैसे उलझा दूं लोचन ।'

वातायन पथ से उठने वाली शीतल-स्निग्ध, सौरभश्लथ समीर की हल्की-हल्की थपकियां, चतुर्दिक, बिखरी दृश्यावली, अवनि-अम्बर की अथाह सुषमा और जीवनमय उन्मद राग कवि की अरुप वृत्तियों से तद्रूप होकर उसके अन्तर्वाह्य को एक विचित्र झंकृति से भर देती है और वह तन्मय होकर गा उठती है :

'मेखलाकार पर्वत अपार,
अपने सहस्त्र दृग-सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार-बार'
नीचे जल में निज महाकार,
जिसके चरणों में पला ताल,
दर्पण-सा फैला है विशाल ।'

कुछ समय तक कवि का चिंतन इस हद तक प्रकृति में तदाकार हो गया है कि उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म धड़कन सुना करता है । प्राकृतिक सुषमा में शराबोर उसका हृदय लहराता है और उसको सुख-दुख, श्वास-सौरभ, विचार-भावनाएं, यहां तक कि अपने अस्तित्व तक को वह उसमें विलय कर देना चाहता है । न जाने कब के, कहां के अमूर्त्त, अलक्ष्य, उलझे हुए सूत्र उसके अवचेतन मन में घनीभूत होकर प्रकृति के छायापथ में बिखर जाते हैं कि वह हठात् दूरत्व या पार्थक्य की कुहलिका चीर कर उसके सीमाहीन सौन्दर्य में खो जाता है । प्रभात का धूसर आलोक और बाल-रवि की रश्मियों से रंजित प्रकृति का उन्मुक्त प्रसार तथा पक्षियों की मधुर ध्वनि अन्तः प्रेरणा के क्षणों में उसकी सूक्ष्मतम अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर लेती हैं, जिसमें विभोर अन्तर्नुभूत आनन्द की पूर्णता में उसका मूक स्वर उद्बुद्ध हो उठता है ।

'स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर,
विश्व को देती है जब बोर,
विहग-कुल की कल-कंठ हिलोर,
मिला देती भू-नभ के छोर,
न जाने, अलस पलक दल कौन,
खोल देती तब मेरे मौन ।'

समीरण का प्रत्येक हृत्कंपन जब अगाध जल को क्षुब्ध करता हुआ बुलबुलों को बिखेर देता है तो किसी अपरिसीम, अनबूझ रूपराशि की स्मृतियों को झकझोरती हुई लहरें चुपचाप कवि को अज्ञात संकेत करके बुलाती हैं :—

'क्षुब्ध जल-शिखरों को जब बात,
सिन्धु में मथ कर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार,
बना, बिथरा देती अज्ञात,
उठा तब लहरों से कर कौन,
न जाने मुझे बुलाता मौन ?'

यहां तक कि पंत की सूक्ष्म, सौन्दर्यग्राही वृत्ति छाया जैसी अरूप वस्तु में भी रमती है :

'किस रहस्यमय अभिनय की तुम,
सजनि ? यवनिका हो सुकुमार,
इस अभेद्य पट के भीतर है,
किस विचित्रता का संसार ।'

किन्तु 'गुंजन' में भौतिक यथार्थताओं से टकराकर कवि की कैशोर भावना का सौन्दर्य-स्वप्न जैसे विशृंखल हो गया । यौवन काल में जब जब जिन्दगी की रंगीनियां अंगड़ाई लेती हैं, रग-रग में नये ताजे खौलते खून की गरमाहट होती है और प्राणों में उन्मादक स्पंदन हिलोर मारता रहता है, तो उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो वह कुछ और का और हो गया है, परन्तु कालस्त्रोत के प्रवाह में जीवन के अविराम डगर पर चलते-चलते उसकी अलसायी पिंडलियों में कम्पन होता है, पीड़ा का आवेग गहरी शून्यता में खो जाता है, वह प्रतीक्षा में निरत रहता है, पर क्या कभी यौवन पुनः लौटकर आता है ? अपनी अनुभूति की अनुपयोगिता से आहत होकर उसने अपने चिन्तन का क्षेत्र विकसित कर लिया और प्रकृति के माध्यम से असीम चेतन तक पहुंचने की जो एक अव्यक्त, अज्ञात लालसा उसके हृदय के भीतर कहीं छिपी थी । उससे हठात् विमुख होकर जीवन के अशेष विफल पथ पर वह सक्रिय चिन्हों की खोज में निकल पड़ा । छायावन की नीरव सघनता से आवृत्त उसकी सूक्ष्म-चेतना, जो भोर की अरुणिमा, संध्या के धुन्ध और उच्च पर्वत-शृंगों पर छीजते बर्फ की श्वेतिमा में रमना अधिक पसन्द करती थी, जो 'प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय, प्रत्येक परमाणु के मिलन में एक सम' और छोटी से छोटी हरियाली फुलगी को छूकर आत्म-विभोर हो जाती थी, वह यथार्थ के आग्रह से मानव के चिरंतन भाव-जगत् की ओर उन्मुख हुई :—

'जीवन की लहर-लहर से,
हंस खेल-खेल रे नाविक ?'

कवि ने जीवन की सूक्ष्मता में पैठकर उसके चिरंतन स्वरूप को हृदयंगम करने का प्रयत्न किया :

'महिमा के विशद जलधि में,
हैं छोटे-छोटे से कण,
अणु से विकसित जग-जीवन,
लघु अणु का गुरुतम साधन ।'

कवि सौन्दर्यस्रष्टा से जीवनद्रष्टा हो गया । महत् विचार दीक्षा से अनुपूरित, परहित और मानव-प्रेम की सशक्त इकाई तथा साध्य-साधन की एकरुपता ही जिसकी चरम परिणति है— ऐसी चिरन्तन अभिव्यक्ति अन्ततः मुखर हुई । उसकी कलात्मक चेतना विकसित होते-होते प्रकृति के माध्यम से मानवात्मा में प्रविष्ट

हुई और इन्हीं से अन्तर्भूत रूप व्यापारों ने उसके हृदय पर मार्मिक प्रभाव डालकर उसके भावों का प्रवर्तन किया। 'ज्योत्स्ना' में कवि ने लिखा :

'न्यौछावर स्वर्ग इसी भू पर,
देवता यही मानव शोभन,
अविराम प्रेम की बांहों में,
है मुक्ति यही जीवन बन्धन ?'

ज्यों-ज्यों उसकी दृष्टि लोकोत्तर भाव में पैठती गयी, त्यों-त्यों कवि सौन्दर्य लोक से हरी-भरी, ठोस पृथ्वी पर उतरता गया, यों मार्क्सवाद के भौतिक संघर्ष में उसकी वृत्तियां कभी न रमीं। 'युगान्त', 'युगवाणी', 'ग्राम्या' में युग-जीवन और मानव व्यक्तित्व प्राणान्वित हो उठा है। आत्मा को मानव मन का परिष्कृत रूप मानते हुए उसने अद्वैतवाद के मूल सिद्धान्त विभिन्नता में एकता के दर्शन किये--'आज हमें मानव मन को करना आत्मा के अभिमुख।' यहां तक कि नर-नारी के कुत्सित सम्बन्धों से ऊपर उठकर उसने प्रेम की पावन रसधारा के उद्रेक की सराहना की जहां बिना किसी घिनौनी वासना-विनिमय के परस्पर विश्वास एवं निश्छल निष्ठा के सहारे वे एक साथ हंसते-बतलाते काम करते रहते हैं--'मज़दूरनी के प्रति' की कुछ पंक्तियां--

'सर से आंचल खिसका है धूल भरा जूड़ा--
अधखुला वक्ष,--ढोती तुम सिर पर धर कूड़ा।
हंसती, बतलाती, सहोदरा-सी जन-जन से
यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप-सा तन-से
तुमने निज तनु की तुच्छ कंचुकी को उतार,
जग के हित खोल दिये नारी के हृदयद्वार।'

रोमांस की जकड़बन्दी और वासना की छिछली संकीर्णता को नकार कर ये नर-नारी के स्वस्थ, सुष्ठु, प्रोज्वल प्रेम के हामी थे जहां मन और प्राणों की अटूट भावना सुदृढ़ हो जाती है--

'धिक् रे मनुष्य, तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुम्बन
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर ?
मनमें लज्जित, जन से शंकित, चुपके गोपन
तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से, कायर।
क्या गुह्य क्षुद्र ही बना रहेगा, बुद्धिमान।
नर नारी का स्वाभाविक, स्वर्गिक आकर्षण ?'

अनवरत आत्म संस्कार और अपनी काव्य-यात्रा के विभिन्न संचरणों में अपनी अंतदृष्टि के संघर्ष के दौरान कवि अंततः छाया-वाद की सघनता से सामूहिक सुख-दुःख एवं जीवन-वैषम्य में झांकने को उत्सुक हो उठता है :

'मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या
जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान प्रेत औ'
छाया से रति।'

चिरपीड़ित मानवता के स्नेहल स्पर्श से उसमें नीरव क्रान्ति जगी और उसने जीवन का अधिक व्यापक और चिरन्तन स्वरूप आंका।

'मिट्टी से भी मटमले तन
फटे, कुचैले, जीर्ण वसन—
कोई खण्डित, कोई कुंठित—
कृशबाहु पसलियां रेखांकित
टहनी सी टांगें, बड़ा पेट
टेढ़े मेढ़े विकलांग घृणित—
लौटते धूलि में चिरपरिचित।'

किन्तु कवि की कोमल आत्मा अधिक दिन तक इस बौद्धिक स्वीकृति से आश्वस्त न हो सकी। भौतिक संथालों से ऊबकर वह पुनः चिरन्तन सत्य और कल्पना के समानान्तर शाश्वत सनातन गुणों की ओर आकृष्ट हुआ। कदाचित् भीतरी आध्यात्मिक चेतना का दबाव इतना तीव्र हो गया था जो बाह्य की भौतिक सीमाएं तोड़कर उसकी परवर्ती कृतियों में फूट पड़ा। 'स्वर्णकरण और 'स्वर्णधूलि' में कवि की आत्मा का मुक्त उल्लास, साधना की तल्लीनता और शाश्वत जीवन-जागृति की स्फूर्ति है। उसे जीवन की पूर्णता में स्वर्णिम आभा और एक नया आलोक फूटता नज़र आता है :

'यह छाया भी है अविच्छिन्न
यह आंख मिचौनी चिर सुन्दर
सुख-दुःख के इन्द्रधनुष रंगों की
स्वप्न-सृष्टि अज्ञेय, अमर।'

'युगपथ' 'उत्तरा' 'अतिमा', 'वाणी', 'कला और बूढ़ा चांद', 'चिदम्बरा', जिस पर एक लाख का ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हुआ, 'लोकायतन' और 'सत्यकाम' आदि कवि की और भी बाद की कृतियों में उसकी आत्मभाव की परिधि अनवरत व्यापक होती गई है। जीवन का स्थूल अर्थ, यथार्थता और अनुक्रम मानों मिट गया है, उसके स्तब्ध प्राण किसी अतिमानवी, अलौकिक परिव्याप्ति, किसी अन्तर्भूत सत्य से अनुप्राणित हैं। कलाकार और मानवचेतना में जो सहज विद्रोह उठ खड़ा हुआ था वह तिरोहित हो गया। जीवन के स्थूल पहलुओं से वह क्रमशः एक बड़ी ही प्राणवान विशाल आत्मा की अन्तसक्षी में रम गया।

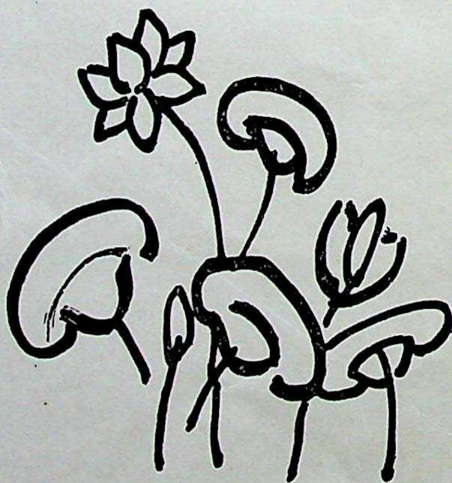
'वाणी' से उद्धृत 'फूलों का दर्शन' शीर्षक कविता में रूप का प्रकाश कवि की सुनहरी स्मृति के तारों से जुड़ गया है जिसने अन्तर्मन के कलान्त कोलाहल में पुलक का प्रकाश भर दिया है :

'ये जो हंसमुख फूल खिले
मधु के उपवन में
ये कुछ गाते रहते मन में।
भू रज के तन, किरणों से रंग
नभ से रूप, अरूप अनिल से
मृदुल रेशमी पंखुड़ियों के ले अंग,—
ये कृतार्थ करते बीजों को
सौ रंगों में विहंस एक संग।
निःस्वर शोभा मुखर गीत बन
गूंजा करती वन वन उपवन
मधुकर में भर प्रीति की उमंग।'

जिस अरूप, अचिन्त्य को पाने के लिए कवि का चित्त व्याकुल होकर इधर-उधर भटकता फिरा और सम्यक् की उपलब्धि में एक मोहावेश, एक कम्पित हिल्लोल, एक उमंगता अवसाद या अन्तरात्मा के गहन, गोपन प्रकोष्ठ में जो दुविधा की आशंका थी वह बहुत कुछ साधना की सिद्धि में समाहित हो गई। रूपशिल्प की शर्तें व्यापक संवेदनाओं से जुड़कर ऐसे चित्र उभारती रहीं जिसके आलंकारिक आलेखनों और चित्रशिल्प में प्रयोग के बावजूद वैसी ही रूपसमृद्धि और ऐश्वर्य-सम्पन्नता है और वैसा ही मार्दव, भले ही छन्द योजना वैसी नहीं जो इनकी पूर्ववर्ती रचनाओं में है। हर परिवर्तन को भावी संकेत समझ कर वे अपने भीतर की पहचान को मुखर करते रहे और जिन्दगी को नये सार्थक अर्थ देते हुए उज्जवलतम सत्य के भागीदार बने।

लोकमंगल के स्थायी विधान के लिए सामंजस्य एवं समाधान की खोज में ये जीवन के उर्ध्व मूल्यों को उजागर करने के लिए सतत चेष्टाशील रहे। उनके इतने लम्बे साधना-काल में कितनी हवाओं का रुख बदला, पुरानी जर्जर मान्यताएं चकनाचूर हुईं, नई मान्यताओं की प्रतिष्ठा हुई, पर प्रत्येक सम-विषम परिस्थिति में उनकी रसग्राही चेतना के तंतु जागृत रहे। यही कारण है कि उनके समूचे कृतित्व में उनकी आत्मा का निमज्जन और एकात्म्य भाव मूर्त्त हो सका है। कलाकार के अभिप्राय की सिद्धि में जो उसकी साधना का सच्चा रूप है वह उसके सौन्दर्यबोध की अन्तश्चेतना के संस्पर्श से स्फूर्त हो कर, उसके माधुर्य को छू कर चित्रकाव्य की अटखेलियों में मानों बिखरा-सा लगता है।

'लोक-चेतना के व्यापक
रूपहले क्षितिज खुले हैं
तुम रचना के मंजुल के पंखों पर
उन्मुक्त वायु में
निःशब्द
विहार करो,—
छन्दों की पायलें
उतार रहा हूं।'



उत्तरांचल में लोकधर्म संस्कृति की मानसी—भगवती नंदा

सुधीर शाह

अगर अभी भी यह कहा जाये कि नन्दादेवी का मेला एक धार्मिक समारोह न होकर जनपद के जन जीवन का एक अभिन्न अंग है तो इसमें किसी को न तो सन्देह होना चाहिये और न ही कुमाऊं के अंचलीय महत् त्यौहार के नाम पर अत्युक्ति। भारत के उच्चतम हिम श्रेणी का प्रतिरूप है नन्दादेवी। जो नन्दाष्टमी के रूप में हर वर्ष आयोजित की जाती है।

धार्मिक जागृति की दृष्टि से यदि देखा जाये तो बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से पूर्व समस्त पार्वत्य अंचल के जन-मानस में धार्मिक एकरसता का प्रवाह अभूतपूर्व था, साथ ही अपने समय के कत्यूरी एवं चन्द्रवंशीय राजाओं में भी धर्म की पवित्र आस्था के प्रति भीरु प्रवणाता थी। जिसकी सृजनात्मक सक्रियता उत्तरांचलीय खण्ड के जीवित, अर्ध जीवित, तथा लुप्तप्राय: या भग्नावशेषों में वे मन्दिर या मूर्तियां हैं जो विष्णु, शिव, भैरव, दुर्गा, नन्दा, वैष्णवी, पातालेश्वरी, कालिका, आदि से कभी सुशोभित थी या हैं। धर्म के प्रति पूर्ण श्रद्धा रहे, सामाजिक, सांस्कृतिक एकता में वृद्धि हो—इस दृष्टि से विशेष अवसरों पर मेलों का आयोजन भी धार्मिक संचेतना को सुदृढ़ करने का एक समन्वित नियम पोषित होता था—जैसे कि शिवरात्रि में शिव मेला, शरदीय नवरात्रियों में रामलीला, जन्माष्टमी पर कृष्णाझांकी और चातुर्मास में पड़ने वाली नन्दाष्टमी पर नन्दादेवी का मेला, आदि।

नंदा-जातीय-प्रतिष्ठा

उत्तरांचल की लोक संस्कृति और लोक देवताओं का स्वरूप निश्चित करने में हिमाचल का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है क्योंकि 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा, हिमालयों नाम नगाधिराज...." से लेकर अतीत काल तक यह प्रदेश देवी देवताओं की क्रीड़ा भूमि रहा है और पौराणिक काल में यह ऋषियों की तपोभूमि रहा है। हिमालय के इस धार्मिक स्वरूप को देख कर "Western Tibbet and British Border" में लिखा गया कि.... "एक हिन्दू के लिये कुमाऊं का यही महत्व है जो एक ईसाई के लिये फिलस्तीन का....."।

कमोवेश पार्वत्य अंचल का निवासी धर्मप्राण है, धर्मभीरू है। वह अनादि काल से ही प्रकृति का उपासक रहा है। धार्मिक मान्यतायें तो पीछे परिवर्तित हुई उसका मूल धर्म तो प्रकृति धर्म रहा। निश्चय ही उत्तराखण्ड में कोई स्थान विशेष नदी या घाटी ऐसी नहीं होगी जहां पर सांस्कृतिक धार्मिक धरोहर के रूप में उसे "देवत्व" की संज्ञा न मिली हो। नन्दा देवी उत्तराखण्ड की जातीय युद्ध देवी है जिसके उपलक्ष में सर्वत्र भाद्र शुक्लाष्टमी के दिन मेले लगते हैं। विशिष्ट परम्परा के रूप में नन्दा देवी की ऐतिहासिकता देखनी होगी।

ऐतिहासिकता देवी नंदा की :—कुमाऊं पर्वत प्रांत में शक्ति के उस रूप की ओर हम दृष्टिपात करें जिसकी उपासना यहां होती है शिव की शक्ति 'नन्दा', 'उमा', 'अम्बिका,' 'पार्वती', 'हैमवती', 'दुर्गा', 'काली', तथा 'चामुण्डा', यहां पूजित और प्रचलित हैं। शक्ति रूप नन्दा हिमालय प्रान्त में सर्वप्रिय है।

चंद्रवशीय राजाओं की अल्मोड़ा प्राचीन नगरी एक प्रख्यात राजधानी रही जिन्होंने लगभग इस भू-भाग पर 1100 वर्ष तक शासन किया। इस वंश में उत्पन्न कूर्मांचल के प्रसिद्ध राजा वाज बहादुर चन्द (1638-78) ने पिण्डर तथा भोट के राजाओं पर विजय प्राप्त की और जूनियागढ़ के दुर्गम दुर्ग को जीता। इस अवसर पर सर्वप्रथम इन्होंने नन्दादेवी की मूर्ति को अल्मोड़ा किले के पास स्थापित किया फिर नन्दादेवी का निर्माण किया। नन्दादेवी के संस्थापक श्री बांज बहादुर चन्द ही थे। "लोक संस्कृति की अगूठ श्रंखला में सबसे वैचित्य प्रभाव हमारी लोक धार्मिक परम्परा का ही है। समन्वय की यह पद्धति लोकधर्म के निरूपाणा के रूप में लोकाभिव्यक्ति से निर्विघ्न प्रवाहित हो रही है, नन्दा में कूर्मांचलीय जीवन का हंसप्राण है। लोक संस्कृति की परम्परागत धुरी है—सांस्कृतिक एकता की मनोनीत प्रतीक है—शैल श्रंगों की कन्या या भगिनी स्वरुप स्नेहमूर्ति है।" तभी से नन्दादेवी चन्द राजाओं की कुल देवी के रूप में अधिष्ठित हुई।

वर्तमान समय में नन्दादेवी का मन्दिर राजा राज बहादुर चन्द्र के पुत्र उत घोका बनवाया है। यह मन्दिर उद्योत चन्देश्वर के नाम से प्रसिद्ध । नन्दादेवी का मेला तथा उसकी पूजा इसी मन्दिर में होती है। उद्योतचन्देश्वर का मन्दिर नन्दादेवी के समीप है।

ऐसे भी सूत्र मिलते हैं कि नन्दादेवी प्राचीन कत्यूरी राजाओं की कुल देवी थी। जब कत्यूरी राजाओं की राजधानी जोशीमठ में थी तब वे प्रतिवर्ष हिमश्रृंग तक वर्षाकाल के उपरान्त मार्ग के सुगम होने के कारण यात्रा करके नन्दादेवी की उपासना करते थे। फिर आठवीं शताब्दी के लगभग जब कत्यूरी राजा जोशीमठ छोड़कर अल्मोड़े की ओर आ गये तो उन्होंने गोमी के किनारे 'हाट' नामक गांव के पास राजधानी 'कार्तिकेयपुर बनाई। कत्यूर में आने पर उन राजाओं ने अपनी इष्टदेवी के नये स्थान की स्थापना अपनी

राजधानी के निकट की ओर मन्दिर माई का थान, या कोट की माई के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कमोवेश अल्मोडा में नन्दा देवी का मन्दिर कुमाऊं के चंद्रवंशीय राजकुल द्वारा स्थापित किया गया। चार सौ वर्षों के बाद भी आज तक यह परम्परा निरंतर प्रवाहमान है—जैसा कि नन्दाष्टमीपर्व पर चन्द राजाओं के वंशज अल्मोडा नन्दादेवी मन्दिर में आकर सार्वजनिक रूप से नन्दा देवी की अराधना में भाग लेते हैं। अन्यत्र भी नन्दादेवी के मन्दिर स्थापित किये गये जैसे नैनीताल में 'नन्दा मन्दिर रजचूला कत्यूर में, बघार मल्ला दानपुर में आदि यहां के प्राचीन मन्दिरों एवं अल्मोढ़ा के मन्दिरों की प्रशंसनीय कलापूर्ण मूर्तियां, वहां के एतिहासिक किलों में प्राचीन भवन निर्माणत्मक कलापूर्ण अभिरुचि व सौन्दर्य का, यहां के विविध नैसर्गिक दृश्यों तथा पावन वातावरण के साथ पूर्ण सामन्जस्य है।

नंदा प्रांग्मण : राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य भूमी :

महत्वपूर्ण यह रहा कि वर्तमान नन्दादेवी का मन्दिर धार्मिक दृष्टि से जितना महत्वपूर्ण रहा उतना ही राष्ट्रीय जागृति का महत्वपूर्ण केन्द्र भी। सन् 1929 से ही इस धार्मिक प्रांगण में स्वतन्त्रता के संदेश स्फुटित होने लगे थे। जनपद के जन-जीवन में स्वाधीनता की ज्योति प्रज्वलित करने में नंदा का मन्दिर उत्तराखण्ड के स्वातन्त्र्य इतिहास संघर्ष में एक महत्वपूर्ण 'डायनेमिक पातर सेन्टर' समझा गया और अभी भी समझा जाता है। राष्ट्रीय जन-जागरण के इस पवित्र केन्द्र में गौरागी प्रभुओं की प्रभुसत्ता का निरंकुश दंश इतना अधिक रहा कि खड़ी बोली के आद्यः कवि गुमानी पन्त को सांस्कृतिक, धार्मिक धरोहर की इस असहनीय दुर्दशा पर चीखना पड़ा—

"—मल्ले महल उड़ाई नन्दा,
बँगलों से भी तहां भरा ?
अंग्रेजों ने अल्मोड़े का,
नकशा और ही और करा।।

(गुमानी काव्य संग्रह)

सन् 1708 में राजा ज्ञानचन्द्र की मृत्यु के बाद जगत चन्द्र गद्दी पर बैठे। सन् 1709 में उन्होंने लोहाबा के रास्ते गढ़वाल पर चढ़ाई की और श्रीनगर तक पहुंचे। कहा जाता है कि इस मध्य नन्दादेवी की स्वंण प्रतिमा खो गई। तब राजा ने 200 अशर्फियाँ देकर नई प्रतिमा बनवाई। इस प्रतिमा को 'मल्ला महल' (वर्तमान कचहरी) के भीतर मन्दिर में स्थापित किया गया। जहां आज कचहरी है उस किले में पहले नन्दादेवी का मन्दिर भी था।

ऊपर गुमानी द्वारा इंगित किया हुआ 'मल्लामहल' नन्दादेवी के आद्य प्रतिष्ठित आज की कचहरी है। अल्मोड़े के प्रथम कमिश्नर मि० ट्रेल ने उन्नीसवीं शताब्दी में अस्त्रागार एवं निवास के लिये उसे वहाँ से हटा दिया था। कहा जाता है कि मि० ट्रेल जब नन्दाकोट की ओर गये तो उनकी आंखे बर्फ के अंधड़ के कारण अंधी हो गयी। तब लोगों ने उनसे नन्दादेवी की पूजा करने को कहा। अल्मोड़ा आने पर ट्रेल ने दुर्ग के भीतर स्थित नन्दा की मूर्ति की प्रतिष्ठा नन्दादेवी के वर्तमान मंदिर में करवाई। यह प्रतिष्ठा उद्योत चन्देश्वर में की गई तब से नन्दा देवी की पूजा तथा मेला यहीं होता है।

जनजातियों का 'कैनवेश : नन्दादेवी के कथा उद्जन सम्बन्ध में स्थानीय ग्राम्य मानसों की अपनी अपनी जनश्रुतियां हैं। लेकिन अधिकतर दो ही किम्बदन्तियों प्रचलित हैं एक के अनुसार कहा जाता है कि काशीपुर के महाराज की नन्दा वे सुनन्दा नाम की दो पुत्रियां थीं। वे एक दिन बकरी चुगाने जंगल गई। यहां एक पागल भैंसे ने इनका पीछा किया। भागती-भागती ये एक केले के पेड़ के पीछे छिप गई लेकिन भैंसे ने उस पेड़ को भी तोड़ डाला और इनकी जीवन लीला समाप्त कर दी।

इसलिये सुरक्षण की भावना को धार्मिक सांस्कृतिक रूप से जोड़ते हुए पिछले चार सौ वर्षों से कदली स्तम्भ पत्र में नन्दा सुनन्दा प्रतिरुपित की जाती हैं और इस अवसर पर अष्टमी के दिन एवं इससे पूर्व हिंसा के प्रतिकार प्रतीक रूप में चन्द्रवंशीय राजाओं के वंशजों द्वारा महिष के वध करने की परम्परा चली आ रही है।

दूसरी किंवदंती के अनुसार विश्वास है कि हिमालय कन्या पार्वती ने ही भाद्रपद शुकलाष्टमी के दिन जन्म लिया था। अतः राजा ने इस उपलक्ष्य में एक उत्सव मनाने की आज्ञा दी थी। इसलिये यह अष्ठमी कुमाऊं में नन्दाष्टमी के नाम से प्रख्यात है।

नन्दा के मानवी रूप के प्रति कूर्माचलवासियों में एक भावनात्मक आत्मीयता है जैसे कि नन्दा हिमालय पुत्री है जो भगवान शंकर को ब्याही है। भगवती का पूजन इस अंचल में इसी रुप में होता है यथा पुत्री को मायके बुलाया गया हो और उसी प्रकार शुभ दिन देखकर पुत्री विदा भी कर दी जाती है। पर लोक विश्वासों में पहले ही जनश्रुति सर्वाधिक मान्य है।

नंदा के धार्मिक स्वरूप का औचित्य

इस दृष्टि से यदि देखा जाये तो नन्दा के आदि रुप विभिन्न धर्म, पुराण, ग्रन्थों में इस प्रकार मिलते हैं :—

"नन्दा भगवती नामया,
भविष्याति नन्दजा।
सा स्तुता पूजिता भक्तया,
वशी कुर्य्याज्जगन्नयम ।।"

(दुर्गासप्तशती)

नन्दा नाम की देवी जो नन्द से उत्पन्न होगी उनकी यदि भक्तिपूर्वक स्तुति और पूजा की जाये तो वे तीनों लोक उपासक के अधीन कर देती हैं।

नन्दा आदि शक्ति के विनियोग स्वरुप में भी बिम्बित हुई है। वर्णन आया है "ओइम् प्रथम चरित्रस्य ब्रह्माऋषिः महाकाली देवता, गायत्री छन्द, नन्दा शक्ति, रक्त दन्तिका बीजम, अग्निस्तत्वम्, ऋगवेद : स्वरुपम्, श्री महाकाली प्रात्यर्थे प्रथम चरित्र जपे विनियोगः" (उत्तर चरित विनियोग)

पार्वत्य अंचल में देवी आदि शक्ति का रूप है और इस जगत में वह कई नामों से प्रसिद्ध हुई है 'कालिका', चण्डिका, भद्रा, चामुण्डा, विजया, जया, भद्रकाली, दुर्गा और अम्मा आदि शक्ति रूप के अनेक पर्याय है। भगवती नन्दा भी इसी आदि शक्ति का ही एक रूप है। अंचल में नन्दा के रूप में ही आदि शक्ति महामाया का पूजन होता है। क्योंकि वह देवी सर्वमयी है :—

'सर्वरुपमयी देवी,
सर्वदेवीमयं जगय,
अतोहहं विश्वरुपां,
तां नमामि परमेश्वरीम" (अर्थवशीर्ष)

देवत्व का महात्मय भक्तिक अलौकिक कल्पना का औदार्यस है। सृजन की यही प्रेरणा काल्पनिक देवत्व में पूर्णमय होती है। पार्वती का नन्दा स्वरूप भगिनी पुत्री का आनन्दप्रेरित स्नेहमय हर्षद स्वरुप है जिस पर जगत का आधार है–

"नन्दा तु भार्या हर्षस्य,
यासु लोका: प्रतिष्ठिता" (रुद्र संहिता')

प्रमाण मिलते हैं कि नन्दा ही 'नन्दजा' नाम से शिवा रुपपार्वती में प्रकट प्रतिष्ठित हुई –

'नन्दा नन्द प्रिया,
निद्रानुनृतनन्दनालिका।
नर्मदा नलिनी नीला,
नीलकंठसभाश्रया॥
नन्दजा व नवरत्नाइया,
नैनिषारण्यवासिनी।
नवनीत प्रिया नारी,
नीलजी भूतानि: स्वनी॥
मूलाधारस्थिता मुधा,
मणिपूरक वासिनी।
मृणाली महिषारुढ़ा,
महिषासुर मर्दिनी॥" (दुर्गा सप्तशती)

उसी शक्ति के विभिन्न स्वरुपों की उपासना परम्परागत चली आ रही है क्योंकि वह शक्ति 'जगदात्री स्थिति संहार-कारणिम है' अस्तु, भगवान शिव की अर्द्धंगिनी सती के रूप में वह दक्षतनया है। हिमालय सुता के रूप में वह शिव की प्राप्ति हेतु अर्पणरुपा साध्य है।

लोक आस्था का मानस :

जन मानस के अंचल में उस देवी के प्रति कितनी श्रद्धा कितनी आस्था है इसका प्रतिबिम्ब सुदूरस्थ लोकविश्वासों में प्राप्त होता है और यह स्वभाविक भी है कि लोक मानस की सरस सरल अभिव्यक्ति लोक साहित्य में, अनेक गायकों के स्वरों के माध्यम से इस धरती पर गाये जावें–अल्मोड़ा में नन्दादेवी प्रांगण में 'नन्दादेवी जागर' में एक घटेली गायक ने वर्णन किया है उस आदि शक्ति के संघर्ष का :—

'ईश्वरी सुध, परसुध भयो,
पसीना हुट्यों,
ईश्वरी ल पवीना पोछयो।
पिरथी भा लफायो,
तैं पसीना को महाकाली उपजी'

और संहार रुपेण शक्ति भयावह हो गई है—

'दैत्य सवैं खाई, आयंछ देवता
खांण खीं जौलों।
देवतान का सोद लागी,
हिरना हिटना कैलाश मां पुजीं।'

देव भयग्रस्त हो उठे। शिव अगवानी को दौड़े, संहार कारिणी शांत हुई। लोक गायकों के स्वर गूंज रहे हैं :—

"पंच नाम देवों लै अस्तुती करी
नर नारायण लै सुखी पायौं"

और जन समूह नत प्राय: हो कर उठता है—

'देवी मैया, भल करिये हो,
सबनक च भल करियै।"

लोक संस्कृति की अगूठ ऋखला में सबसे वैचित्र्य प्रभाव हमारी लोक धार्मिक परम्परा का ही है। समन्वय की यह पद्धति लोक धर्म के निरुपण के रूप में लोकभिव्यक्ति से निर्विघ्न प्रवाहित हो रही है।

नन्दा कूर्मांचलीय जीवन का हंसप्राण है। हमारे लोक संस्कृति की परम्परागत धुरी है। सांस्कृतिक एकता की मनोनीत प्रतीक है। शैल श्रृंगों की कन्या या भगिनी स्वरुपा स्नेहमूर्ति है। गढ़वाल की अनेक गढ़ियों उपगढ़ियों के अतिरिक्त लाता, नौटी काली देवराड़ा, कुरुड ननौरा, सेमली, तल्लीधुरा गैर व नैनीताल आदि में उसके मन्दिर प्रतिष्ठित है जहां उसकी अर्चना होती है भाद्रपद में।

यहां प्रत्येक पर्वत कन्या नन्दा का स्वरूप है और नन्दादेवी ही पर्वत कन्या है जहां बरबस ही एक ग्राम निवासी आज भी गा उठता है। —

"छला, नन्दाक कौतिक,
छुद्द बरस दिन,
छिला पारकोट बुड़ा मांजि,
हुडकी के बाज–।
छिला, नन्दा की अष्टमी ऐछ,
बरस दिन ....।"

नन्दा के जातीय धर्म देवी के रूप में जनपदाय लाकधर्मो लोक विश्वासों की यह मान्यता विगत संवा चार सौ वर्षो से एक सदीर्घ परम्परा के रूप में हमारी लोक सांस्कृतिक थाती में समग्र मिश्रित होती हुई परतों पर परतें जमाती आ रही है। तभी यह समग्र प्रकार न्यौली गायकों के इन स्वरों से अकसर सुनाई देती है –

"अल्मोड़ा की नन्दादेवी
सारे की भगवती
सब दिन दयाल हयै
मैं हुं लखवती"

आधुनिकता के संदर्भ में संस्कृति और सर्जनात्मकता

--गंगा प्रसाद विमल

आधुनिकता एक सार्वजनिक बोध है। विज्ञान ने आधुनिकीकरण के जरिए आधुनिक मनुष्य के लिए जिस स्वर्ग की निर्मिति की ओर कदम बढ़ाया है, वह समग्र मानवता के लिए सुलभ करना विज्ञान की कोई अतिरिक्त 'दया' नहीं है अपितु एक स्वाभाविक वृत्ति है। दूसरे शब्दों में कहें अनिवार्यता है। मध्य काल के मनुष्य की आचरण सम्बन्धी सामाजिकता ईश्वर की अभ्यर्थना को आवश्यक आचरण समझती थी किन्तु ऐसे ही अवसर पर अर्थात् भक्ति के समय मनुष्य से अलग हो जाती है—। मध्यकालीन अलगाव व्यक्ति से व्यक्ति के अलगाव की प्रक्रिया थी जबकि विज्ञान ने मनुष्य से मनुष्य को, उसकी भौतिक स्थिति की संवर्द्धना के नियमित एक क्रिया है अर्थात् उसे सामाजिकता के एक नए अनुशासन से परिचित कराया है। समग्र मानवता की सुरक्षा से उसका संसर्ग कायम किया है। उसे एक मानवीय दायित्व के सामने, नियति की भयंकर स्थिति के सामने खड़ा किया है। तकनीकी एक दुधारू तलवार है एक ओर जहां उसने मनुष्य के लिए सुख सुविधाओं का स्वर्ग रचा है तो दूसरी ओर विध्वंस का दानव भी रचा है। विज्ञान अपनी ही मानव-विरोधी दानवीयता के सामने मनुष्य को खड़ा करता है। अर्थात् मनुष्य को एक सामाजिक की हैसियत से अपने अस्तित्व की चनौतियों को झेलना है, प्रतिरोधी शक्तियों से निपटना है। एक सामाजिक बोध की यह विकल्पहीन नियति है। "जो लोग सामूहिक उत्तरदायित्व की इस भूमिका को कुंठा और निराशा की वजह से महत्वहीन समझते हैं, उन्हें आधुनिक संवेदना से हीन करार करना चाहिए।"

अतीत की संस्कृतियां हमारे ही अतीत की कब्रगाहे : मनुष्य अपनी स्मृति की कब्रगाहों से 'मानव' चेतना के एक नए विकास मार्ग की ओर अभिमुख है। यह चेतना वस्तुतः मानव सम्बन्धों से निर्मित तथा उससे उद्‌गत चेतना है। ये मानव सम्बन्ध समाज के विकास के साथ परिवर्तित होते रहते हैं तथा समाज की विशेष स्थितियों की इनमें विशेषताएं प्रकट होती रहती हैं। विशेषता संयुक्त से मानव-सम्बन्ध मानव चेतना की मलभूत नीवें हैं जिनके आधार पर कला, दर्शन, धर्म तथा साहित्य की सृष्टि होती है। इन्हीं मानव-सम्बन्धों की अवस्था विशेष के अनुसार मानव की विश्व-दृष्टि भी बनती है। निश्चय ही उसकी यह विश्व दृष्टि उसकी चेतना का ही अंग है"—मुक्तिबोध के इस कथन का अर्थ स्पष्ट कर देता है कि मानव चेतना में न सिर्फ सांस्कृतिक स्तर पर एक 'आधुनिक कल्पना' की सामूहिकता है अपितु वैश्विक सामाजिकता की चेतना भी है। समाज की विभिन्न संस्थाबद्ध इकाईयों में यह चेतना अपने-अपने स्तर पर कार्यरत रहती है।

साहित्य और कलाओं के संदर्भ में आधुनिकता की परख कई स्तरों पर की जा सकती है किन्तु मुख्य आधार संवेदना है। परन्तु संवेध संवेदना, भावुकता, रूमानियत से हटकर संवेदना के इस प्रश्न से जूझना होगा। वास्तव में संवेदना एक जीवन दृष्टि है। आप क्या स्वीकार करते हैं और क्या अस्वीकार करते हैं—यही आपकी दृष्टि की पहचान का एक साधारण परिमापक है। एक व्यक्ति जो विज्ञान का उपयोग तो करता है, उपभोक्ता संस्कृति की तमाम समसामयिक वस्तुओं का भरपूर इस्तेमाल करता है किन्तु उसमें वस्तुओं, सम्बन्धों और सामाजिक मूल्यों के प्रति यदि एक तार्किक परख नहीं है—और वह इसे कर्मचक्र की विवशता मानता है तो मान लीजिए कि उसके लिए आधुनिकता सिर्फ आवाज से भी तेज चलने वाला हवाई जहाज है। ऐसी मानसिकता वाला व्यक्ति परिवर्तन के हर दौर को ऊपरी स्तर पर स्वीकार करता है। उसके संसर्ग का बिन्दु अधिभौतिक रहस्य होता है जिसे वह जानता तो नहीं पर उस पर विश्वास करता है। उपस्थिति की महत्ता को क्षुद्र मानना और अनुपस्थिति को महत्तर मानना, एक तर्कहीन परिणति है। पुरानी मानसिकता का यही प्रमाण है।

साहित्यिक स्तर पर एक भाषिक संवेदना का भी यहीं से जन्म होता है। आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि संवेदना का परिप्रेक्ष्य जब यथार्थ की प्रासंगिकता से जुड़ा होगा तो वह देश और काल की सीमाओं को भी अतिक्रमित कर जाती है। यह कहना साहसपूर्ण होगा, शायद असंभावित भी किन्तु सभी सार्थक कृतियां आधुनिक होती हैं। वस्तुतः संवेदना की परख का एक बिन्दु यह सार्थिकता भी है। प्राचीन त्रासद-नाट्य कृतियों को लें तो वे आज अतीत की भावुक्तापूर्ण स्थितियों के चित्र लगते हैं, वे मनोरंजक तो लगती हैं किन्तु उनकी सार्थकता का कोई तात्कालिक अहसास नहीं होता। एक कलाकृति यदि सार्थक है तो तभी वह इतिहास की सामग्री भी बनेगी। ऐतिहासिक क्रम में सामयिक होना किसी कृति को महत्वपूर्ण नहीं बनाता, महत्वपूर्ण बनाता है उसका एक ऐतिहासिक दौर के समाज से संसर्ग। यहां आधुनिकता के प्रसंग को थोड़ी छूट देनी होगी—एक कालातीत रचना की—जो भाषिक और वस्तु रूप आधारों पर काल का अतिक्रमण करता है किसी भी काल के लिए

आधुनिक होगी इसलिए नहीं कि उसमें किन्हीं स्थायी मूल्यों का निदर्शन है अपितु इसलिए कि वे मानव-पीड़न के उन बिन्दुओं को प्रक्षेपित करती है जो हमारे समाज की निर्मित हैं और जिनसे मनुष्य को अपने विकासशील प्रयत्न से मुक्त होना है। जार्ज लू काच ने महत्वपूर्ण बात कही है कि "वस्तु ही रूप का निर्धारण करती है किन्तु ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसका केन्द्रीय बिन्दु मनुष्य न हो।" मनुष्य सृष्टि की सभी सर्जनाओं के केन्द्र में है। वस्तुतः मनुष्य की महत्ता हमारे अंतरिक्ष लोकों की अब तक की खोजों की सबसे बड़ी चीज मानी जानी चाहिए इसलिए भी कि स्वयं मनुष्य की पूर्ववर्ती सर्जनाओं में लौकिक सौन्दर्य का भोक्ता तो उसे माना गया कि सृष्टि की सर्वोत्तम कृति होने का गौरव उसे प्राप्त नहीं था। देवत्व की जगह मनुष्यत्व की स्थापना कर विज्ञान ने अपनी ही सृष्टि के सन्मुख मनुष्य की क्षुद्रतर भी बनाया है। विराट सृष्टि की वह नगण्य इकाई है किन्तु सृष्टि के विराटत्व का बोध स्वयं उसी ने किया है। मनुष्य की चिंताना के ये पक्ष धीरे-धीरे साहित्य रचनाओं में प्रतिबिंबित हुए हैं--भिन्न प्रकार की सर्जनात्मक विधाओं में उनका प्रतिबिंबन भी भिन्न हुआ है। विज्ञान और तकनीक का प्रभाव कला और साहित्य रचनाओं पर यथातथ्य रूप में नहीं पड़ा है परन्तु साहित्य कलाओं की संपूर्ण विवेचनाएं उस प्रभाव की गहनता को ध्वनित कर सकती है। संस्कृति के बाहरी रूप गठन का प्रभाव भी कलाओं पर प्रतीकधर्मी रूप में पड़ता है। कालान्तर में ये प्रतीक संस्कृति का ही एक भाग बन जाते हैं। साहित्य में भाषिक प्रतीकों के जरिए 'संस्कृति' का प्रभाव परिलक्षित होता है और प्रतीकों के निरन्तर प्रयोग फिर एक ऐसी स्थिति प्रस्तुत कर देते हैं कि प्रतीक मिथकीय गुरुत्व से सम्पन्न होकर स्वयं एक काव्य प्रतीक बन जाते हैं। आधुनिक रचनाशीलता ने इस दृष्टि से एक महत्वपूर्ण योगदान यह दिया है कि उसने मनुष्य को उसकी सामाजिक इकाई में प्रगतिशील विकासशील मानसिकता से संयुक्त किया है। डैनियल कालान ने कहा है कि 'मनुष्य स्वभावतः तकनीकी' है। प्रकृति ने उसे उत्पादित कर पहले अपनी सीमाओं की अनुरूपता में ढाला है लेकिन तकनीकी मानसिकता एक बिन्दु पर आकर प्रकृति को मनुष्य के अनुकूल ढालने लगी है। हमारे साहित्य में मनुष्य की विद्रूपता के जितने चित्र हैं, रुग्ण मानसिकता के जितने भी दृश्य हैं—वे पराजय के क्षणों का यथार्थ है। यौन लीलाएं, एक सामाजिक व्यवस्था द्वारा प्रतिबन्धित पुराणपन्थी शोषण चक्र है कि प्रतिरोध से उत्पन्न विस्फोटक क्रियाएं हैं। यौनाचरण एक जैविक सत्य है, चेतना के आरम्भ से आदिम युगों से ही मनुष्य ने उसे व्यवस्था देने की ओर कदम उठाया है परन्तु जब जब ऐसे चरणों में किसी प्रकार के निरंकुश, अधिकारिक सत्ता प्रतिष्ठान ने बंधन प्रस्तुत किए आने वाले हर दौर में जन-समाजों ने उन्हें बदलने का प्रयत्न किया है।

आधुनिकता अपने परिपूर्ण रूप में सामाजिकता का नया अनुभव भी है। वह वैश्विक संवेदन है। इसीलिए एक कबीले की संस्कृति चाहे जितना प्रति रक्षात्मक स्वभाव बनाए, अलगाव के लिए जड़ता के जितने बिन्दुओं को आगे रखे अन्ततः उसे इस नई सामाजिक चेतना के सामने टूटना है। हमारे ही समय में व्यवस्थाएं टूटी हैं, सांस्कृतिक प्रारूप टूटे हैं, निरंकुश सत्ताएं टूटी हैं, सर्व सत्तात्मकता का पुराना विधान टूटा है। मनुष्य ने देवता को पराजित कर विज्ञान के अणुतम इकाई में उसे दूरस्थ कर दिया है। अब वह शक्ति, वह विश्वास, वह सर्जनात्मक क्षमता मनुष्य के हिस्से आई है। यही नहीं कि विज्ञान ने केवल एक विकास परक संकलपना और उसके विश्वास को ही मनुष्यता के सामने रखा हो—विज्ञान ने ध्वंस के डर को भी उतना ही बढ़ाया है। ध्वंस के इस डर ने मनुष्य को विचलित किया है। इस भयकान्त मानसिकता के वस्तुगत परिदृश्य छोटे पैमाने पर सामाजिक वधाओं में किसरूप में फैले हैं हमारा साहित्य इसकी गवाही देता प्रतीत होता है। मनुष्य की आंतरिक आंख का खुलापन साहित्य के प्रयोग दिखाते हैं—अंदर 'आत्म लोक' में मनुष्य यथार्थ को कैसे देखता है, विचारणा के किन प्रतिकृतियों को लेता है—यह सब कुछ साहित्य के विषय है। कहा जा सकता है कि साहित्य के विश्लेषण के लिए अब परम्परागत साहित्य शास्त्र अपूर्ण हो गया है क्योंकि वह आंतरिक अभिव्यक्ति को केवल रचना प्रक्रिया का गोपनीय मानकर छोड़ देता है। एक स्थूल आधार पर संवेदना की उपस्थिति के लिए वह व्यंजना, वक्रेक्ति और सामान्य आह्लाद के बिन्दुओं की ही परीक्षा करता है। अस्तु यह भी आधुनिक अनिवार्यता है कि साहित्य का और समाज का परस्पर रिश्ता साहित्य की शर्तों पर अन्वेषित किया जाए।

आधुनिकता के प्रश्न को समाज और मनुष्य से जोड़ते हुए समाज और मनुष्य का परम्पराओं के साथ अन्तर्सबन्ध उपेक्षित नहीं किया जा सकता। कहना होगा मनुष्य और समाज अतीत और वर्तमान में रहते हैं साहित्य उन्हें भविष्य की ओर ले जाता है। पुराने साहित्य में कथात्मक की हर अन्विति में 'था, अर्थात् जो हो चुका का भाव मिलता था—जबकि हमारे समय के साहित्य में समस्या 'था' से जुड़ी नहीं। एक वस्तुनिष्ठ दृष्टि से पूरी बीसवीं शताब्दी के साहित्य का आचरण सूत्र रूप में, मुख्य स्वर के रूप में रेखांकित करने की कोशिश की जाए तो हम पाएंगे कि अब समस्या 'क्या होगा', "कहां जा रहे हैं'—"क्या" से जुड़ी है। जब-जब प्रश्न क्या और कैसे का होता है—होने के लिए मनुष्य के मन में एक विकल्प तुरन्त उभर आता है अर्थात कहीं-न-कहीं, स्वप्निल स्वभाव में ही सही मनुष्य चाहता है कि 'यह हो'। और 'यह होना' ही उसे सक्रिय बनाता है। जो लोग इस डर में पड़े हैं और रोगी 'पर्वर्ट' हो गए हैं कि सृष्टि का ध्वंस अनिवार्य है वस्तुतः पतनशील मानसिकता से जकड़े हैं—इसलिए वे ज्यादा अकेले हैं, अपनी ही सामाजिक इकाइयों में अजनबी हैं, अपनी भाषागत संस्कृति में वे संस्कृति-विहीन दिशाहारा हैं। अबुल अलीम ने ठीक ही कहा है कि "जो लेखक नकारात्मक, शून्यवादी प्रवृत्तियों को अभिव्यक्ति देते हैं वे वास्तव में आधुनिक साहित्य के प्रतिनिधि नहीं हैं।" क्योंकि हमारे सामाजिक जीवन में 'प्राणतत्व' की प्रतिष्ठा के रूप में संघर्ष, आत्मत्याग आदि ऐसे बिन्दु हैं जो मनुष्य की पराजय वृत्ति को संशोधित भी करते हैं। यह नहीं कि निराशा,

पीड़ा, अकेलापन, मृत्युबोध समाज में नहीं है—वह है किन्तु क्या उसी का यथातथ्य विवरण साहित्यिक कर्म है, वस्तुतः उसके आधार में छिपे विमानवीकरण की शक्तियां और उनके क्रियाकलापों के संदर्भ में ही एक नैराश्य या पराजय अर्थपूर्ण और समग्र होता है।" मनुष्य द्वारा हर बार नई शक्ति का विजय अभियान उलट कर मनुष्य पर शक्ति की विजय है। हर प्रगतिशील चरण उसे कमजोर भी बनाता है और शक्तिशाली भी। उसका विवेक इन सबकी अन्तर्वस्तुओं का परीक्षण करता है। साहित्य मनुष्य का सांस्कृतिक विवेक ही तो है।

एरिक एरिक्सन ने यद्यपि 'सर्जना को आग से खेलना खतरनाक' एक बिल्कुल ही भिन्न संदर्भ में कहा है—परन्तु इस कथन की व्यापकता में विज्ञान, अनुसंधान, जनसंख्या, हत्यारी मानसिकता, व्यवस्थाएं और कलाएं सभी कुछ आ जाती हैं। परम्परागत समाजों में आधुनिकता का अतिक्रमण 'सर्जनात्मक स्तर' में आग से खेलना ही है। कितनी बड़ी विडम्बना है कि आधुनिकता ने हर क्षेत्र को आग के सामने ला खड़ा किया है। मनुष्य को खुद इस आग को फिर सर्जनात्मकता में बदलना होगा। वस्तुतः यह सारा संघर्ष मनुष्य की खुद को समझने और खुद को व्याख्यायित करने का संघर्ष है।—अपनी सामाजिक स्थिति को पुनर्व्याख्यायित करने के संदर्भ से सम्बद्ध है। अपनी सामाजिक इकाई में, औद्योगिक विवशताओं के कारण, पुरानी सामाजिक आत्मीयता की जगह जिस निर्वैयक्तिकता ने ली है—वह पुराने सामाजिक सम्बन्धों की अर्थहीनता (कम-से-कम विज्ञान और तकनीकी के संदर्भ में सिद्ध करते हुए मनुष्य को नये वातावरण के अनुरूप बनाने की ओर संकेतित है। परायापन और आत्मनिर्वासन कुछ ऐसे तथ्य हैं जो औद्योगिक आदतों की अनुकूलता के कारण उत्पन्न हुई है। किसी सामाजिक व्याधि को 'व्यक्ति स्तर' पर देखने की मनोवैज्ञानिक विधि एक रोगी के उपचार की विधि की तरह है। रुग्ण मानसिकता उपचार की वस्तु है, परन्तु 'अलगाव' की भूमिका की सामाजिक विसंगति की महत्वपूर्ण भूमिका मानने वाले रचनाकार की पक्षधरता का अर्थ यह नहीं कि अलगाव पीड़ित व्यक्ति समाज से नितान्त निष्कासित है। एक रचनाकार के अलगाव का पक्षधर बनने का अर्थ यह नहीं कि वह समाज की विचारणा छोड़ दें। वस्तुतः रचनाकार की 'आधुनिकता की कल्पना' में उस सामूहिकता की सर्जनात्मक अन्विति करना है जिसे हर उस कदम से लड़ना है जो मानव विरोधी है।

'एण्ड द लाइट देन
आफ द सन कमिंग
फार अनादर मार्निंग
इन द वर्ल्ड"

अभिव्यक्ति और सर्जना के लिए एक बहुवचनीय सृष्टि न सिर्फ अनिवार्य होती है बल्कि अपरिहार्य होती है। यह बहुवचनीय सृष्टि हमारा सामाजिक यथार्थ है। यथार्थ के चितेरे का लक्ष्य "यथार्थ का सत्यपूर्ण प्रतिबिंबन" होता है क्योंकि इसी से "ठोस और अमर्त संभावनाओं की अतिवादिता में मनुष्य की शक्ति का पता चलता है।" असल में साहित्य मनुष्य की ऊर्जा का प्रतिलेखन है। उसकी पराजय का दस्तावेज होते हुए भी वह उसके संघर्ष की त्रासदी का महालेख भी है जो यह संकेत करता है कि ऐसे पराजयपूर्ण त्रासद स्थिति से उसकी मुक्ति कैसे हो। यह अतिरंजित आशावाद है, यह इसलिए भी मानव चिंतना का विषय बना हुआ है कि समग्र सृष्टि का अस्तित्व राजनेताओं, पूंजीवादी व्यवस्था तंत्रों के हाथों गिरवी है। क्या साहित्य कोई सकारात्मक भूमिका निभाते हुए मुक्ति की संभावनाएं दे सकता है? एक स्पष्ट वैचारिक प्रतिबद्धता शायद ऐसा कर सकती है। प्रतिबद्धता कोई अतिरिक्त आयाम नहीं है; वह एक विचार दृष्टि है जो भविष्य की उपेक्षा नहीं करते, भविष्य की ओर देखती है। शायद एक मानवीय अनुशासन का निरूपण करने के लिए। इसलिए साहित्य केवल कलाकार की निजी, आत्मीय गतिविधि नहीं है। वह एक ऐसी गतिविधि है जो मनुष्य के जीवन, उसके मूल्यों और सबसे बढ़कर उसके अस्तित्व के मूलभूत प्रश्नों को अंकित करती है। कहना होगा कि साहित्य सिर्फ कोई 'कर्मकाण्ड' नहीं है।

आधुनिकता के संदर्भ में यह युद्ध साहित्य कलाओं अर्थात संस्कृति और विज्ञान के बीच है। दोनों का नियन्ता मनुष्य है। मनुष्य अर्थात् एक समाज।

लोक कलाएं--एक गवेषणात्मक अध्ययन

जोगेन्द्र सक्सेना

त्यौहार और उत्सव

विभिन्न उत्सवों और त्योहारों के अनुसार मण्डणों में जितनी विविधता है, उतनी मेंहदी के अभिकल्पों की नहीं। मेंहदी के कुछ अभिकल्प तो निश्चय ही ऐसे हैं, जो अवसर विशेष के लिए होते हैं। फिर भी इनकी संख्या इतनी सीमित है कि स्पष्ट वर्गीकरण करना सम्भव नहीं। हां गणगौर, श्रावणी और कज्जानी तीज, रक्षा बंधन, होली, आदि, त्यौहार और विवाह, बच्चे का जन्म, आदि कुछ ऐसे अवसर अवश्य हैं जिनके लिए कुछ विशिष्ट अभिकल्प सुरक्षित हैं, जबकि अन्य अवसरों पर दलीचा, साध्या-का-जोड़, धवेर, चौक, आदि का उपयोग किया जाता है। इनमें भी, बोझणों, लहरिया, आदि, ऋतु विशेष के सूचक हैं।

पुरानी और नई मेंहदी

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। इसके प्रभाव से मेंहदी भी अछूती नहीं रही है। लोक-गीतों, लोक-कथाओं के समान नई अभिरूचियों ने इसमें भी परिवर्तन किया है, जिससे अब मेंहदी के अभिकल्पों को 'पुराने' और 'नये' वर्गों में स्पष्ट रूप से बांटा जा सकता है।

इन दोनों वर्गों की मेंहदी में स्पष्ट अंतर यह है कि पुरानी चाल की मेंहदी में बनाये जाने वाले अभिकल्प वर्ग अथवा आयात में बनाये जाते हैं तो नई में वृत्त में। दूसरे, पुरानी चाल की मेंहदी में पूरी हथैली को भर दिया जाता है, उसमें तिल रखने को भी स्थान नहीं छोड़ा जाता, जबकि नई में बीच का अभिप्राय (मोटिफ) बनाकर चारों ओर का स्थान रिक्त छोड़ दिया जाता है जिससे उसमें उभार आ जाता है, वह प्रभावोत्पादक लगने लगता है।

फिर, पुरानी मेंहदी में जहां एक ही प्रकार के परम्परागत अभिकल्पों को बार-बार बनाया जाता है, नई में इस परम्परा से हटकर नये-नये अभिप्रायों का समावेश करने की चेष्टा की जाती है। बल्कि, अब तो एक और भी नया वर्गीकरण, 'नवीनतम', जोड़ देना आवश्यक लगने लगा है, क्योंकि आज जिस प्रकार की मेंहदी लगाई जाती है, उसमें अभिप्राय वृत की सीमा लांघ कर बाहर निकल आया है। दूसरे त्रिकोण, षटकोण, छः फूल्या जैसे पुराने अभिप्रायों का स्थान, लता, और फल, पुष्पआदि लेने लगे हैं।

सांझी

लोक-कलाओं में सांझी का स्थान, अन्यतम है। बल्कि कहा जाए कि मांडणा, और फिर मेंहदी और सबसे अंत में, सांझी, ये विकास की सीढ़ियां हैं तो अत्युक्ति न होगी। मांडणा और महदी मूल रूप में और अन्तिम में भी चित्र-कला का ही क्षेत्र हैं, जबकि सांझी चित्रकला और मूर्तिकला का समन्वय है। मांडणा और मेंहदी की ही भांति सांझी का भी भौगोलिक विस्तार पश्चिमी उत्तर प्रदेश से ठेठ गुजरात तक है। यों भी, इसकी एक अलग विशेषता है, इसकी अवधि। अलग-अलग क्षेत्रों में सांझी आश्विन कृष्णा प्रतिपदा अर्थात् श्राद्ध पक्ष के आरंभ से दशहरे तक, कहीं दस दिन, कहीं पन्द्रह दिन, तो कहीं पूरे पच्चीस दिन तक होती है।

धार्मिक स्वरूप

'सांझी' शब्द संध्या का अपभ्रंश है। दूसरे छोर पर है, पथवारी। सांझी आश्विन का पर्व है तो पथवारी कार्तिक का। सांझी का पूजन सायंकाल होता है तो पथवारी का उषाकाल में। एक बात में दोनों समान हैं कि दोनों का शुद्ध धार्मिक महत्व है। यह दूसरी बात है कि सभी कलाओं के मूल में कहीं-न-कहीं धर्मभावना निहित है। इसके अतिरिक्त लोक जीवन में जो सांझी का रूप है, उससे पृथक इसका एक धार्मिक स्वरूप भी है। बृज प्रदेश और कृष्णोपासना के अन्य केन्द्रों के मन्दिरों में जो सांझी है, उसका स्वरूप बिल्कुल ही अलग है, जो एक अलग अध्ययन का विषय है। यहां तो, हम उसके राजस्थानी लोक-कला के रूप पर ही विचार करेंगे।

राजस्थान की सांझी

राजस्थान में सांझी कुमारी कन्याओं का एक त्यौहार है। यह पितृपक्ष से आरंभ होकर, नवरात्रभर चलता रहता है और दशरावा अर्थात् दशहरा पर इसका अंतिम डूमड़ा अथवा उद्यापन किया जाता है। आश्विन मास की प्रतिपदा से लड़कियां संझया मांडना आरंभ कर देती हैं और पितृपक्ष के पंद्रहों दिन उनका यह क्रम चालू रहता है। वे प्रतिदिन एक नई आकृति भीत पर बना देती हैं। ये आकृतियां सरल से आरंभ होकर, दिन प्रतिदिन जटिल होती जाती हैं और अंतिम संझया तो एक पूरा चित्र होती हैं।

इतिहास

अभी तक हमें विषद् रूप से यह विदित नहीं हो पाया कि सांझी का वास्तविक इतिहास क्या है? संझया या सांझी से संबंधित जो एक लोक गीत राजस्थान की कन्यायें गाया करती हैं, उनमें एक संझया बाई का संकेत मिलता है। इस गीत के अनुसार, संझया बाई कोई लड़की थी, जिसकी ससुराल अजमेर में थी और जिसका पीहर सांगानेर (पाठान्तर में बीकानेर भी मिलता है) में था:

संझया बाई को सासुरयो गढ़ अजमेर
परण पधारया सांगानेर।

गीत बहुत लम्बा है और लड़कियां एक-एक आभूषण का नाम लेकर शेष कड़ियां जोड़ती चली जाती हैं, जैसे 'चुडलो लोरे कोई चुड़लो लो' 'कण्ठो लो', 'तमण्यो लो, 'झांझरो (लोकेट) लो,' 'तोड्या लो' इत्यादि ।

इन लोक गीतों से कुछ ऐसा लगता है कि संझया बाई का विवाह बचपन में ही कर दिया गया था, क्योंकि अन्य गीतों में भी जिन वस्तुओं का वर्णन मिलता है, वे सब बच्चों की अभिरुचि बताती है ।

एक प्रश्न

संझया बाई का पितृपक्ष से क्या संबंध है, यह समझना कठिन है । एक ओर शादी की चर्चा दूसरी ओर श्राद्ध-पक्ष में उसका मांडा जाना, निश्चय ही दुविधाजनक है । स्त्रियां भी इस प्रश्न पर मौन हैं । अभी तक हमारे पास कोई ऐसा साधन नहीं है, जिससे हम इसकी वस्तुस्थिति का पूरा परिचय प्राप्त कर सकें । हमारे इस प्रश्न का भी उत्तर नहीं मिल पाता कि आखिर संझया का श्राद्धों से क्या संबंध है ?

कलात्मक स्वरूप

संझया के चित्रण में राजस्थान की लोक-कला का बड़ा सुन्दर स्वरूप हमारे सामने आता है । इनमें हम यह स्पष्ट देख पाते हैं कि राजस्थान की लड़कियों की चित्रकला की प्रारम्भिक शिक्षा किस प्रकार होती है, और यह भी कि वे संझया की प्रथम सीढ़ी को पार कर, माण्डणा मेंहदी के क्षेत्र में किस प्रकार प्रवेश करती है । संझया माण्डणा-कला का पूरक अंग है । माण्डणा रेखा-गणित के आधार पर बनाये जाने वाले जटिल अभिकल्प हैं, इनमें रेखाओं का जो व्यापार भरा पड़ा है, उनमें भावों की कोमलता का अनुभव नहीं होने पाता, बल्कि उनको देख कर दर्शक मानों भूल भुलैया में उलझ कर रह जाता है । किन्तु संझया के देखने पर उसे कला के सुन्दर, रसपूर्ण कानन में विचरण करने की आनन्दानभूति होती है । माण्डणों में जहां उसके सामने स्त्रियों को चित्रकला का प्रौढ़ और जटिल स्वरूप अंकित होता है, वहां संझ्या में वह बाल सुलभ कोमलता और सरसता का दर्शन करता है । बालिकाओं की इन टेढ़ी-तिरछी, किन्तु सरल आकृतियों को देखकर हमें न केवल आनन्द मिलता है, बल्कि उनकी सृजनात्मक शक्ति के विषय में बहुत कुछ सोचने और समझने का अवसर प्राप्त होता है ।

एक अध्ययन

मांडणा, सांझी और मेंहदी, इन तीनों के परम्परागत अभिकल्प त्रिभुज, चतुर्भुज, वृत्त, कोण, स्वस्तिक, बहुभुज, जैसे : पंचभुज, षड्भुज, सप्तभुज, दो संपुटितत्रिभुज, बावड़ी जैसी ज्यामितीय आकृतियों के जोड़-तोड़ से बनने हैं, और इन अभिकल्पों में ये ज्यामितीय आकृतियां हमारे दैनिक उपयोग की अनेकानेक वस्तुओं का रूप धारण कर लेती हैं । इनमें से प्रत्येक का अपना अर्थ है और प्रत्येक का अपना उद्देश्य है ।

इन अनेकों आकृतियों को विज्ञान, कला, तंत्र आदि विभिन्न दृष्टियों से समझा जा सकता है ।

सूक्ष्म रूप से, विज्ञान, कला, तंत्र आदि सभी का मूल उद्देश्य अपने-अपने माध्यम से मानव के लिए सुख और आनन्द की सृष्टि का सृजन करना है । श्रम करके लीपा, पोता और सुन्दर माण्डणों से सजा मकान देखने में न केवल शुभ-सूचक लगता है, अपितु, उसमें चारों ओर श्री और शुचिताभर जाती है जिससे आत्मा अनिर्वचनीय आनन्द और अकथनीय सुख, शान्ति का अनुभव करती है । तंत्र का उद्देश्य भी विशेष साधनाओं द्वारा शरीर, बुद्धि और मन को निर्मल और कलुष-रहित बनाकर, साधक को मोक्ष की ओर उन्मुख करना होता है ।

यहां, हम इनमें से तीन ज्यामितीय आकारों की ही चर्चा करेंगे जैसे : (1) षड्भुज अथवा षट्कोण, (2) त्रिकोण और (3) सर्वतोभद्र मण्डल अथवा बावड़ो जो माण्डणा मेंहदी और सांझी में बार-बार सामने आते हैं ।

षड्भुज

षड्भुज एक ऐसा प्रतीक है जिसका प्रकृति, कला, विज्ञान, तंत्र, आदि, सभी में व्यापक रूप से प्रयोग हुआ है । वास्तुकार और संरचना इंजीनियर दिल खोलकर इसका प्रयोग करते हैं । आद्य वास्तुकार और संरचना इंजीनियर प्रकृति ने भी षड्भुज का बडा व्यापक उपयोग किया है । मधुमक्खी का छत्ता, शरीर की शोचिकाएं, कछुए की पीठ की ढाल, आदि, सभी जगह तो षड्भुज वर्तमान हैं । अधिकांश जैव-रासायनिक यौगिकों को भी षड्भुज द्वारा ही दर्शाया जाता है । बैंजीन, फ्लोरीन, आदि के सूत्रों में षड्भुजों की लडियां बनती चली जाती हैं । खनिजों की रचना में तो षड्भुज का जो वैभव, जो चमत्कार देखने को मिलता है, वह कदाचित्त और किसी में भी नहीं । ग्रेफाइट की रचना में भी षड्भुज का ऐसा ही व्यापार देखने को मिलता है । इसी प्रकार बर्फ की पतली-पतली पतरियां, साबुन के झाग, पछाड खाती हुई लहरों से उत्पन्न झाग, आदि को भी निकट से देखने पर लगता है कि असंख्य छोटे-छोटे गोल बुदबुदों से बने हुए हैं और सभी षट्कोणीय आकृतियों में हैं । भूमि को गोबर से लीपने के बाद सजाने के लिए बनाए जाने वाले अलंकरणों में भी षड्भुजों और षट्कोणों का अपना विशिष्ट स्थान है । उधर तंत्र शास्त्र में भी इसका वही सार्वभौम स्थान है ।

वास्तुकार की दष्टि में षड्भुज एक सुन्दर आकृति है । वह षड्भुज के इस सौंदर्य वैभव से प्रभावित होकर इसका जगह-ब-जगह इस्तेमाल करता है । इसके उपयोग से मकानों अथवा संरचनाओं में निखार आ जाता है । फिर, यह देखने में सुन्दर होने के साथ-साथ बनाने में भी सरल है चाहे इसे हाथ से बनाए अथवा परकार से । षड्भुज की आकृतिवाली तारों की पतली जाली, दरवाजों में लगाए जाने वाले जालीदार रोलिंग शटर्स, साड़ियों के डिजाइन, ये सभी इसके व्यापारिक उपयोग के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं । ये देखने में सुन्दर तो लगते ही हैं, बनाने में भी सरल और प्रभावकारी होते हैं ।

दूसरी ओर, संरचना इंजीनियर जब षड्भुज का उपयोग करता है तो उसका उद्देश्य एक सरल और व्यापारिक आकल्प और स्थायी संरचना ढूंढ़ना होता है । चूंकि यह आकृति पृथ्वी के चुम्बकीय तनाव

और दबाव को सहन करने में पूर्ण सक्षम है, इसीलिए वह इसका उपयोग करते हैं, और संभवतः इसीलिए प्रकृति भी इसका इतना अधिक और इतना व्यापक उपयोग करती है।

षट्कोण वास्तव में एक दूसरे पर सम्पुटित दो त्रिकोणों से मिलकर बनता है। इनमें एक अपने आधार पर खड़ा ऊर्ध्वमुखी होता है और दूसरा अधोमुखी। दुर्गा, बंगलामुखी, शिव, राम, गणेश, आदि, से संबंधित मण्डल इसी पर आधारित होते हैं, केवल उनको घेरने वाले कमल दलों की संख्या में अंतर रहता है, और उस अंतर से ही देवता-विशेष का मण्डल जाना जाता है।

जैविक रसायनों में भी तो षड्भुज ही प्रतीक रूप में पाया जाता है। विविध रसायनों के सूत्रों को समझने के लिए षड्भुजों का ही उपयोग किया जाता है। विविध रसायनों के सूत्रों में इन षड्भुजों की संख्या उनके यौगिकों के अनुसार बदलती रहती है और षड्भुजों की इस संख्या से हो किसी रसायन विशेष का पता लगा लिया जाता है।

त्रिचक्र

षट्कोण का ही एक दूसरा रूप ह, छः कोणों वाला तारा, जिसमें अधोमुखी और ऊर्ध्वमुखी, दो त्रिकोण एक दूसरे पर स्थापित होते हैं। यह है मूल श्री चक्र। तंत्र में इसकी बड़ी विशद् व्याख्या मिलती है। तंत्र में यह प्रकृति और पुरुष का सम्मिलित रूप दर्शाता है। ये ही सक्रिय और निष्क्रिय, दो तत्व हमें विश्व में भी क्रियाशील मिलते हैं। इन्हीं दो तत्वों के चारों ओर समस्त विश्व, समस्त अलौकिक विद्या, समस्त दर्शनशास्त्र कार्यरत रहते हैं। इसमें ऊर्ध्व त्रिकोण मूल पुरुष का द्योतक है और अधो त्रिकोण मूल प्रकृति का। इनका संपुटन इन दोनों का मिलन है—प्रकृति और पुरुष का। प्रकृति और पुरुष की यह सम्मिलित क्रियाशीलता ही विश्व के सृजन और विकास की द्योतक है, शुभ फलदायक ह। दीपावली और होली दोनों ही फसल के त्यौहार हैं, इसलिए इन त्यौहारों के भूमि अलंकरणों में, घरों में सभी कमरों, दालानों, आंगनों, औसारों, सीढियों आदि सभी जगहों पर इन आकृतियों का विविध भावों और विविध रूप में उपयोग हुआ देखकर ऐसा लगता है कि मानों स्त्रियों ने लक्ष्मी के स्वागत के लिए पग-पांवड़े बिछा दिए हैं। इस प्रतीक को घर-आंगन में, सभी ओर बनाकर स्त्रियां धन और ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी को यह जताने की चेष्टा करती है कि उन्होंने, स्त्री और पुरुष दोनों ने, मिलकर वर्ष भर कठिन परिश्रम किया है और अब अच्छी फसल पाने के लिए वे उसके कृपा कटाक्ष की याचना करते हैं।

श्री चक्र षट्कोण का पूर्ण विकसित स्वरूप है। श्री चक्र नौ समबाहु त्रिकोणों का संपुजन है और अव्यक्त, रहस्यमय शक्तियों कर आदि स्रोत। श्री विद्या के मत में श्री चक्र विश्व रचना का प्रतीक है जिसके अंदर शिव और शक्ति के रूप में विश्व प्रपंच का उद्भव और विकास दर्शाया जाता है। श्री चक्र सृष्टि क्रिया में कार्यरत समस्त शक्तियों का प्रतीक है, क्योंकि तंत्र की भाषा में षट्कोण दो लोकों—ऊर्ध्व और अधो लोक, का प्रतीक माना जाता है। ये दोनों लोक भूतल पर और इसी प्रकार हमारे शरीर के अंदर क्रियाशील बताये गये हैं। अधोलोक में षट्कोण आद्या शक्ति का विमर्श अथवा व्यंजना है तो ऊर्ध्वलोक में अनन्त सौंदर्य, चिरस्थायी स्वर्गीय आनन्द की अनुभूति इसी प्रकार हमारे शरीर के अंदर अधोलोक में यह कुण्डलिनी शक्ति का प्रतीक है तो ऊर्ध्व लोक में सहस्त्रार का और यह सहस्रार ही आत्मा रूप परमात्म का अधिष्ठान है।

त्रिकोण

बहुत-सी वस्तुएं ऐसी होती हैं जिन्हें मजबूत बनाने के लिए त्रिभुजाकार बनाया जाता है। इन आकृतियों का पुलों में, दरवाजों में, ऊंची-ऊंची मीनारों में और ऐसे ही अनेकों संरचनाओं में दर्शन किया जा सकता है। अन्य आकृतियों का भी इन कामों में प्रयोग किया जा सकता है, किंतु जो मजबूती और स्थायित्व त्रिकोण में होता है, वह और किसी में नहीं। मजबूत आकृति वह मानी जाती है, जिसका रूप, जिसका प्रकार, उसको तोडे बिना, बदला न जा सके। आइए, पहले लकडी की चार सम भुजाओं की बनी चौकोर आकृति को आजमाएं। इसकेएक कोण पर दबाव डालने पर क्या होगा? भारी दबाव पड़ने से या उसके साथ खींचातान करने पर मजबूती से कसे हुए कोने फैल जाएंगे और वह विकृत हो जाएगी। अब, आयत, असमभुज व समबाहुभुज अथवा और किसी भी आकृति को आजमाएं। कोनों पर दबाव पड़ने पर ये सभी आकृतियां भी विकृत हो जाएंगी। किंतु, किसी भी प्रकार के त्रिभुज को लें और उसके किसी भी कोने पर दबाव डालें वह अपने आधार पर वैसा ही खड़ा रहेगा, टूट भले ही जाए किंतु अपने मूल रूप को नहीं बदलेगा। त्रिकोण का व्यावहारिक यही स्वरूप है जो इसे इतना महत्वपूर्ण बना देता है।

त्रिकोण पर्वत का प्रतीक है, पर्वत, जो अपने आधार पर स्थिर खड़ा रहता है। शिव का भी संबंध पर्वत से है, और पर्वत का संबंध त्रिकोण से। यों भी, इस स्थूल जगत में त्रिकोण पुरुष तत्व का प्रतीक है। इस लिए सभी पु-अंशधारियों में इसके दर्शन करने को मिलते हैं, जैसे गहरे सागरों और पर्वतों की घाटियों में, लम्बी दौड़ती हुई नदियों में और ज्वालामुखी पर्वतों ग्व्हरों में। तिरछी रेखाओं के चीरे वाला त्रिकोण घोटियों और नदियों से भरा पर्वत, उपजाऊ भूमि, घना वन, चारागाह आदि का प्रतीक माना जाता है। मूर्तिकला में भी, पर्वतों का ज्यामतीय विन्यास दर्शाने के लिए, त्रिकोणों का का ही उपयोग किया जाता है। भूमि-अलंकरण कला में, इसे कापड़ा अथवा सिंघाड़ा अथवा कंगूरा कहा जाता है।

तीन सीधी रेखाएं एक-दूसरे से मिलकर त्रिकोण का रूप धारण कर लेने पर त्रिविभीय त्रिअर्थी बन जाती हैं। बिन्दु की तुलना में त्रिकोण शक्ति के विस्तार, उसके विमर्श का भाव है। किंतु जब इसकी तीनों भुजाओं का संकोचन होने लगता है तो वे धीरे-धीरे सिकुड़कर फिर बिन्दु का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार तीन कोणों को इतना निकट ले आया जाता है कि वे अंत में मिलकर एकाकार हो जाते हैं। यही त्रिकोण मनुष्य के तीन गुणों : सत्व, रज, तम अथवा आनन्द की तीन अनुभूतियों—सास्व, चित्त, आनन्द अथवा त्रिशक्ति-ज्ञान, इच्छा, क्रिया अथवा बुद्धि के तीन रत्न—बुद्ध, धर्म, संघ अथवा त्रिमूर्ति—ब्रह्मा, विष्णु, महेश का प्रतोक है। जब तीमों का लय बिंदु में होता है तो अनिवर्चनीय ब्रह्म बन जाता है।

यही त्रिकोण ईसाइयों के लिए त्रिमूर्ति––पिता, पुत्र और होली घोस्ट (पावन प्रेत––आत्मा) का प्रतीक है। योगी इसे कुन्डलिनी का कमल मानते हैं। उनके तत्व ज्ञान के अनुसार आकार में वह त्रिकोणात्मक होता है और उसके अन्दर शक्ति, जिसको योग की प्रतीकात्मक भाषा में कुण्डलिनी शक्ति कहा जाता है, निवास करते हैं। सर जान वुडरोफ और पी०एस० मुखोपाध्याय ने अपनी पुस्तक "महामाया––द वर्ल्ड एज पावर : पावर एज कान्शेंस" में बताया है कि तंत्र की दृष्टि में, त्रिविमीय पदार्थों के अनुभवकर्ता, अनुभवरत और अनुभवी जगत में त्रिकोण विभिन्नता में एकता का प्रतीक है। अपने आधार पर खडा त्रिकोण शिव अथवा शक्तिधारी देव का भाव है तो उसका विपरीत अर्थात् उल्टा त्रिकोण शक्ति का और उनका सफटित स्वरूप षट्कोण दोनों के मिलन का'। इसके अतिरिक्त त्रिकोण सृजन शक्ति का प्रतीक है। यह सृजनकर्ता है। यह सबकी रक्षा करता है, पोषण करता है और अंत में सब कुछ इसी में समा जाता है इसी में विलीन हो जाता है। यही शिव का स्वरूप है।"

मिश्र की पुरानी मान्यताओं के अनुसार त्रिकोण इस जगत में तीन क्रियाशील शक्तियों—सक्रिय, निष्क्रिय और सक्रिय-निष्क्रिय (मिश्रित) का बोधक है। ऐरिक इवरस ने अपनी पुस्तक 'द मिथ आफ इजिप्ट एण्ड इट्स हेरोग्लिफ्स' में लिखा है "किर्चर के मत में मिस्रवासी, उस दैवी शक्ति को, उस दिव्य तत्व के मुख्य निस्सरण को, उस विश्व योनि (केन्द्र) और सर्वभूतों के परा स्रोत को, जिसे विश्वात्मा और स्वर्ग का अधिपति कहा जाता है और जो ज्योतिर्विद्या का सूर्य है, ओसिरिस (यूनानियों का जियस) मानते हैं। इसिस (यूनानियों की सिबेले) उसके संवादी स्त्री तत्व का मुख्य निस्सरण है। इसे स्वर्ग की साम्राज्ञी कहा गया है और यह चन्द्रमा के रुप में पहचानी गयी है। एक ही केन्द्रीय शक्ति के विमर्श के रूप में वे सब आपस में संयोजित एक, किन्तु इस जगत में उनमें से प्रत्येक का अपना विशेष कार्य था और वे किसी विशिष्ट ब्रह्माण्डीय शक्ति के बोधक थे। ओसिरिस विश्व की भेदन शक्ति थी तो इसिस उसकी फलदायी सृजनकारी शक्ति और उनका पुत्र होरस (यूनानियों का अपोलो) उन दोनों को जोडने वाली शक्ति, जो सूर्य की किरणों के तापदायक गुण में विद्यमान है। इनके ये गतिशील गुण दर्शनशास्त्र में शक्ति तत्व के संवादी हैं। भेदन शक्ति के रूप में ओसिरिस सक्रिय तत्व था तो इसिस सृजना शक्ति और इसलिए निष्क्रिय तत्व, तथा होरस अपने संयोजन गुणों के कारण मिश्रित तत्व"। किरचर के ही अनुसार, लम्बकोणीय त्रिकोण में लम्बकोण बनाने वाली लम्बी भुजा सक्रिय शक्ति की प्रतीक थी और इसलिए वह ओसिरिस की बोधक थी। छोटी भुजा निष्क्रिय शक्ति अथवा इसिस की, और कर्ण मिश्रित शक्ति 'होरस' का बोधक था।

कालिकोपनिषद् के मत में 'कालस्य कलनात् काली', आदि के रूप में त्रिकोण वास्तकिता, विशेषकर काल और उसके संहारक स्वरूप का बोधक है। इस अर्थ में, त्रिकोण, काल में त्रिविभीय हो जाता है। इसका आधार वर्तमान का बोधक है, तो द्योतक अथवा सूचक सामान्यतः भूत का और गुणांक भविष्य का। और इस प्रकार ये तीनों की विज्ञान की दृष्टि में काल, अवकाश और पदार्थ के संवादी हैं। यहां पुरुष, प्रकृति और कला मिश्र के ओसिरिस, इसीस और होरस, यूनान के जियस, सिबेले और अपोलो तथा विज्ञान के काल अवकाश और पदार्थ के समतुल्य हैं।

सर्वतोभद्र : बावडी :

जिस प्रकार की अब हम चर्चा करेंगे, वह है तो केवल एक ही, किन्तु उसके नाम विज्ञान, कला और तंत्र में भिन्न हैं। इस प्रकार इसके नामों में चाहे अंतर हो, किंतु अध्ययन करने पर इसका उद्देश्य सभी प्रकार से एक ही नजर आता है और वह है सर्वतोभद्र अथवा शुभ, मंगलकारी।

यह प्रतीक विशेष विज्ञान की दृष्टि में पीरफाइरिन नामक तत्व की संरचना है। पीरफाइरिन शोण वर्तुली (हेमीग्लोबिन) अथवा पर्णशाद (क्लोरोफिल) से प्राप्त किया जाता है। कर्मकाण्डी इसे सर्वतोभद्र कहते हैं और लोक-कला में इसे बावडी कहा जाता है। ये तीनों ही इंगित एक ही ओर करते हैं, और वह है जीवन। बावडी जलाशय को कहते हैं। मनुष्य के संदर्भ में जलाशय सदैव ही मंगलकारी है, क्यों कि जल में ही जीवन है।

कर्मकाँड की दृष्टि से सर्वतोभद्र एक अव्यक्त चतौरफी रेखाकृति है। यह सर्वत्र सर्वस्थितियों में शुभ, मंगलदायक मानी जाती है। शुभ-अशुभ, मंगल, अमंगल का अर्थ जीवन के साथ है। सब कुछ उसी समय तक शुभ है, उसी समय तक मंगसकारी है, जब तक कि मनुष्य जीवित है। उसकी मत्यु के साथ शुभ, अशुभ में और मंगल अमंगल में बदल जाता है। सर्वतोभद्र चर्तुमुखी मंदिर का भी द्योतक है। मंदिर इसलिए पवित्र और मंगलकारी माना जाता है चूंकि यहाँ पर देवी-देवता अपने विभिन्न विग्रहों में निवास करते हैं।

रक्त के कणों में लाल परमाणु अथवा हेमोग्लोबिन प्रोटीन पिगमेंट युक्त लौह तत्व होता है। यह जीवधारियों की लाल रक्त कोशिकाओं में पाया जाता है और इसका प्रमुख कार्य फुफ्फस से शरीर के ऊतकों में प्राण वायु (आक्सीसन) पहुंचाना है। हेमोग्लोबिन रक्त का मुख्य प्रोटीन रचक है। हेमोग्लोबिन के एक कण की रचना ग्लोबिन और हेमे से मिलकर होती है। इसमें ग्लोबिन प्रोटीन है और हेमे पिगमेंट युक्त गहरा लाल लौह तत्व। हेमोग्लोबिन का एक घटक पोरफाइरिन होता है। इस घटक की संरचना सर्वतोभद्र मण्डल के समान होती है। रक्त से ही जीवन है, इसलिए जीवन के लिए रक्त शुभ है। इस संदर्भ में सर्वतोभद्र मण्डल का हेमोग्लोबिन और बावडी से संबंध स्पष्ट हो जाता है। हेमोग्लोबिन के समान, क्लोरिफिल भी एक अन्य हरित रंग है, जिसकी संरचना सर्वतोभद्र मण्डल के जैसी ही होती है। क्लोरिफिल सभी जीवधारी पादपों में पाया जाता है। यह प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया से जीवन शक्ति प्रकाश को ग्रहण करने वाला तत्व होता है। प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया के द्वारा ही हरे पादप कार्बन डाईआक्साइड ग्रहण करते है, और प्राणवायु छोड़ते हैं। प्राणवायु प्रत्येक जीवन के लिए अति आवश्यक है। इस प्रकार, प्राणवायू बनाने का कारखाना क्लोरोफिल मानव जीवन की दृष्टि से शुभ है। फिर सर्वतोभद्र मण्डल अथवा हेमोग्लोबिन अथवा क्लोरोफिल संरचना अथवा बावड़ी के प्रतीक

के चारों कोणों को रेखाओं द्वारा जोड़ देने पर अष्टकोण बन जाता है अष्टकोण विष्णु का प्रतीक है और विष्णु जीवन की रक्षा करने वाले देवता हैं।

निष्कर्ष

इस विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विज्ञान, कला और तंत्र में जिन सहस्त्रों ज्यामितीय आकृतियों का प्रयोग किया जाता है, उनमें बहुत कुछ एक दूसरे के समान हैं। उनकी व्याख्या चाहे भिन्न हो, किंतु अनेक उद्देश्य प्रायः एक जैसे हैं। तंत्र में इनका रूप और सार जितना ही प्रतीकात्मक है विज्ञान में वे उतने ही प्रत्यक्ष और स्पष्ट हैं।

हमारे ऋषि, मुनियों ने इन कलात्मक आकल्पों में विभिन्न देवी-देवताओं के कब और कैसे दर्शन किए और उन्हें किस प्रकार अव्यक्त चमत्कारी शक्तियों से अभिमंत्रित किया ? इसको समझाने के लिए हमारे पास कोई निश्चित उत्तर नहीं है। इस संबंध में हम इतना ही कह सकते हैं कि अपनी युगों-युगों की घोर तपस्या के बाद ही वे इन आकल्पों में निहित चमत्कारी गुप्त शक्तियों को देख और समझ पाए होंगे।

प्रकृति में अनेकों ऐसे जीव-जन्तु हैं जिन्हें हम अपनी आंखों से सामान्यतया नहीं देख पाते। किंतु अणुवीक्षक (माइक्रोस्कोप) यंत्र से देखने पर उनका अनोखा संसार हमारी आंखों के सामने सजीव हो उठता है। अणुवीक्षक यंत्र से देखे बिना यह कौन बता सकता था कि आकाश से गिरने वाले बर्फ के गोले के एक छोटे से कण में षट्कोणीय संसार छिपा रहता है—इतना सुन्दर, इतना अनोखा कि जिसकी कल्पना तक करना सम्भव नहीं है। और यह कहने, सुनने में बड़ा अटपटा-सा, बड़ा अविश्वसनीय-सा लगता है कि इन हिमकणों में छिपी हुई षट्कोणीय आकृतियां बिल्कुल वैसी ही हैं जैसे स्त्रियां अपने घरों को सजाने के लिए बनाती हैं।

विज्ञान की काल, अवकाश और पदार्थ सम्बन्धी अवधारणायें भारतीय मनीषियों के लिए नई नहीं थीं। अंकों की सही गणना गुप्त शक्तियों के बल पर वे काल, अवकाश और पदार्थ के रहस्यों का भेदन कर सके, उनके बारे में इतनी सही जानकारी दे सके। अपनी अंतरानुभूति, अपनी देवी शक्तियों के द्वारा जहां वे इन ज्यामितीय आकृतियों की गुप्त शक्तियों को अनुभव कर सके, वहां उन्होंने उन्हीं की सहायता से उनके वैज्ञानिक गुणों का निश्चयन और वैज्ञानिक अवधारणाओं का प्रतिपादन भी किया।

प्राचीन भारत में ब्रह्माण्डीय अवधारणा पर टिप्पणी करते समय, हंगरी में बुडापेस्ट स्थित इन्टरनेशनल ल्यूनर सोसायटी के उपाध्यक्ष पीटर हैडरवारी ने निम्न विचार व्यक्त किए :-

"यह सर्वमान्य है कि भारत का प्राचीन विद्वद्समाज योग की विविध क्रियाओं द्वारा अंतरानुभूति की अद्भुत शक्ति जागृत कर लेते थे। उदाहरण हंगरी के विख्यात वैज्ञानिक स्वर्गीय डा० ई० बेक्ते हैं, जिन्होंने भारत सम्बन्धी अपनी एक पुस्तक में लिखा है, 'यद्यपि उनके पास अणुवीक्षक यंत्र नहीं थे, फिर भी वे आज से 2000 वर्ष पूर्व जल, वायु इत्यादि में सूक्ष्म जीवाणुओं की उपस्थिति से अवगत थे। अपनी अद्भुत अंतरानुभूति द्वारा उन्होंने प्रकृति के कई जटिल नियमों को जान लिया था और गोचर पदार्थों और घटनाओं के आपस में विविध विनियमों को समझ लिया था। अपनी अद्भुत अन्तरानुभूति द्वारा ही वे ब्रह्माण्ड के आरम्भ और विकास और उसके अवकाश और काल में आयाम अथवा विस्तार पर विचार कर सके थे। इस प्रकार न केवल उन्होंने पृथ्वी की, अपितु ब्रह्माण्ड की वायु का भी अनुमान लगा लिया था।"

संकलन और संरक्षण

यह बताना आवश्यक नहीं कि ये कलाकारों के अमूल्य अथाह भण्डार हैं। किन्तु आज की बदलती सामाजिक परिस्थितियाँ, लोगों के रहन-सहन की विधियां, उनकी अभिरुचियां, उनके आचार-विचार, आदि कुछ ऐसे विषाक्त वातावरण का सृजन कर रह हैं जो इन लोक-कलाओं की प्रगति और विकास के लिए स्वास्थ्यकर नहीं है। देश में बदलती इन सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव से हमारे दूरस्थ गाव भी अछूते नहीं रह गए हैं और इसका परिणाम यह हो रहा है कि आज के विदेशी प्रभाव के कारण उनकी अपनी संस्कृति भी दूषित होती जा रही है। उनकी कला में मिलावट आरम्भ हो गई है, उसको ओर से वे उन्मुख होते जा रहे हैं जिससे उनकी विचारधारा कुण्ठित और सृजनशक्ति पंगु होने लगी है। अतएव आज की इन परिवर्तनशील परिस्थितियों के संदर्भ में इन लोक-कलाओं के संकलन और संरक्षण की ओर ध्यान देना अति आवश्यक हो गया है ताकि आज के प्रभाव में आकर वे इतनी न बदल जायें कि उनको फिर पहचाना जाना भी कठिन हो जाए, और जो हमारा अपना है, उसको हम खो बैठें।

आज देश में बढ़ते हुए औद्योगिकरण और अधुनातन के कारण इन कलाओं का बड़ी तीव्रता से ह्रास आरम्भ हो गया है। डा० कुमारस्वामी के शब्दों में इस समय हमारी समस्या भारतीय संस्कृति की, जितनी पुनर्जन्म की नहीं है, उससे कहीं अधिक है उसमें से बाकी बची हुई को सहज कर रखने की।

किन्तु अपनी इस उपलब्धि के लिए हमें देश में एक ऐसे स्वस्थ वातावरण का सृजन करना होगा जिसमें ये लोक-कलाएं, विशेषकर स्त्री-कलाएं, स्वच्छन्द होकर सांस ले सकें, फल-फूल सकें और अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच सकें। इस दृष्टि से हमें उनके पुनरुत्थान, अध्ययन और विकास के लिए एक सुनियोजित योजना तैयार करनी होगी। वैसे देखने वाले के लिए ये चाहे साधारण-सी सजावट की कलाएं ही प्रतीत हों किन्तु निकट से देखने पर इनके अन्दर छिपा कला का एक सौंदर्य पूर्ण संसार उभर कर सामने आ जाता है। उनमें भरे ज्ञान भण्डार के द्वार हमारे सामने खुल जाते हैं। स्व० डा० वासुदेव शरणी जी अग्रवाल ने माण्डणा के दर्शन करने पर, अपने एक पत्र में सन् 1949 में लेखक को लिखा था **"आज भली प्रकार आपके**

द्वारा भेजी गई सामग्री मेंहदी और माण्डणों के चित्र देख पाया हूं। आपने तो मुझे कृत-कृत्य ही कर दिया। आपके हाथ वस्तुतः निधि लग गई है। इस बहुमूल्य थाती में से जितना कुछ बचा लिया जाए वही हमारे आनंद और ज्ञान के लिए उपयोगी होगा।"

इन कलाओं को सहेजने और उनके अध्ययन तथा संरक्षण से हमारी एक ऐसी सांस्कृतिक धरोहर क्षय होने से बच जाएगी, जिसका विश्व में अपना सानी नहीं। दूसरे, इनके ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन के द्वारा हम अपने अतीत की उन खोई हुई कड़ियों को जोड़ने में सफल हो सकेंगे, जिनका अभी तक कहीं पता नहीं चल पा रहा है। हम जनपदों में बिखरे इन कलाओं से सम्बधित तकनीकी कोषों का निर्माण कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में, डा० अग्रवाल द्वारा अपने एक अन्य पत्र में व्यक्त किए गए विचार उल्लेखनीय हैं : "जिस माण्डणे का चित्र और परिचय भेजा है वह अत्यन्त रोचक है। 'छः फूल्या पर छः अधकट्या और छः करेंल्यां' यह नाम कमल पर आश्रित इस माण्डणे के लिए बहुत उपयुक्त है। माण्डणे के केन्द्र में षट्दल कमल है, उनको घेरने वाली छः अधकट्या और छः करेंल्यां हैं। यह आकृति करेले की है। संस्कृत में इस कारवेल्लक कहते हैं : धुकधुकी, उर्वसी आभषण भी इसी आकृति का होता था, अतएव कारवेल्लक कहलाता था। 'भरत' की विविध वाचक शब्दावली भी बड़ी रोचक है। 'चौथा और झोंरा' भी सार्थक शब्द हैं। 'भरत', 'चोथा', झोंरा माण्डणे के विभिन्न अंगों के नाम हैं।"

आज के इस परिवर्तनशील वातावरण में, इन लोक-कलाओं को जीता-जागता रखने के लिए यह आवश्यक है कि तीन राजकीय अकादमियों के समान ही एक स्वतन्त्र लोक-कला अकादमी की भी स्थापना की जाए। इस अकादमी का प्रमुख कार्य इन लोक-कलाओं का संकलन, संरक्षण और अध्ययन करना हो। अन्तिम दो कार्यों को पूरा करने के लिए अकादमी के अंतर्गत संग्रहालय और अनुसन्धान संस्थान स्थापित किए जायें ताकि इन कलाओं को जीवित रखने के साथ इनका विकास और उनके द्वारा देश का सांस्कृतिक एकीकरण किया जा सके।



कालिदास के काव्यों में निर्देशित श्रोत-संप्रदाय तथा लोक—मंगल साधना

श्री खण्डविल्लि सूर्यनारायण शास्त्री

कालिदास का काव्य-तपोवन एक पुण्य-तपोवन सदृश है। तपोवन की भांति यह काव्य-तपोवन भी यज्ञ-यागादि श्रोत-क्रिया-निर्वाह की दीक्षाओं से पुनीत पुरोडाशादि होम-धूम-समूह के पवित्र परिमल (वर्णनों) से सुवासित होकर आगत पाठक रूपी अतिथियों के तन-मन को तीनों कालों में भी रमणीय रीति से पवित्र करता है। इसके कई दृष्टान्त हैं।

राजा दिलीप के अपनी पत्नी के साथ वशिष्ठाश्रम में प्रवेश करते ही सारा तपोवन प्रान्त चक्रवर्ती को इस प्रकार दिखाई देता है—"वशिष्ठाश्रम में होने वाले यज्ञों के परिमल मिश्रित होम-धूम वायु में परिव्याप्त होकर, तत् आश्रमोन्मुखी अतिथियों के मन-शरीर पवित्र करते हैं।"(1)

वास्तव में गीता में कहा गया है कि यज्ञादि श्रोत कर्म जब शास्त्रानुसार किये जाते हैं, तो उस कार्याचरण से ठीक समय पर मेघों की उत्पत्ति और उसके द्वारा समृद्ध वर्षा तथा अन्न समृद्धि के कारण बनते हैं।

"यज्ञाद्भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसंभवः।"

इतना ही नहीं, गीताकार का यह भी कथन है कि सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा ने प्रजा के साथ यज्ञों का सृजन कर उनसे कहा, "इस धर्मानुष्ठान के द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो, यह यज्ञ तुम्हारे इच्छित फलों का देने वाला होवे।"

"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेण वोडस्त्विष्ट काम धुक्।"
(भगवद्गीता, 3-10)

अतः स्पष्ट होता है कि आजकल की पंचवर्षीय योजना द्वारा अधिक अन्न उपजाने की पद्धति की अपेक्षा गीता में कही गई यह पद्धति शास्त्रीय तथा सुलभ भी है। यह अनुभवगम्य विषय है कि जब देश पर अकाल की भयानक परिस्थिति आ पड़ती है, तो उसके निवारण के लिए अस्थिर आधुनिक सभ्यता म्लानित भव्य भारतीय संस्कृति संप्रकाशमान इन दिनों में भी जनकल्याणकारी "श्री लक्ष्मीनारायण सहस्र होम कुण्ड ऋतु" जैसे महायज्ञ का विधान ही लोक मंगलकारक सिद्ध होता है। इस प्रकार यज्ञादि श्रोत क्रियाओं का आचरण, जो प्राणी मात्र की सुख जीवन सिद्धि का मूल मन्त्र है, संप्रति सब के लिए प्रति क्षण आवश्यक है।

इस प्रकार कवि-कुल-गुरु के काव्य तपोवन में पदार्पण कर इहलोक और परलोक में भी सर्वजन कल्याणकारक कतिपय श्रोत क्रिया संप्रदायों का दर्शन कर अपने तन और मन को पुनीत कर लें।

वशिष्ठाश्रम वर्णन के संदर्भ में एक श्लोक का भाव इस प्रकार है: "वनांतर से लौटे हुए समिधा, कुश और फलों को लानेवाले और दक्षिणाग्नि आदि अदृश्य अग्नियों से अगवानी किये गये अग्निहोत्रियों से भरे हुए मध्याश्रम में राजा सायंकाल पहुंचे।"(2)

प्रवास से आये हुए अग्निहोत्रियों को अदृश्य रूप से त्रेताग्निओं की अगवानी करने का कालिदासोक्त श्रोत संप्रदाय श्रुति प्रसिद्ध है।(3) इतना ही नहीं, 'समित्कुशफल लेकर तपस्वियों के प्रत्यागमन' संप्रदाय के लिए भी "मूल श्रोत सूत्र" नामक ग्रन्थ की व्याख्या में इस प्रकार है:

"ग्राम्यान्तर से लौटते समय पिता पुत्रों के लिए मिठाइयां लाता है। यो लोकाचार है। पुत्र भी बाल्यावस्था में इस भक्ष्याशा से ही पिता के पास दौड़ जाते हैं। इसी प्रकार समित्कुशफल लेकर आने वाले अग्निहोत्रियों को उनके त्रेताग्नि अपने आहार स्थानीय समित्कुशादि के लिए अदृश्य रूप से अगवानी करते हैं।" इस समुज्जवल श्रोत संप्रदाय के जैसे कई संप्रदायों से महाकवि परिचित हैं। यहां कालिदास ने एक विशेष संप्रदाय को हमारे सम्मुख रखा है...प्रवास के लिए जाने से पहले अग्निहोत्री निज त्रेताग्निगृह में अग्नियों

(1) अभ्युत्थिताग्नि पिशुनैरति थोनाश्रमोन्मुखान्
पुनानं पननोद् धूतै राहुति गन्धिभिः॥
(रघुवंश, 1-53)

(2) वनान्तराद्रुपावृत्तै समित्कुश फलाहरैः।
पूर्यमापमदृश्याग्नि प्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः॥
(रघुवंश, 1-49)

(3) द्रष्टव्य: "प्रोष्यागच्छता महिताऽनोनामग्नयः प्रन्युद्यान्ति।"

के समक्ष कुछ 'प्रवासोपस्थान मंत्र' पढ़ते हैं जिनका आशय इस प्रकार है:

"अग्निहोत्री दूसरी जगह जाते समय वे अग्नियों के नाम और अग्नि उनके नाम परस्पर बदल लेते हैं। इस पद्धति से अवगत होता है कि अग्निहोत्री अग्निगृह में ही रह जाते हैं। इस संप्रदायानुसार भी वनांतर उपावृत्त तपस्वी अग्नि और अग्नि अग्निहोत्री बनकर अग्निहोत्री ही अदृश्य रूप में अग्नियों की आगवानी करते ज्ञात होता है। यह सब पवित्र भावना और उसके द्वारा चित्तशुद्धि के किए परमोपयोगी बनकर इहलोक एवं परलोक में मानव जीवन को सफल बना देता है। अतः इस प्रकार की अग्निपूजा 'सर्वदेवता सेवा' हो जाती है। यागाग्नि के द्वारा ही सब देवताओं को आज्यादि विभाग प्राप्त होते हैं।" अग्नि रवमो देव ताना" कहकर श्रुति अग्नि का वर्णन करती है। मानव समुदाय के हविरादि होम कार्यों से देवगण परितृप्त होकर सुकाल में वर्षादान देकर अन्न-समृद्धि के द्वारा प्रजा के सुख जीवन के मूलभूत कारण बनते हैं।

इस पद्धति के सम्मुख साम्प्रतिक जननायकों की योजनाएं जनता की सुख-जीवन-साधना में कहाँ तक अधिक उपयोगी होती हैं? कौन-सा मार्ग सुलभ साध्य है? ऐहिक प्रयत्नों को आवश्यकता है ही, परन्तु कहना पड़ता है कि आमुष्मिक शक्ति से असंपृक्त ऐहिक निस्सार तथा निरुपयोग हो जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि यज्ञादि श्रोत क्रियाओं का आचरण सभी प्राणियों की सुख-जीवन-साधना का मूल कारण बनता है। इतना ही नहीं, सोमतीर्थ से प्रत्यावृत्त कण्व महर्षि के निज त्रेताग्नि गृह पहुंचते ही शकुन्तला दुष्यन्त की अर्धांगिनी बनने की रीति आकाशवाणी इस प्रकार सुनाती हैं: "ब्रह्मर्षि! दुष्यन्त निषिक्त तेज को लोक कल्याण के निमित्त संभरिता अपनी पुत्री को अग्नि गर्भा शमी शाखा समझो।" (4) कालिदास की यह उपमा निरुपम है। इस उपमा के प्रभाव से स्पष्ट होता है कि शकुंतला गर्भस्थ शिशु पुरुष है, वह अग्नि की तरह पवित्र दिव्य शक्ति दीप्ति है, यही भव्य भारत सुप्रतिष्ठापन के लिए कारक होगा और इसी प्रकार के अनेक उदार एवं उत्तम भाव परिमल इस कालिदास-उपमा-प्रसून से चारों ओर फैल रहे हैं। 'शमी गर्भदग्नि मन्थति' वाले श्रोत संप्रदाय को ही यहां की उपमा उज्जवल रूप से भासित कर रही है। यज्ञोपयोगार्थ अग्नि को शमी शाखा के गर्भ से ही मथते हैं। और एक विशेषता भी है।

एक शमी वृक्ष में ही आग नहीं निकलती। अश्रवत्थ वृक्ष में उगे शमी वृक्ष की लकड़ी से अब भी आग को मथते हैं। इसका कारण है, अग्नि एक वर्ष तक अश्रवत्थ वृक्ष में अश्रव रूप से रहता है। इसलिए 'अश्रवत्थ' नाम भी सार्थक हुआ। 'अश्रवरुपेण तिष्ठतीतस्श्वतंत' इस प्रकार वेदवाणी है।

(4) द्रष्टव्यः 'अवेहितनयां ब्रह्मग्निगभां शमोमिव।'

यह समस्त विशेषांश उपर्युक्त कालिदासीय उपमा में वर्णीकृत है। इस प्रकार के यज्ञोपकरण के प्रति हमारे श्रोत कवि की प्रीति अपार है।

पत्नी के रूप में पार्वती का कर-ग्रहण करने की इच्छा से सप्तर्षियों से दौत्य निर्वहण की अभ्यर्थना करते हुए महेश्वर कहते हैं, "देवों की प्रार्थना के कारण जिस तरह यजमान आग पैदा करने के लिए अरणि की इच्छा करता है, उसी भांति पुत्र पैदा करने के लिए मैं पार्वती के साथ विवाह की इच्छा करता हूं।" (5)

यहां अग्नि रूप ईश्वर वीर्य (सरेता अग्नि राधेयइनाहु :- वेदवाक्य) से उत्पन्न कुमारस्वामी ने लोककंटक तारकासुर का वध कर जिस प्रकार जन कल्याण किया, उसी प्रकार अरणोद्भव अग्नि भी यज्ञादि क्रियाओं से प्रोज्वलित होकर क्रमशः वर्षा का कारण बनकर अकाल आदि दुष्ट शक्तियों के निवारण द्वारा जनकल्याण का कारण बनता है। इस प्रकार कालिदास हृदय की स्थापना है कि श्रोतक्रिया निर्वहण ही लोक मंगल की साधना का मूलमंत्र है।

इसी प्रकार कृशोदरी पार्वती की कमर की उपमा 'वेदी' से देकर वर्णन करना (6) श्रोत कवि कालिदास के लिए सारा जग एक पवित्र यज्ञभूमि के रूप में दृष्टिगोचर होना तथा श्रोत क्रिया निर्वहण में इनकी प्रीति स्पष्ट दर्शाता है। रघुवंश के प्रथम सर्ग में दिलीप राजेन्द्र की पत्नी 'सुदक्षिणा' का परिचय देते हुए कविकुल गुरु ने

'तस्य दक्षिण्य रुदेन नाम्ना मगधवंशजा।
पत्नी सुदक्षिपेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा।" (1-31)

कहा था। यज्ञ की पत्नी दक्षिणा के समान उनके सुदक्षिणा नाम की पत्नी थीं। यह उपमा "यज्ञो गंधर्वस्तस्य दक्षिणाप्सरम:" वाले कृष्ण यजुर्वेद संहिता के वाक्यार्थ की ओर संकेत कर रही है। श्रोत संप्रदाय के अनुसार दक्षिणा विहीन यज्ञ पत्नी विरहित पति के समान है। 'मृतो यज्ञस्त्व दक्षिण:' की सूक्ति की ज्योति है दक्षिणायुक्त यज्ञ। ऐसे संप्रदाय रत्न इस कवि के काव्य में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं।

महाराज दिलीप ने अपने कुलगुरु से अपनी संतानहीनता का उल्लेख करते हुए 'असहय पींडं भगवन्नृणमंत्य मवेहि में" (1-71) कहा। उनकी अनपत्यता को 'अंत्यचहण' वाले पद प्रयोग द्वारा स्पष्ट कर एक श्रोत विषय को कवि ने दीप्ति किया। द्विज अपने जन्म से ही तीन प्रकार के ऋण साथ लेकर जन्म लेता है। वे हैं —महर्षि ऋण, देवऋण और पितृऋण। लक्षणयुत ब्रह्मचर्य के व्रताचरा

(5) अत आहर्तुमिच्छामि पार्वती मात्मजन्मने। उत्पन्तये हविर्भोक्तुर्यजमान द्वारणिम्॥ (कुमार संभवम् 6-8)

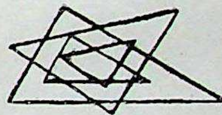
(6) 'मध्येन सा वेदिविकाग्नमध्या वल्लिमयं चारु बभार बाला।' कुमारसंभवम्, 1-39)

से पहले मध्य से विमुक्त होता है। दूसरे से यज्ञ क्रिया निर्वहण द्वारा और तीसरे से सत् संतान की प्राप्ति द्वारा विमुक्त होता है। यहां दिलीप के अंतयमध्य पद प्रयोग से आशय 'सत्संतान हीनता' है। इस प्रकार की श्रोत परिभाषाएं इस श्रोत कवि के लिए हस्तामलकवत् ही हैं।

इसी विषय को कवि ने एक दूसरी जगह इस प्रकार चित्रित किया है। संदर्भ इस प्रकार था। नंदिनी धेनू की परिचर्या के फल स्वरूप दिलीप को पुत्रोदय हुआ। पुत्रोत्सव के संदर्भ में महाराज संप्रदाय के अनुसार कैदियों को कारामुक्त करते थे। परन्तु रघुकूल संजात इस धर्म प्रभु के राजराज्य में कारागार बन्दी जन शून्य रहने के कारण किन्हें मुक्त करेगा? लेकिन अब तक संतान के अभाव में 'पितृऋण' रूपी बंधन में बंदीकृत दिलीप सार्वभौम इस पुत्रोदय से पितृऋण मुक्त हुए। पिंडितार्थ यह है कि सत् पुत्रोदय से अंत्यचहण से पिता अमहण हो जाता है। भव्य-भाव-भासुर वह श्लोक इस प्रकार है:

"न संचत स्तस्य बभूव रक्षितु विसर्जेधं सुतजन्म हर्षित :।
महपाभिधानात्स्वय मेव केवलं तदा पितृणमुमुचे स बन्धानात्॥'
(रघुवंशम्, 3–20)

ऐसे श्रुति सिद्ध संप्रदाययों के चित्रण से कालिदास ने श्रोत संप्रदाय विषय में मनुष्यों को अपना कर्तव्य स्पष्ट करना चाहा। ये श्रोत क्रिया-कर्म भारत जाति की विशिष्टता के मूलाधार बने हुए हैं और इस प्रकार कालिदास कवीन्द्र के काव्य भारतीय संस्कृति सर्वस्त के भण्डार हैं।



लोक मानस में रमे हुए राम का स्वभाव

नरेन्द्र भट्ट

भारतीय लोकमानस में 'राम' ऐसे रमे हुए हैं कि उनके मनोमय विश्व में 'राम' के समान आदर्श का प्रतीक पुरुष कोई और नहीं है।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम और काव्य जगत के अनुपम शिल्पी तुलसी, आराधक और आराध्य, दाता और याचक--आदि रूपों की छवि के चित्रों का अंकन अद्वितीय और अतुलनीय तुलसी साहित्य में मिलता है।

राम का स्वभाव ऐसा ही आकर्षण है जिस पर लोक मानस सर्वाधिक मुग्ध हुआ है। राम ने कभी कूटनीति से काम नहीं लिया। उनकी रीति नीति तो इतनी सहज सरल रही है कि साधारण जन भी सब समझकर उसको स्वीकार करते थे।

राम जैसा सज्जन कहां? इस विश्व में उनको हम 'सज्जनता' का सप्राण प्रमाण बतलाते हैं। 'राम' का सम्पूर्ण व्यक्तित्व अनेक आदर्शों को प्रतिष्ठित करने में बेजोड़ है। लोक मानस में राम चरित को पढ़ने से कुछ चित्र उभर आते हैं।

राम चरित मानस एक सागर के समान है जिसमें मुक्ताओं और रत्नों की कमी नहीं है। इसकी सुषमा अनुपम है। मानस के कुछ चित्र ऐसे उभरे हैं जैसे वे इसी युग की घटनाएं हों। राम की पितृ-भक्ति, अनुपम त्याग, मातृ प्रेम, दाम्पत्य--प्रेमादर्श, दीनवत्सलता, दुष्टों के प्रति आक्रोश और उनका दलन आदि अनेक चित्र भारतीय हृदय की पुकार है।

राम के स्वभाव का ऐसा कौन सा पक्ष था जिस पर बाबा तुलसीदास का मन रीझ गया। राम के वे गुण जिनको हम बहुत बड़ा बतलाते हैं उस पर नहीं, किन्तु, 'उदारता' जैसे अपेक्षाकृत मामूली गुण पर रीझा था। इसका उल्लेख विनय पत्रिका में महात्मा तुलसी करते हैं।

ऐसो को उदार जग माहीं,
बिन सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं।

तुलसी जानते थे कि उनकी नश्वर देह के अन्दर निवास करने वाली आत्मा के संसार से विरक्त मन के आराध्य देव सिर्फ उदारमना 'राम' ही हो सकते हैं।

राम को स्वभाव से सबसे प्रिय कौन है? कौन सी खूबी है जो राम को भी बांध कर रख सकती है। वह है प्रेम। तुलसी लिखते हैं:—

रामहिं केवल प्रेम पियारा। जान लेहु जो जान निहारा।
राम सकल वनचर तब तोसे। कहि मृदु वचन प्रेम परिपोसे।

अरण्य के वनचर प्राणि ही नहीं नभचर भी राम को सरलता और स्नेह पर अनुरक्त होकर मरणासन्न दशा में भी राम को नहीं भूलते ऐसा अद्वितीय है राम का स्वभाव। पठनीय है ये पंक्तियां

पूरनकाम राम सुख रासी। मनुज चरित्रकर अज अविनासी।
आगे परागीध पति देखा। सुमिरत रामचरन जिन्ह रेखा।

'परहित बस जिन्ह के मन माही, चिन्ह कहुं जग दुर्लभ कुछ नाहीं' सिद्धान्त के पक्षधर और इसे व्यवहार में आचरित करने वाले राम का जीवन के 'अथ' से 'इति' तक यही यत्न रहा है कि सदैव सबका हित हो। किन्तु हठी और दुर्बुद्धि रावण ने उनका सुझाया हितपूर्ण मार्ग अस्वीकार कर दिया। वह परिणामस्वरूप वह मौत का ग्रास शीघ्र ही बन गया था। 'राम' उसके संहारक के रूप में मिमित्त मात्र थे।

राम का शील 'शील' गुण का मूर्तिमान स्वरूप है। शील जिसमें ओजस्विता, विवेक और मर्यादा हो वह शील विश्व में अद्वितीय है। शील के साथ यदि सत्य हो तो फिर उसी शील की कोई मिसाल नहीं। राम के शील में ओज, विवेक और मर्यादा सत्य के साथ एक और गुण है वह है उसका कल्याणकारी स्वरूप वाला होना।

निर्मल मन राम निर्मल मनुष्यों को ही पसन्द करते हैं। पसन्द इस अर्थ में चाहे वह स्नेही रूप में हो, चाहे सेवक रूप में। स्नेही और निर्मलमना शबरी को राम ने आदर किया और कपटी सूर्पनखा को अनादर और दंड दिया। राम के शील के विषय में तुलसी ने स्वयं राम के मुख से एक स्थल पर कहलाया है —

रघुबंसिह कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ धरई न काऊ।
मोहिं अतशय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी।

अन्यत्र एक स्थल पर तुलसी ने रामचन्द्र के स्वाभाव को 'करुणा-मय मृदु राम सुभाऊ' लिखा है। जिस तरह पारस के स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है। उसी तरह से राम के सम्पर्क में आकर वन के कठोरकर्मी कोल किरातों में भी परिवर्तन हुआ उसका अंकन करते हुए तुलसी लिखते हैं।

भय साधु सब कोल किरातन,
राम दरस मिटि गए कलुषाई।

राम से मिलने पर राम के स्वाभाव से प्रभावित कोल किरात कहते हैं :--

सपनेहुं धर्म बुद्धिकस। यह रघुनन्दन दरस प्रभाऊ।,
जब ते प्रभुपद पदुच निहाय। मिट रसह दुख दोस हमारे।

राम का हृदय करुणा का सागर है। राम ने जब निशाचरों द्वारा खाये गए हड्डियों के ढ़ेर को देखा, उनकी आंखों में आंसू आ गये। तब राम ने, प्रण किया--

निसीचर हीन करहुं महि, भुज उठाई पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाई जाई सुख दीन्ह।।

और राम ने अपने इस प्रण को पूरा किया।

राम का 'संकोच' भी अपने भक्तों को कुछ देते हुए कैसा था, दर्शनीय है--

जो संपत्ति सिव रावनहिं, दीन्हि दिए दस माथ।
सोइ संपदा विभीषनहिं सकुचि दीन्हि रघुनाथ।

कागभुशुण्डि को राम ने अपने प्रिय लगने वाले भक्त के बारे में बतलाया था--

सत्य कहऊ खग तोहि, सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।
अस विचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब।।

अर्थात् हे पक्षी ! मैं तुझसे सत्य-कहता हूं, पवित्र (अनन्य एवं निष्काम) सेवक मुझे प्राणों के समान प्रिय है ऐसा विचारकर सब आशा भरोसा छोड़कर मुझको ही भज।

सरल स्वभाव के राम की दयालुता का वर्णन तुलसी ने दोहावली में इन पंक्तियों में किया है --

मुकुर निरखि मुख राम भ्रू गनत गुनहिं दै दोष।
तुलसी से सठ सेवकन्हि लखि जनि परहिं सरोष।।

अर्थात् "राम दर्पण में अपना मुख देखकर अपनी भौंहों को जो सहज वक्र होती हैं। उस गुण को दोष देते हैं, और सोचते हैं कि तुलसी सरीखे सेवकों को कहीं इन टेढ़ी कुटियों में क्रोध नहीं दिखाई देने लगे।"

राम के स्वाभाव के गुणों का वर्णन करने में तुलसी ने समस्त पूर्ववर्ती कवियों को पीछे छोड़ दिया है। फिर भी तुलसी अपने वर्णन को एक छोटा सा विनम्र प्रयास समझते हैं। वे लिखते हैं :--

प्रभु गुन गन भूषन बसन बिसद बिसेष सुबस।
राम सुकीरति कामिनी तुलसी करतब केस।।

अर्थात् प्रभु राम के गुण के समूह राम की कीर्तिरूपी कामिनी के वस्त्र और आभूषण हैं जिनसे उनका वेष बहुत ही स्वच्छ और सुन्दर जान पड़ता है। तुलसीदास की (उस कीर्ति का वर्ण करने का कार्य) जो करतूत है वह (अनाधिकार प्रयास होने के कारण अत्यन्त काली है इसलिए) उसके केश हैं।

कितने ही हजार वर्ष बीत गये। लेकिन राम के स्वभाव की बातें या विशेषताएं इस युग में भी अपना अमिट प्रभाव भारतीय लोक मानस पर बनाये हुए हैं। राम का स्वभाव अपनी उत्कृष्टता और अनुपमता के कारण इस बीसवीं सदी के स्वभावगत जटिलता, कुटिलता और प्रछन्न और विघटित व्यक्तित्व से भरे परिवेश में दिशा-दर्शक प्रेरक है और सदैव प्रेरणा का अतुलनीय स्रोत रहेगा।

माधुर्य के कवि : सुमित्रानन्दन पंत

केदारनाथ कोमल

आज मानव ने जल-थल पर विजय पा ली है। इन उपलब्धियों के बावजूद जितना दुखी और विपन्न वह आज है, उतना शायद पहले कभी नहीं थी । कारण, बहिर्जगत में पूरी तरह खोकर वह अपने अन्तर्जगत को भूल गया है। उसके बाहर और भीतर के संसार का संतुलन बिगड़ चुका है, उसकी बहिर्चेतना और अन्तश्चेतना का सामंजस्य वह हो गये हैं। जब तक इन दोनों में फिर से सामंजस्य स्थापित नहीं होता, मानव की भटकन अनन्त रहेगी ।

मानव के प्रति गहरा प्रेम रखने वाला कवि—सुमित्रानन्दन पंत 77 वर्ष की आयु में हिन्दी साहित्य को सूना कर गए। छायावाद के सुदृढ़ स्तम्भ के रूप में 50 वर्षों तक निरंतर हिन्दी की सेवा करने के बाद पंतजी का अवसान हिन्दी के एक युग का अवसान था। 1971 में चिदंबर पर ज्ञानपीठ पुरस्कार से विभूषित किया गया था। 1961 में वे पद्मभूषण से अलंकृत हुए थे। कला और बूढ़ा चांद पर उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला था। पंत जी समसामयिक भारत की महानतम साहित्यिक विभूतियों में से एक थे जिनकी कृतियां आने वाली पीढ़ियां स्मरण करती रहेंगी ।

हिमालय के पुत्र, प्रकृति के रंगशिल्पी और ग्रामवासिनी 'भारत माता' के अनुपम रससिद्ध का जन्म सन् 1900 में कौसानीं (अल्मोड़ा) में हुआ था। प्रकृति की गोद में जन्म लेकर पंतजी ने उसे विविध रूपों में अपने काव्य में चित्रित किया है। उनकी शिक्षा सात साल की उम्र में गांव की पाठशाला से शुरु हुई। चार-पांच साल बाद वे अल्मोड़ा के गर्वमेंट स्कूल में भरती हो गए। 1922 में जब वे कालेज के विद्यार्थी थे, असहयोग आन्दोलन आरम्भ हो गये। पढ़ना लिखना छोड़कर पंत जी इस आंदोलन में कूद पड़े।

उन पर उपनिषदों, भारतीय दर्शन, बंगला साहित्य विशेकर गुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा अंग्रेजी कवियों का गहरा प्रभाव था। उनका बचपन का नाम गोसाई दत्त था। साहित्य जगत में उन्होंने 'रुपाय' (साहित्यिक पत्र) का सम्पादन किया तथा उदयशंकर की फिल्म 'कल्पना' के निर्माण में सहयोग दिया।

उनका व्यक्तित्व वैसा ही कोमल जैसा कि उनकी कविताएं। वे स्वभाव से मृदुल, मित्त एवं मिष्ठभाषी, सहृदय और सौन्दर्य प्रिय थे। वे प्रकृति के इतने निकट रहे थे कि उनका स्थान हिन्दी साहित्य में अंग्रेजी साहित्य के वर्डस्वर्थ से कम नहीं। शुरु की कविताओं में प्रकृति प्रेम का नमूना देखिये ।

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया,
बोले तेरे बाल जाल में, कैसे उलझा दूं लोचन ।

वे अतिशय शालीन, संकोचशील तथा असाधारण आकर्षण के स्वामी थे। उनके मित्रों की संख्या गिनती की थीं। उनका मित्र बनने के लिऐ लोगों को उनके पास जाना पड़ता था। वे लोगों के पास नहीं जाते थे। यही कारण है कि गिनती के मित्रों के कारण पंतजी को उचित प्रकार के समीक्षक अच्छी मात्रा में नहीं मिल पाए। उनके निजी व्यक्तित्व के साथ संतुलित बौद्धिक भूमिका का निर्माण नहीं हो पाया। इस कमी की पूर्ति के लिए उन्हें निजी साधना करनी पड़ी। वे छायावादी से गांधीवादी बने। उन्हें मार्क्सवाद की हवा भी लगी। अंततः वे एकांतिक अरविंद–दर्शन के क्षेत्र में चले गए ।

किसी साहित्य को समझने के लिए उसके श्रेष्ठ कवियों/लिखकों को समझना आवश्यक है। हिन्दी साहित्य के जाने-माने आलोचक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'छायावाद', 'जयशंकरप्रसाद' तथा 'कवि निराला' के बाद कवि सुमित्रानन्दन पंत पर पुस्तक लिखना चाहतें थे कि उनकी व्यस्तता, बीमारी अंत में मृत्यु ने इजाजत नहीं दी। इसलिए पाण्डुलिपि का संपादन करके पुस्तक रूप में प्रस्तुति का काम आचार्य जी के प्रिय शिष्य डा० शिवकुमार मिश्र ने पूरा किया।

डा० मिश्र ने प्रस्तावना में आचार्य जी के विचारों पर आधारित महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए हैं। मसलन दर्शन और कविता के बीच कैसा संबंध होना चाहिए। छायावाद के बड़े कवियों में सुमित्रानन्दन पंत एक मात्र कवि हैं, जो दर्शन और कविता के बीच सहज सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकते। इसलिए उनकी कविता दर्शन की गरिमा और प्रौढ़ता से वंचित रह गई, जिसका उदाहरण हमें प्रसाद, निराला तथा महादेवी के काव्य में मिलता है ।

पर सच तो यह है कि दर्शन की कोई सुस्पष्ट भूमि पंत भले ही न पा सके हों, दर्शन की इस खोज ने इस तथ्य को पूरी तरह उजागर किया है जिसे समीक्षक सहज प्रकृति का कवि कहकर छुट्टी पा लेता था, वह प्रकृति के क्षेत्र में पलायन करने वाला नहीं, वरन् मनुष्य

तथा सृष्टि के कल्याण के प्रति 'कंसर्न्ड' सर्वाधिक चिन्ताशील है। प्रश्न उठता है कि पंत दर्शन की राहों पर क्यों-किसके लिए भटके ? किस लक्ष्य अथवा अपने किस 'विजन' (vision) की पूर्ति होते न देख वे एक दर्शन से दूसरे दर्शन के दरवाजे खटखटाते रहे। उनके पास क्या नहीं था ? उनके पास प्रतिभा थी, सक्षम कल्पना थी, अतिशय संवेदनशील और भावप्राण हृदय था, वे चिंतन व्यक्तित्व के भी स्वामी थे। प्रकृति उनकी मां, शिक्षिका, आश्रयस्थल, सब कुछ थी। वे सरलतापूर्वक इन्द्रधनुषी कल्पना कवियों की व्यक्तिगत संयोग-वियोग का, प्रकृति प्रेम की कविता कर सकते थे और प्रथम श्रेणी के कवि कहला सकते थे।

पंत अपने अभिमान में कवि के स्तर पर भले ही सफल न हो पाए हों, मनुष्यता के कल्याण और उनकी हितचिंता को सर्वोपरि मानने वाले एक सहृदय, ईमानदार तथा अतिशय मानवतावादी रचनाकार के रूप में सदैव याद रखे जायेंगे।

आचार्य जी का कहना था कि पश्चिमी कविता, विशेषतया अंग्रेजी की स्वच्छंदतावादी कविता का जितना परिपूर्ण अध्ययन छायावादियों में पंत का था, उतना निराला या प्रसाद का नहीं। पंत आचार्य जी, भविष्यदृष्टि से युक्त कवि की संज्ञा देते थे। यह तथ्य अन्य छायावादी कवियों से उन्हें विशिष्टता प्रदान करता है। पंत भाषा के अद्भुत शिल्पी और जादूगर हैं। अन्य छायावादी कवियों के विपरीत उनका अपना भाषा संसार है जिसे अलग से पहचाना जा सकता है।

आलोच्य पुस्तक चार निबंधों में बंटी है —(1) स्वच्छंदतावाद, छायावाद, रहस्यवाद (2) छायावाद की प्रगीतसृष्टि और पंत का प्रवेश (3) पुष्पोपहार पंत का व्यक्ति और काव्य तथा (4) पंत का काव्य : एक मूल्यांकन। पहले निबंध में आचार्य जी कहते हैं कि छायावाद में निहित आध्यात्मिकता की चेतना है। कोई जरूरी नहीं कि स्वच्छन्दतावाद में भी इसी प्रकार की आध्यात्मिकता की स्थिति हो जबकि छायावाद की वह विशिष्ट पहचान है। इसलिए प्रत्येक छायावादी अनिवार्यतः स्वच्छन्दतावादी होता है। स्वच्छन्दतावाद एक व्यापक प्रकृति है और अपने भीतर छायावाद को निहित किये हैं किन्तु छायावाद के अंतर्गत समूचे स्वच्छन्दतावाद को नहीं उठाया जा सका। तमाम दीगर प्रवृत्तियां दोनों में समान हैं किन्तु छायावाद का विशिष्ट चरित्र उसकी आध्यात्मिक रुझान में देखा जा सकता है। उनका कथन है कि 'प्रचलित धारणा के अनुसार प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी छायावादी हैं। एक काव्यांदोलन के रूप में यह सत्य है किंतु वैचारिक दृष्टि से उनमें अंतर है। 'पंत प्रकृति प्रेमी हैं, उनमें आध्यात्मिक सत्ता का अनुभव करते हैं तथा प्रेम और सौन्दर्य के अनुगायक हैं—आध्यात्मिक दर्शन होने के कारण वे विशुद्ध छायावादी कवि हैं। "

इस निबंध में स्वच्छंदतावादी कवियों और हिन्दी के प्रसाद, निराला, पंत आदि कवियों की तुलना की है। कीट्स तथा पंत के बीच भी अनेक समानताओं को उन्होंने लक्ष्य किया है।

पंत के बारे में उनका अभिमत है कि 'वे शत-प्रतिशत कवि नहीं, व्याख्याता भी है, कीट्स शत-प्रतिशत कवि हैं।

'छायावाद की प्रगीतसृष्टि और पंत का प्रवेश' में आचार्यजी साहित्य के बारे में कहते हैं—'साहित्य कोरी राजनीति नहीं है, न वह राजनीति भावना का उच्छवास मात्र है। साहित्य वास्तव में कवि का भाव सत्ता के साथ संपूर्ण व्यक्तित्व का समाहार है।' पंत की प्रगतिशीलता समझने के लिए यह लेख अत्यंत महत्वपूर्ण है।

पुष्पोपहार (पंत का व्यक्ति और काव्य) संस्मरणात्मक है और विवेचनात्मक भी। मित्रों की कमी के कारण पंत को उचित प्रकार के समीक्षक अच्छी मात्रा में नहीं मिले हैं, जिनके कारण उनके काव्य का विवेचन कुछ एकांगी हो गया है। पंत जी के निजी व्यक्तित्व के साथ संतुलित बौद्धिक भूमिका का निर्माण नहीं हो पाया। इस कमी की पूर्ति पंत को अपनी निजी साधना से ही करनी पड़ी। पंत छायावादी से गांधीवादी बने। उन्हें मार्क्सवाद की हवा भी लगी और अंततः वे ऐकांतिक अरविन्द-दर्शन के क्षेत्र में चले गए।

'चिदंबरा' की भूमिका में नई कविता के बारे में पंत जी ने लिखा है 'आज की नयी कविता अपनी प्रयोगवादी सीमाओं का अतिक्रमण करने के प्रयत्न में, नवीन मानव मूल्यों की खोज में, सामाजिक चेतना की वास्तविकता के घनत्व से हीन एक भयानक शून्य में अटक गई है, और उपचेतन व्यक्तित्व के गर्त में फंस कर ऐसे अतिवैयक्तिक छायावासों तथा व्यक्तिगत रुचियों के भावना मूढ़ भेदापभेदों, अतिवास्तविक प्रतीकों तथा शशक शृंग बिम्बों को जन्म दे रही है जिनका मानवता तथा लोक मांगल्य से दूर का भी संबंध नहीं। मांगल्य, जो बहुमुखी मानव सत्य की एकमात्र कसौटी है। इस प्रकार वह एक कृत्रिम भाविक अलंकरण मात्र बनती जा रही है।' साठ पार करने के बाद भी पंत का कवि व्यक्तित्व अब भी सजग-सचेत है तथा वह श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि के लिए पूरी तरह सचेत और सक्षम भी है।

पंत का काव्य : एक मूल्यांकन में कहा गया है कि कल्पना ही पंत की कविता की विशेषता, उसके आकर्षण का रहस्य है। यही उनकी विविध बहुमुखी रचनाओं के आधार, उनमें रमणीयता का विस्तार करती है। प्रेम और सौन्दर्य की सूक्ष्म मानसिक विकृति में पंत की कल्पना समर्थ हुई है और यत्र-तत्र यही कल्पना अध्यात्मिक उड़ान भी लेती चली है। इसे ही प्रचलित शब्दावली में छायावाद कहा जाता है। कल्पना का अतिरेक जीवन का संपर्क छोड़कर एकांतिक हो जाए तो खतरा पैदा हो जाता है।

पंछी कितना उड़े आकाश
दाना धरती के पास।

पंत जी ने खड़ी बोली को भावाभिव्यक्ति की विशेष शक्ति प्रदान की। पंतजी पर अभियोग लगाया जाता है कि वे न केवल बंगला के शब्द प्रयोगों को हिन्दी में अपनाते हैं, वे तो अंग्रेजी और बंगला के रवीन्द्रनाथ आदि से भावापहरण भी करते हैं। वास्तव में उसे 'अपहरण' न कह कर, 'अलंकरण' कहना चाहिए। पंत ने रवीन्द्रनाथ से बहुत कुछ प्राप्त किया है, तो क्या रवि बाबू ने दूसरे कवियों (विशेषकर कबीर) से प्राप्त नहीं किया ?

पंत की कृतियों का मूल्यांकन करते हुए कहा गया है कि 'उच्छवास' और 'आंसू' में पंत की कल्पना कहीं भी गंभीर स्पर्श

नहीं करती, व्यक्तिगत आकांक्षा और आवेग तक सीमित रहती है। 'ग्रंथि' पंत की विशेष मार्मिक विरह कविता है। 'परिवर्तन' में पहुंच कर पंत की कल्पना सचेत होकर अपनी शक्ति का परिचय देती है ——

निरपराधों के लिए भी तो अहा !
हो गया संसार कारागार है।

'पल्लव' में वियोग पक्ष प्रमुख होने के कारण करुण निराशा की एक अश्रुपूर्ण झलक ही मूर्तिमती होती है। पंत वियोगवर्णन में कल्पना का पल्ला भावातिरेक के समय कहीं-कहीं छोड़ भी देते हैं, पर संयोगवर्णन में वे प्रायः कभी ऐसा नहीं करते। मध्यकाल के शृंगारी कवियों के विकास से पंत के विकास में यही मौलिक अंतर है। उनका संयोगवश सर्वत्र कल्पना प्रसूत होने के कारण अधिक संयमित शुद्ध और अनुभूतिप्रद हुआ है। इस प्रकार अनुभूतियां पंत की सौन्दर्य चेतना में विशेष रूप से सहायक हुई हैं।

'गुंजन' का वास्तविक महत्व पंत की 'एक तारा', 'चांदनी', 'अप्सरा' और 'नौका-विहार' शीर्षक लंबी कविताओं में पाया जाता है जिनमें पंत 'पल्लव' ˇस्तर से ऊंचे उठे हैं! संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'गुंजन' की विचार-भूमिका जीवन में सुख-दुख के सामंजस्य या समन्वय का आधार लेती है।

मानव संसार में वैषम्य क्यों है ? सुख-दुख की अनुभूतियां पृथक-पृथक क्यों होती हैं ? 'झर गई कली' शीर्षक कविता में पंत कहते हैं कि मानव जब कभी अपनापन छोड़ बैठता है, आत्मा के अक्षय धन से वंचित हो जाता है, तब वह भ्रांत, अस्थिर और दुखी होता है। आत्मा के धन को पहचानना और उस पर दृढ़ता से स्थिर रहते हुए सांसारिक जीवन का साक्षात्कार करना पंत अपेक्षित ठहराते हैं।

'युगांत' में प्राचीनता के त्याग और नवीनता के प्रवेश की आकांक्षा व्यक्त की गई है। 'युगवाणी' में युग के गद्य को वाणी दी गई है। 'नए विचारों, नवीन तथ्यों और नई भावराशि से काव्य को सज्जित करते हुए उन्होंने उसके लिए नए वाहन (भाषा) की समुचित व्यवस्था नहीं की है। कदाचित इसीलिए 'युगवाणी' की कविताओं में संपूर्ण समन्वय या एकात्मकता की कमी रह गई है।'

'युगवाणी' की दूसरी प्रवृत्ति छायावाद की आलंकारिता को वर्जित कर नवीन काव्य-शैली का संकेत करने में दिखाई देती है। इसकी तीसरी प्रवृत्ति कतिपय आत्मनिवेदनात्मक और प्रशस्ति मूलक रचनाओं में दिखाई देती है। 'युगवाणी' में यथार्थ चित्रण भी उल्लेखनीय है। इस पुस्तक में पंत गांधीजी के अध्यात्मवाद और मार्क्स के भौतिकवाद द्वंदों में फंसे हुए हैं। 'युगांतर' में एक मार्मिक बात कही गई है——

ज्ञान का पथ कृपाण की धारा !

'ग्राम्या' में आकर पंत विचारक को छोड़कर पुनः कवि रूप में प्रतिष्ठित हो गए हैं। कहा जा सकता है कि 'पल्लव' के पश्चात 'ग्राम्या' ही उनकी ऐसी काव्य पुस्तक है जिसमें वे प्रकृतिस्थ दिखाई देते हैं। बीच की रचनाओं 'गुंजन' 'युगांत' और 'युगवाणी' में कवि का सहज रूप कठिनाई से दिखाई देता है।

अंत में कहा जा सकता है कि पंत जी प्रकृति प्रेमी, गांधीवादी, मार्क्सवादी अब श्री अरविंद दर्शन से प्रभावित हुए हैं। इस बदलाव के बावजूद पंत जी आचार्य जी के सदैव प्रिय कवि रहे हैं और वे सदैव 'प्रथम श्रेणी के कवि के रूप में मान्य रहेंगे। सारे भटकावों के बावजूद पंत का स्थान अक्षुण्ण रहेगा।"

सरगुजा की आदिम संस्कृति और जादू टोना

कुन्तल गोयल

आदिम मानवों ने सर्वप्रथम अलौकिक शक्तियों पर विजय पाने तथा उन्हें नियन्त्रित करने के लिये दो शक्तियों का सहारा लिया—प्रथम, उस शक्ति की आराधना कर उसे प्रसन्न करके तथा दूसरा उस शक्ति का दमन करके। प्रथम से धर्म का विकास हुआ और दूसरे से जादू-टोने का उद्भव हुआ। जादू उस शक्ति विशेष का नाम है जिसके द्वारा अति मानवीय जगत पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सके तथा अपनी क्रियाओं को अपनी इच्छानुसार भले या बुरे, शुभ या अशुभ उपयोग में लाया जा सके। इस तरह जादू के तीन रूप सम्मुख आए—पहला, जादू का सम्बन्ध अति मानवीय जगत से है। दूसरा, जादू एक शक्ति है जिसे कर्ता (जादूगर) अति मानवीय जगत पर नियन्त्रण करने के लिये अपने अधिकार में रखता है। तीसरा, इस शक्ति का प्रयोग कर वह अपनी इच्छा की पूर्ति करता है। इस संबंध में फ्रेजर का मत है कि जादूगर में दो विशेषताएं पाई जाती है। सर्वप्रथम उसका यह विश्वास होता है कि उसकी जादुई शक्ति प्राकृतिक शक्तियों से भी अधिक शक्तिशाली है। इसका कारण भी यही माना गया है कि वह प्राकृतिक शक्तियों के कार्य-करण संबंधों के अटल नियमों का ज्ञाता है। अतः वह उन पर प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है। वह प्राकृतिक शक्तियों को अपना दास समझता है जिसके द्वारा वह अपनी इच्छानुसार कार्य सम्पन्न कर सकता है। दूसरी विशेषता कार्य विधि से संबंधित है। धर्म की भाँति जादू करने वाला व्यक्ति प्राकृतिक शक्तियों की विनयपूर्वक आराधना न कर उस पर अपनी शक्ति द्वारा आधिपत्य स्थापित कर उससे अपने अभीष्ट की सिद्धि करता है।

जादू-टोने की क्रिया में मंत्रों का विशेष महत्व होता है। मंत्र शब्द का पर्यायवाची 'मंतर' अत्यन्त लोक प्रिय प्रचलित शब्द है। इसमें कतिपय शब्दों का समावेश होता है जो उच्चारित या अभियंत्रित साधारण शब्दों से कुछ भिन्न और सामान्यतः गुप्त रखे जाते हैं। शब्दोच्चार के साथ मंत्रों के प्रतिफलित होने के लिये कपितय क्रियाओं को भी सम्पन्न किया जाता है। 'मंतर' के साथ ही 'जन्तर' का भी प्रयोग किया जाता है। 'जंतर' वह है जो लिखा जा कर किसी भी तरह शारीरिक स्पर्श पाकर प्रभाव उत्पन्न करता है जबकि 'मंतर' केवल शब्द रूप में प्रभाव उत्पन्न करता है। यह विशिष्ट साधनाओं की परिपाटी से संबंधित है। इनके ज्ञाता विशेषतः ताँत्रिक और सिद्ध माने गए हैं। इनकी साधना अत्यन्त गुह्य रूप से की जाती है। इनसे प्राप्त सिद्धि लाभ प्राप्ति, दोष तथा दृष्टि हानि (नजर निवारण) एवं चमत्कार प्रदर्शन जैसे सभी रूपों में काम आ सकती है। इस तरह सिद्ध पुरुषों द्वारा कहे गए मन्त्र भिन्न-भिन्न सिद्ध पुरुषों के साथ भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। इनमें अर्थ का नितान्त अभाव होता है। ये मंत्र सिद्ध पुरुषों के मुख से निकलते ही अपना कार्य सम्पन्न कर समाप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे मंत्र भी हैं जो स्वयं शक्तिमान है तथा कोई भी व्यक्ति विधि पूर्वक उन्हें काम में लाकर इष्ट साधन कर सकता है। इन मंत्रों में प्रायः शब्द गौरव ही रहता है।

सरगुजा मध्य प्रदेश के छतीसगढ़ अंचल का उत्तरी-पूर्वी भाग है जहां अति प्राचीन काल से ही तान्त्रिक विद्या का प्राबल्य रहा है। इसी समय से यहां नर-बलि की प्रथा प्रचलित होने के कारण मुण्डमालो की अधिकता रही है। लोकमत के अनुसार 'सरगुजा का प्राचीन 'सिरगजा' नाम इसी के आधार पर प्रचलित हुआ है। जादू-टोने की अधिकता के कारण तथा ताँत्रिक दृष्टिकोण से भी इसकी पुष्टि होती है। 'सर का अर्थ 'वाण' (वान) होता है। जो यहां के आदिवासीयों की तांत्रिक विद्या का एक प्रमुख उपादान है। आज भी यहां के आदिवासियों में जादू-टोने पर प्रबल आस्था है। जादू-टोना इनके लिये एक व्यवहारिक बात है। जादू-टोने के सम्बन्ध में इनकी यह मान्यता है कि संकट काल अथवा मानसिक तनाव की स्थिति में जादू-टोना ही वह अमोघ अस्त्र है जो उन्हें इन सबसे मुक्ति दिला सकता है। मुक्ति दिशा सकता है। जादू-से फसल के लिए वर्षा होती है, बड़े-बड़े शिकारों में सफलता प्राप्त होती है, पारिवारिक समृद्धि, पशुधन की सम्पन्नता आदि इसी से संभव हैं। यही नहीं, मनुष्य की रोग-व्याधि अथवा मृत्यु संकट में इससे सुरक्षा मिलती है। गर्भ धारण, शिशु जन्म, विवाह, नृत्य, प्रेम, आदि आह्लाद पूर्ण अवसरों पर वातावरण के अनुरुप ही जादू अपना समायोजन करता है। अतः इस तरह यह आदिवासियों के लिये एक सम्पूर्ण मानवीय कला के रूप में प्रस्तुत हुआ है।

जनसंख्या की दृष्टि से सरगुजा में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का आधिक्य है। अतः जादू-की अपेक्षा यहां टोने का ही अधिक प्रचलन है। जादू और टोने में एक सूक्ष्म सा भेद है। 'जादू' पुरुषों द्वारा किया जाता है जबकि 'टोना' स्त्रियों द्वारा। जादू-टोना करने वाले पुरुष यहां 'डेइया' या 'टोनहा' कहलाते है तथा स्त्रियां 'टोनही' या 'टोनाहिन' के नाम से जानी जाती है। पुरुष स्त्रियों की तरह भयंकर नहीं होते। वे अपनी तांत्रिक विद्या का प्रयोग बहुत ही सोच-विचार कर करते हैं। संभवतः

इसी कारण ये गांव के रक्षक माने जाते हैं। सन्तान, सौभाग्य एवं वांछित इच्छाओं की पूर्ति एक नारी सुलभ भावना है। अतः जादू-टोने का प्रचलन यहां की आदिवासी स्त्रियों के लिये एक सामान्य सी बात है। टोनही स्त्रियां बड़ी भयंकर मानी जाती हैं। इनकी शक्ति से आतंकित लोकवासियों की यह धारणा है कि ऐसी स्त्रियां मारण, मोहन और उच्चाटन सभी विद्याओं में पारंगत होती है। इनकी शक्ति अपार होती है। ये बालको को नजर लगाने, स्तनपायी बालकों को दूध न पीने देने, दूध देने वाली गाय का दूध सुखाने, हरे-भरे वृक्ष-फसल आदि के नष्ट करने, गांव में महामारी लाने—यहां तक कि सोते हुए व्यक्ति का रक्त चूसकर उसे अशक्त या निर्जीव कर देने जैसे अनिष्टकारक कार्यों में सिद्धहस्त होती हैं। ऐसी स्त्रियों को समाज में शत्रु माना जाता है तथा समाज से इन्हें बहिष्कृत कर इनके लिये कड़े से कड़े दण्ड देने का प्रावधान है।

टोने की उत्पत्ति का मूल कारण ईर्ष्या-द्वेष होता है जोकि स्त्रियों के चरित्र में न्यूनाधिक्य मात्रा में प्रबल रहता है। पुत्रवती नारी, सौभाग्यवती स्त्री या धन-धान्य से सम्पन्न अपने परिवार में सुख-संतोषपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाली स्त्रियों के प्रति ऐसी टोनही स्त्रयों की ईर्ष्या एक सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। ऐसी स्त्रियां सन्तान तथा पति के प्यार से वंचित होती है। ईर्ष्यया की पराकाष्ठा उस समय देखने में आती है जबकि वे अपने परिवार के आत्मीय जनों को भी नहीं छोड़ती।

टोनही स्त्रियां परम्परागत रूप में जादू-टोहने की अपनी शक्ति या विद्या अपनी लड़की या बहू को देती है ताकि कुछ आत्माओं को वश में कर वे अपने अभीष्ट की पूर्ति कर सकें। आत्माओं को प्रसन्न करने के लिये ये भयंकर अनुष्ठान करती है। इसके लिये वे देवी के समक्ष अंधेरी अर्द्ध रात्रि में नग्न होकर नृत्य करती है। देवी पर मनुष्य का रक्त चढ़ाती तथा पक्षियों की बलि देती हैं। सामान्यता यह माना जाता है कि टोनही स्त्रियां मृतकों विशेष रूप से अविवाहित बच्चों की आत्माओं को जगाती हैं जिन के शव दफनाये जाते हैं। यही कारण है कि आदिवासियों के किसी अविवाहित युवक का शव दाह करने के बाद उसके सम्बन्धी तीन दिनों तक उसकी चिता की देखभाल करते हैं ताकि कोई टोनही स्त्री उसे जगाने न पहुंचे। तत्काल जन्म लेने वाले तथा छोटे बच्चों के शवों का टोनहियों द्वारा विशेष रूप से पीछा किया जाता है। वे उन्हें भुका देव या गूंगी आत्मा बना देती हैं जो सदैव उनकी आज्ञा का पालन करने के लिये तत्पर रहती है। कहा जाता है कि जब कभी टोनही किसी बच्चे के शव को जगाती है तो सर्वप्रथम वह अपने को अदृश्य रखने के लिये कुछ विशेष जड़ी-बूटियों का सेवन करती है और शमशान भूमि की ओर भागती है। मंत्रोच्चारण करने के बाद वह शव को जगाती है। फिर उसे वस्त्राभूषण से सज्जित करती है। शव के जीवित हो जाने पर उसे अपनी गोद में लेकर उससे अपनी आज्ञा मानते रहने का संकल्प लेती है। इसके बाद उसे पुनः कब्र में गाड़ दिया जाता है। बाद में यह आत्मा टोहही स्त्री के वशीभूत होकर हर आज्ञा का पालन करती है। किन्तु यदि शव जगाते समय कोई टोनही स्त्री को पकड़ ले तो वह शव जीवित ही रहता है।

टोनही स्त्रियों की शक्ति के सम्बन्ध म आदिवासियों का यह विश्वास है कि वह यदि किसी का रक्तपान करना चाहे तो रात्रि में उड़कर उसके घर की छत पर चली जाती है और छत पर से एक धागा लटका कर उसके द्वारा उसका सारा खून चूस लेती है। इसी तरह टोनही एक गांव से दूसरे गांव में हैजा बुला सकती है और जब एक निश्चित मात्रा में लोगों की मृत्यु हो जाती है तो महामारी रुक जाती है।

टोनहीं स्त्रियां अपनी सिद्धि के लिये जिस पूजा का सहारा लेती है उसमें गिरगिट, बिल्ली एवं कुत्ते की बलि दी जाती है। कुम्हड़ा, चावल उड़द, सरसों, नीबू तथा लाल मदार के फूलों का भी इनकी इस तांत्रिक विद्या में बड़ा महत्व होता है। कार्तिक अमावस्या की रात्रि इनकी कार्य सिद्धि की रात्रि होती है। इस दिन वे कमरे में झाड़ू पहिनकर, खुले बालों, सिर पर विष्ठा का जलता दीपक रखकर नग्नावस्था में शमशान जाती है और विकराल नृत्य करती हुई मंत्र जगाती हैं। इस समय वे इतनी सतर्क होती हैं कि कोई उन्हें देख न पाये अन्यथा उनका प्रभाव या कार्य सफल नहीं हो पाता। सिद्धि के बाद वे प्रयोग के लिये वृक्ष पर अपना टोना चलाती है। यदि मंत्र बल से हराभरा वृक्ष सूख जाता है तो उनका मंत्र सफल माना जाता है।

विभिन्न आदिवासी जातियों में टोना की उत्पत्ति के संबंध में कपितय कथायें उपलब्ध होती है जो रोचक होने के साथ ही उनके जीवन-दर्शन को पूर्ण रूपेण स्पष्ट करती हैं। बैगा जाति में यह कथा प्रचलित है कि इनका आदि पुरुष नंगा बैगा नंगा पहाड़ पर निवास करता था। ईश्वर से उसे यह वरदान प्राप्त हुआ कि तुम्हारे बायें ओर से काला रक्त प्रवाहित होगा और दाहिने ओर से लाल रक्त। जो काले रक्त का पान करेगा, वह टोने की विद्या में परांगत होगा और जो लाल रक्त का पान करेगा, वह गुनिया होगा। एक अन्य कथा के अनुसार कहा जाता है कि गुरु धनेत्तर बहुत ही शक्तिशाली तथा मंत्र सिद्ध पुरुष था। वह बहुत समय से मृत पड़े व्यक्ति को भी जीवित कर सकता था। भगवान को इससे मानव-सृष्टि संचालित करने में असुविधा का सामना करना पड़ता था। एक बार भगवान ने सोने का सांप बनाकर गुरु धनेत्तर को डसने भेज दिया। यह जानकर गुरु धनेत्तर ने अपनी विद्या को सुरक्षित रखने के लिए अपने शिष्यों से कहा—यदि तुम लोग मेरे मांस को पका कर खा लो तो मेरी सारी शक्ति तुम में आ जाएगी। शिष्यगण इसके लिए तैयार हो गए किन्तु भगवान ने उनसे कहा कि कहीं पिता का भी मांस खाया जाता है। यह तो घोर पाप है। सातों शिष्यों ने इसके पूर्व ही अपने गुरु का मांस सात हण्डियों में पकने रख दिया था। एक शिष्य ने एक हण्डी का एक टुकड़ा उठा कर चखा और चखते ही उसके शरीर में गुरु धनेत्तर की कुछ शक्ति आ गई। शेष शिष्यों ने भगवान की बात मान ली और मांस की सभी हण्डियां नदी में प्रवाहित कर दी। बहते-बहते वे हण्डियां एक ऐसे स्थान पर पहुंची जहां सात स्त्रियां स्नान कर रही थीं। सभी स्त्रियों ने

एक-एक हण्डी सम्हाली और उसमें से मांस चखा। फलतः उनमें टोने की शक्ति आ गई। इसके पूर्व कि वे गुरु धनेत्तर का सारा मांस खाती, गुरु धनेत्तर के मांस का एक टुकड़ा खाने वाला शिष्य अपनी शक्ति से इसका पूर्वाभास पाकर वहां पहुंचा और उनसे बोला—मैंने सातों हण्डियों से एक-एक कर सात टुकड़े खाये हैं। अतः मुझमें तुमसे सात गुनी शक्ति अधिक है। अतः ये हण्डियां मुझे दे दो उसकी शक्ति से आतंकित होकर स्त्रियों ने उसकी बात मान ली और उसे अपना गुरु मानकर उसकी सत्ता स्वीकार कर ली। तभी से स्त्रियां तो टोने की विद्या में पारंगत हो गई और गुरु धनेत्तर की शक्ति पाये हुए गुनिया के मंत्र बल के सम्मुख पराजित होती है।

सरगुजा में टोना लगने की अनेक पद्धतियां प्रचलित हैं। छिटका मारना, अंचरा मारना, आंचल का छोर या बाल काट देना—ये टोना मारने की सामान्य रीतियां हैं। जादू-टोना करने वाली स्त्रियां जिस पर टोना चलाती हैं, उसके लिए सर्वप्रथम बांक लगाया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि टोनही जिस वस्तु का टोना मारती है, उसकी पूजा या बलि देती है। गिरगिट, बिल्ली, कुत्ता, मेंढक, सांप, जुंआ आदि बांक के मुख्य आधार होते हैं। बांक को शत्रु के घर के बाहर एकान्त स्थान पर गाड़ दिया जाता है। बांक लगाते समय यह मान्यता की जाती है कि टोना लगते ही उसका अनिष्ट हो। कभी-कभी सीधे भूत-प्रेत को ही अनिष्ट हेतु भेजा जाता है। कभी-कभी मूठ या बान भी चलाया जाता है जो बहुत घातक होता है। किसी तरह की शत्रुता तथा पुराना बैर चुकाने के लिए इस तरह के जादू-टोने का प्रयोग किया जाता है। नींबू को अभिमंत्रित कर उस पर चावल या उड़द के दाने छिटक कर मूंठ चलाया जाता है, वह सीधे जाकर उस व्यक्ति का अनिष्ट करता है। कभी-कभी मूठ मारने की शक्ति क्षीण करने के लिए गुनिया या देवार बीच में आकर अपनी मंत्र शक्ति से उसके मूठ को विफल कर देता है। एसी स्थिति में वापस जाकर मूठ अपने चलाय जाने वाले की ही जान का ग्राहक बन जाता है। इस तरह एक ओर गुनिया और दूसरी ओर टोनही के बीच सीधी लाड़ाई होती है। मूठ छुड़ाने के लिए साधक अपने-अपने इष्ट देवता का स्मरण करते हैं। यह माना जाता है कि एक बार चलाया गया मूठ बिना किसी का रक्त पान किये शान्त नहीं होता।

जादू-टोने के साथ ही भूत-प्रेतों का भी घनिष्ट संबंध है। भूत-प्रेतों की जन्म गाथा आदिवासियों में बड़े व्यवस्थित रूप से मिलती है। जो स्त्रियां प्रसूति ग्रह में ही मर जाती हैं या अकाल अथवा अस्वाभाविक रूप से मृत्यु हो जाने पर स्त्री चुड़ैल या प्रेतनी बनती है तथा पुरुष भूत या प्रेत। स्त्रियां चुड़ैल बनकर नवजात शिशु तथा बालकों की मृत्यु का कारण बनती हैं। चुड़ैल बहुत भयंकर मानी जाती है। भूत-प्रेतों के यहां अनेक रूप प्रचलित हैं। अविवाहित बच्चे मृत्यु के उपरांत 'बाल मसान' बनते हैं। यही कारण है कि कतिपय आदिवासी जातियों में शीघ्र विवाह का प्रचलन 'डिंडा मसान' युवावस्था में मृत अविविवाहित व्यक्ति होते हैं। इनके अतिरिक्त 'रक्सा' भी खतरनाक प्रेत माना जाता है। इसके थूक में अग्नि प्रज्वलित करने की शक्ति होती है जिसके द्वारा वह समस्त गांव को जलाकर भस्म कर सकता है। अकाल मृत्यु प्राप्त व्यक्ति 'मुण्डकटा' बनता है जो प्रेतों में सबसे उत्पाती और खतरनाक होता है। इनके अतिरिक्त 'जिन्न' भी भूतों की ही एक श्रेणी का होता है जो बड़ा शक्तिशाली एवं सहृदय होता है। यह प्रेत अधार्मिक एवं अशुभ कार्यों के फलस्वरूप कुपित होकर लोगों को सताता है। इसी तरह गर्भवती स्त्रियां मृत्यु के बाद 'गर्भ चुड़ैल' तथा शिशु उत्पन्न होने के बाद प्राणान्त होने पर 'अड़मैल' होती है। ये दोनों ही अत्यंत खतरनाक मानी जाती है। इन्हें 'डाइनें' भी कहा जाता है। चुड़ैल या डाइनों के अन्य रूप भी लोक जगत में पाये जाते हैं—लंका डाइन, सीता डाइन, कोइली डाइन, कोइली अगिया डाइन, इसाही डाइन, बिसाही डाइन, बनमारी डाइन, गजयारी डाइन, नजराही डाइन आदि।

जादू-टोने तथा भूत-प्रेतों की विद्या में पारंगत टोनहियों के संत्रास से बचने के लिये लोग इनके विशेषज्ञ तथा संरक्षक 'देवार' अथवा "बैगा" का सहारा लेते हैं जो टोनहियों का पता लगा कर इनकी मारक शक्ति से ग्रामवासियों को सुरक्षा देते हैं। सरगुजा की विभिन्न आदिम जातियों टोनहियों का पता लगाने के लिये विभिन्न प्रयोग प्रचलित है?। सामान्यतयाः यह माना जाता है कि टोनही उन व्यक्तियों पर आक्रमण करती हैं जिनसे वह घृणा करती हैं। प्रायः प्रभावित व्यक्ति इस बात का अनुमान लगा लेता है कि किस टोनही ने उस पर टोना किया है और इसकी पुष्टि के लिये वह गुनिया या देवार की शरण में जाता है। टोनही का पता लगाने के तरीके बहुत मनोरंजक एवं विचित्र होते हैं। ऐसी स्थिति में देवार प्रभावित व्यक्ति के सम्मुख सूप में मुट्ठी भर चावल रख कर उसे हिलाता है और मंत्र पढ़ता हुआ गांव की सभी संदिग्ध स्त्रियों के नामों को पुकारता है। आदिवासियों का विश्वास है कि शक्ति टोनही स्त्री के नाम पर चावल के दाने एक विशेष ढंग से उछलने लगते हैं जिसे केवल देवार ही समझ पाता है। इस तरह देवार टोनही के नाम की घोषणा करता है। पता चल जाने पर आदिवासी टोनही को पकड़कर उस समय तक शांत नहीं बैठते जब तक कि वे उसे मार नहीं डालते। कभी-कभी ही टोनही ग्रामवासियों के भयानक प्रहारों से बच पाती है। आत्म रक्षा हेतु टोनही स्त्री को गांव से निष्कासित भी कर देते हैं या उसकी विद्या को ही नष्ट कर दिया जाता है ताकि वह पुनः किसी का जीवन दुखपूर्ण न बना सके। यही नहीं, टोनहियों के टोने से बचने के लिये आदिवासी अपने घर के सामने अरण्ड की पत्तियां रखते हैं ताकि टोनही घर में प्रवेश न कर सके। यदि रात्रि में मुर्गी, बिल्ली या कुत्ते का रूप अचानक सामने आता है तो उसे जलती हुई लकड़ी या लाठी से मारा जाता है। आदिवासीयों को यह मान्यता है कि यदि वे पशु स्वप्न में कभी दिखाई दें तो वह स्वप्न किसी दूसरे व्यक्ति को अवश्य ही बतला देना चाहिये ताकि टोने की संभावना न हो। रात्रि में यात्रा करते समय टोनहियों से बचने के लिये आदिवासी सड़क के मध्य में चलते हैं तथा अपने पैर चलते रास्ते से अलग नहीं रखते।

अनिष्टकारिणी शक्ति को प्रभाव मोचन संबंधी क्रियाएं 'झाड़-फूंक' कहलाती हैं। जादू-टोने की तरह ही भूत-प्रेत बाधा

से मुक्ति पाने के लिये आदिवासी झाड़-फूंस के ज्ञाता देवार, बैगा , सियान अथवा गुनियां का ही सहारा लेते हैं। ये सिद्ध पुरुष मंत्र-तंत्र के ज्ञाता होते हैं। मंत्र-तंत्र को यह विद्या पीढ़ी-दर-पीढ़ी इनकी संतानों में हस्तान्तरित होती रहती है। गोंड़, बैगा, उरांग आदि जातियों के लोगों में इस विद्या को वंशगत परम्पराएं मिलती हैं। इनके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि टोनहियों तथा भूत-प्रेतों का पता लगाने तथा भूत-प्रेत जगाने में ये बड़े समर्थ होते हैं। शमशान से शव को निकाल कर ये सिद्ध पुरुष उस पर अपनी सिद्धि का प्रयोग करते हैं तथा इस के सहारे वे किसी भी दानव को वशीभूत कर सकते हैं तथा उससे अपने बड़े-बड़े कार्य भी सम्पन्न करा लेते हैं। आदिवासियों की मान्यता के अनुसार कभी-कभी आत्मायें शेर, चीता या रीछ का रूप धारण कर अपनी बलि खोजा करते हैं । बैगा उन्हें भी बांध सकता है। "ऋषयासन' बैगाओं का देव है जो झाड़-फूंक का स्वामी माना जाता है। भारत की प्रायः सभी आदिवासी जातियां बैगा को सबसे बड़ा गुनियां मानते हैं। ये मंत्र तंत्र के अधिपति तथा गांव के संरक्षक माने जाते हैं । बैगा स्त्रियां भी झाड़-फूंक की विद्या में निपुण होती हैं।

भूत-प्रेत झाड़ने की क्रिया द्वारा बैगा या देवार गांव में आई किसी भी प्रकार की समस्त विघ्न-बाधाओं को दूर करते हैं । फलतः मंत्रों की सिद्धि इनके लिए महत्वपूर्ण है। ये प्रायः दशहरा एवं दीवाली पर देवताओं को वश में करने वाले मंत्रों को सिद्ध करते हैं। अन्य जिज्ञासु लोगों को भी इन मंत्रों की दीक्षा दी जाती है। अन्य अवसरों पर भी शमशान अथवा किसी घूरे या अपवित्र स्थान पर मंत्र दिया जाता है। इन स्थानों पर भूत-प्रेतों का निवास माना जाता है।

भूत-प्रेत बाधा को दूर करने के लिये बैगा अथवा देवार द्वारा कतिपय प्रयोग किए जाते हैं । सूप में चांवल लेकर बैगा अथवा देवार मंत्र पढ़ता है तथा देवी-देवताओं को स्तुति करता है, और मुर्गी, बकरी, सुअर आदि की बलि चढ़ाने का वचन देता है । सूपा थोंसते समय कभी-कभी गुनियां के सिर पर देवता आ जाते हैं । ऐसी स्थिति में उससे प्रश्न पूछे जाते हैं। प्रेत रोगी के मुख से सारी स्थिति का बयान करता है। यदि मंत्र द्वारा भी प्रेत रोगी को नही छोड़ता तो गुनियां प्रेत को भगाने के लिये बांधित व्यक्ति को मिर्च तथा लोबान की धुनी देता है और उसके जाने का उपाय पूछता है । कभी-कभी बाधित व्यक्ति को बहुत पीया जाता है और प्रेत को जाने के लिये बाध्य किया जाता है। प्रेत के मान जानेज पर चावल, मिर्च तथा सरसों रोगों किसी दोराहे पर चला दिया जाता है । इस तरह प्रेतात्मा से लेकर को मुक्ति मिल जाती है ।

इस तरह जादू-टोने में आज भी आदिवासियों की आस्था प्रगाढ़ है । आज भी वे आधि-व्याधियों से मुक्त रहने के लिये मंत्र-तंत्र तथा जादू-टोने का आश्रय विशेष रूप से लेते हैं। युवा परिवर्तन के साथ सरगुजा के आदिवासियों में यह परिवर्तन अवश्य आया है कि जादू-टोना करने वाली स्त्रियों को पहले की तरह कठोर यातनाएं नहीं दी जातीं । किन्तु अब भी जब कभी आदिवासी टोनही की विनाशक शक्तियों से अत्यधिक संत्रस्त हो जाते हैं, तो वे उसके प्राण लेने में भी नहीं चूकते।

कन्दराओं में लुकी-छुपी "घसियारी"

विद्यादत्त हेमदानी

गढ़वाली लोक-जीवन एवं साहित्य के अन्तर्गत "घसियारी" का अपना एक विशिष्ट स्थान है। "घसियारी" को गढ़वाली लोक साहित्य की कवयित्री कहने में अत्युक्ति न होगी। घास-काटने वाली नारी को गढ़वाली बोली में "घसियारी" शब्द से विभूषित किया जाता है। इस लोक-जीवन में नारी के अनेक रूप (माता,पत्नी और पुत्री) को "घसियारी" के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है। घसियारी शब्द पर दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द समाज के किसी जाति विशेष की नारियों का द्योतक हो, परन्तु ऐसा नहीं। यह शब्द गढ़वाल अंचल की समस्त नारियों से सम्बन्धित है। एक सुदृढ़ परिवार की आधारशिला हेतु यहां की घसियारियों का महत्वपूर्ण स्थान है। परिवार के जीवन यापन हेतु ये अपने सम्पूर्ण जीवन को जंगलों में लकड़ी, बटोरते हुए या घास काटते हुए समर्पित कर देती हैं। गाय, बैल, भैंस, बकरी इत्यादि पालतू पशु जो यहां के जीवकोपार्जन के लिए प्रमुख साधन हैं, उनका सम्पूर्ण जीवन "घसियारी" के ऊपर ही अवलंम्बित है।

अतः जहां एक ओर गढ़वाली नारी एक आदर्श माता, पत्नी और पुत्री है, दूसरी ओर वही "घसियारी" के रूप में भी स्थित है। पर्वतीय कन्दराओं में जब वह लकड़ी बटोरने या घास काटने जाती है तो घैंणा डालौं (सघन-वृक्षों), झपन्याल बुज्यों (झाड़ियों के झुरमुटों) और हरी-भरी लम्बी घास के अन्दर कभी वह पूर्णतः ओझिल, कभी अर्ध-ओझिल और कभी ओझिलरहित लुका-छुपी (आंख मिचौनी का खेल) प्रस्तुत करती है, तो ऐसा लगता है कि मानो लुका-छुपी में जब ढूंढने वाला उसे ढूंढने में अपनी असमर्थता एवं असफलता को स्वीकार कर लेता है, तो वह स्वयं ही गीतों की झड़ी लगाकर लुका-छुपी के रहस्य को प्रकट कर देती है कि "**मि यश्व छुपि रौं**" अर्थात् मैं यहां छुपी हुई हूं और तुम मुझे न ढूंढ सके। खैर! कोई बात नहीं। मेरे लोक-गीत तो इस लोक-जीवन में मुझे सदैव ही ढूंढते रहेंगे।

घसियारियों के गीतों की यह विशेषता है कि इनके विषय में हमें ज्ञात नहीं होता कि कब, कहां, कैसे और किसने इनकी रचना कर डाली। ये लोक-गीत तो वर्षा ऋतु के उमड़ते घुमड़ते काले काले मेघों की तरह पर्वतीय घाटियों में लकड़ी बटोरने या घास काटने गयी हुई इन घसियारियों के कोकिल कण्ठ से अनायास ही टपकते (बरसते) हुए सम्पूर्ण लोक-जीवन में एक अपूर्व उत्कण्ठा की सृष्टि कर देते हैं। गढ़वाली लोक-जीवन की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति इन लोक-गीतों में होने के कारण इनमें कभी परायत्व नहीं झलकता, और प्रत्येक जन का इनसे अपनत्व हो जाता है। घसियारियों के कण्ठ से उपजे ये गीत धीरे-धीरे समस्त लोक-जीवन में अपना प्रभुत्व स्थापित कर असंख्य कण्ठों से गाये जाने लगते हैं।

अपने कार्य-कलाप के प्रमुख साधन दथुड़ि (दराती) और पल्युड़ि (रस्सी) की ओर घसियारी ने एक गीत की निम्न पंक्तियों में संकेत किया है। वह अपनी सास से कह रही है कि सास जी आप मेरी दथुड़ि (दराती) और पल्युड़ि (रस्सी) को मुझे दे दो क्योंकि मुझे घास काटने की देरी हो रही है और मेरे साथ की सभी घसियारियां घास काटने के लिए मुझे बुला रही हैं :—

मेरि दथुड़ि दे दे, मेरि पल्युड़ि दे दे।
मीथें घास कि हूंद अबेर सासू,
दगड्या कि बौड़ि बुलांदि छीं।

उपर्युक्त गीत की पंक्तियों में दथुड़ि और पल्युड़ि के संकेत के अतिरिक्त घसियारी की कर्त्तव्यपरायणता की झलक भी परिलक्षित होती है।

एक अन्य गीत में भी घसियारी से सम्बन्धित चित्रण अत्यधिक सफलता के साथ किया गया है। इस लोक-गीत में एक घसियारी दूसरी घसियारी को सम्बोधित करते हुए कहती है कि मेरी घसियारी भाभी तेरी दथुड़ि का छुणका घास काटते समय छुणुक-छुणुक की कितनी मधुर ध्वनि कर रहा है दथुड़ि (दराती) के हथ्ये के अन्त में प्रायः लोहे की एक छोटी सी मुद्रिका जैसी कुन्दे पर लटकी होती है, तथा इस छोटी सी मुद्रिका में छोटे-छोटे तीन-चार छुण के लटके होते हैं। जब घसियारी घास काटती है, तो घास काटते समय छुणके छुणक-छुणक की ध्वनि करते हैं। इसी को ही "दथुड़ि का छुणका" नाम से अभिहित किया जाता है।) घर जाने की तैयारी में जैसे ही मैंने घास की बिठकी (बोझ) को कसकर बांधने की कोशिश की तो मेरी पल्युड़ि टूट गयी है और मेरे गोर (डंगर) भी इस रिमझिम वर्षा बरसने के कारण घर की राह ले रहे हैं :—

हे मेरि घसैरि बौ,
दथुड़ि का छुणका बाजऽ।
पल्युड़ि टूटी गये,
बिठगी रसगाण मऽ।
म्यारा गोर भी आ गये,
बरखा कु झुमणाट मऽ।

देश की अन्य नारियों की अपेक्षा घसियारियों का जीवन संघर्षपूर्ण, दर्दभरा एवं विचित्र है। लोक-गीतों के माध्यम से ही

ये अपने सम्पूर्ण कष्टमय जीवन को पर्वतमालाओं की कन्दराओं में व्यतीत करने में सफल हुई हैं। इनकी दर्दभरी, कष्टमयी एवं संघर्षपूर्ण जीवन रूपी धारा लोक गीतों के माध्यम से श्रेष्ठ पर्वतराज हिमालय से अवतरित होती हुई सम्पूर्ण गड़वाल के जन-मानस की लोक-साहित्यिक पिपासा को बुझाती हुई वहीं के कण-कण में समा जाती है।

सिर पर घास या लकड़ी की बिठगी (बोझ) रखे हुए नंगे पांव पहाड़ों की ऊकलि-उंदरि (ऊंचायी-नीचायी), टेढ़ी-मेढ़ी एवं कांडौं युक्त (कंटक युक्त) पगडंडियों पर चलते हुए ही घसियारियों का दिन समाप्त होता है और इस कठिन परिश्रम की आह से जो गीत इनके कण्ठ से टपकता है, उसमें यथार्थता के साथ ही साथ लोक-जीवन की अनुभूतियों का अभिव्यक्तीकरण भी होता है। घसियारी के जीवन की एक मार्मिक झलक निम्न गीत की पंक्तियों में प्रस्तुत की गयी है। गीत में एक घसियारी कह रही है कि ऊकलि के बाटे ऊंचायी के रास्ते हैं, मैं किस प्रकार मुंडम् (सिर) में घास का बोझ रखकर ले जाऊंगी, क्योंकि मुझे प्यास भी बड़ी जोर की लगी हुई है—

ऊकलि का बाटा छैंना,
कनकैंकि जाण मिला।
कनकैंकि जाण मिला।
मुंडम् मेरो, घास, लगी, म्यी भारि प्यास।
मेरि दगड्या मीथैं पाणि पिलायि दियां।

यद्यपि, घसियारियों द्वारा रचित लोक-गीतों में काव्य के सभी रस उपलब्ध होते हैं, परन्तु इनमें वियोग श्रृंगार एवं करुण रस की ही प्रचुरता है। वास्तविक दृष्टीकोण से यदि विचार किया जाय तो यह सिद्ध होता है कि प्रायः साहित्यिकाश के जगमगाते सितारों का जीवन वियोग श्रृंगार या करुण रस के संचरण से ही प्रारम्भ हुआ है। आदिकवि वाल्मीकि को महान कवि बनने का श्रेय उनके हृदय में व्याध द्वारा क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से एक क्रौञ्च (नर पक्षी) को मारने से अनायास ही करुण भाव के संचरण से हुआ, जो निम्न श्लोक के रूप में निकल पड़ा—

मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वगमः शाश्वतीः समाः
यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।
(उत्तर रामचरित 2/5)

महाकवि भवभूति तो सभी रसों को करुण रस के अन्तर्गत समाविष्ट करते हैं :—

"एको रसः करुण एव निमित्त भेदाद,
——————————।
(उत्तररामचरित 3/47)

कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने तो वियोग को ही कवि की कसौटी निश्चित कर दिया है, —

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से निकाला होगा गान।
निकलकर आंखों से चुपचाप,
वही होगी कविता अनजान ?

अशिक्षित एवं अल्पशिक्षित घसियारियों ने जो अमूल्य निधि लोक-गीतों के माध्यम से गढ़वाली लोक-साहित्य को प्रदान की है, वह साहित्य जगत में एक अपूर्व एवं आश्चर्यजनक कृत्य है। साहित्य के नाम व ज्ञान से अनभिज्ञ घसियारियों द्वारा जिन लोक-गीतों का सृजन हुआ है, वे गीत साहित्य की कसौटी पर खरे उतरते हैं। वियोग श्रृंगार या करुण रस से सम्बन्धित जिन गीतों का घसियारियों ने सबसे अधिक सृजन किया है, उन प्रियजनों के वियोग में गाये जाने वाले गीतों को गढ़वाली बोली में "खुदेड़ गीत" की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। ये खुदेड़ गीत ही घसियारी के शरीर में प्राणों का संचार करते हैं, जो मातृ व पति विरह में व्याकुल जड़ तुल्य रहती है। यह एक मनोवैज्ञानिक यथार्थ भी है कि जब व्यक्ति विरह-व्याकुल है तो अपने विरह का केवल बखान किसी दूसरे को करने से उसकी विरहाग्नि पूर्व की अपेक्षा कुछ शान्त हो जाती है। इसी प्रकार विरह पीड़ित घसियारी की विरहाग्नि भी खुदेड़-गीतों के सृजन द्वारा उपशामित हो जाती है।

प्रियजनों के वियोग में उनसे मिलने की तीव्र उत्कण्ठा ही "खुद" कहलाती है। खुदेड़ गीतों के गायन का सर्वाधिक श्रेय कुएड़ (कोहरा) को ही दिया जा सकता है। वर्षा ऋतु के आगमन पर काले-काले मंडराते हुए बादलों से जहां नभमण्डल आच्छादित हो जाता है और कई दिनों तक भगवान भास्कर के दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं, वहां दूसरी ओर गढ़देशीय भूमि के चप्पे-चप्पे पर कुएड़ (कोहरा) का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। कुएड़ के इस साम्राज्य में प्रकृति प्रदत्त समीपस्थ स्थित वस्तु भी ओझिल हो जाती है। दिन में ही अमावस्या की रात्रि सदृश भयंकर अंधकार जैसे समस्त प्राणियों एवं भौतिक पदार्थों को अपने अन्दर समेट लेना चाहता हो। ऐसी स्थिति में सभी प्राणियों की दशा विचित्र हो जाती है तो फिर प्रेमी और प्रेमिका के विषय में कहना ही क्या? घसियारी से दूर परदेश गये उसके पति को जैसे ही वर्षा ऋतु के आगमन का ज्ञान होता है तो उसकी मनःस्थिति में गढ़देशीय वर्षा-ऋतु का चित्र साकार हो जाता है। परदेश में विचारमग्न वह सोचता है कि आजकल कुएड़ लौंकने (कोहरा का आच्छादित होना) लग गयी होगी, बारीष की बौछारें पड़ने पर भी मेरी पत्नी घास काटने के लिए हरे-भरे खेतों में गयी होगी, जहां कि उसे मेरी याद तड़पा रही होगी।

कुएड़ लौंकलि, बरखा, प्वाड़लि, याद त्वे मेरि ऐली।
हैरि-भैरि खेतियों म कमला, घास कटणकु जैली ॥

एक अन्य लोक प्रचलित गीत में भी पति वर्षाऋतु के आगमन पर व्यथित होकर कहता है कि मेरी प्यारी बीरा तू घसियारियों के वेष में पहाड़ों की ऊंची चोटियों पर घास काटने गयी होगी। तेरी याद में बेचैन होकर मैं परदेश की सड़कों पर रो रहा हूं। आजकल सावन-भादौ के महीनों में रिमझिम-रिमझिम वर्षा पहाड़ों में बरस रही होगी और जब-जब मैं तुझे याद कर रहा हूं, तुझे अवश्य ही भडुलियां (हिचकियां) लग रही होंगी।

तू ह्वैलि बीरा ऊंचि डांड्योम, घसियारियों का वेषमऽ।
खुदमा तेरि सड़क्यों पर, रून्दु छौं परदेश मऽ ॥

सौंण-भादौकि रुमझुम-रुमझुम, बरखा ल्वाइल्लि ।
जब-जब मि याद करुल्लु बीराथैं भडुलि लागलि ।

कालिदास ने भी " मेघदूत " में एक स्थान पर कहा है कि आषाढ़ महीने के प्रारम्भ में ही बादल के दिखायी देने से जब सुखी व्यक्ति का चित्त ही डांवाडोल हो जाता है, तो फिर गले मिलने की अभिलाषा वाले व्यक्ति के दूर स्थित होने पर तो कहना ही क्या :—

मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः ,
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे । (पूर्वमेघ-3)

अतः घसियारियों के लिए गढ़वाली लोक-साहित्य में कुएड़ ही खुदेड़ गीतों की प्रेरणा का स्रोत रही है, जो प्रेमी-प्रेमिका या अन्य प्रेमीजनों के हृदय में मिलन की तीव्र उत्कण्ठा उदीप्त कर एक विचित्र स्थिति उत्पन्न कर देती है । इसका सर्वाधिक प्रभाव गढ़वाली ब्यौली (नव-विवाहिता) पर पड़ता है, जो एक ओर मायके की याद में पीड़ित है और दूसरी ओर जिसका पति उससे कोसों मील दूर भारत माता की सीमा का प्रहरी बनकर देशसेवा में नतमस्तक है या उससे दूर देश के किसी कोने में देश सेवा कर रहा है । सावन-भादों के महीनों में जैसे ही कुएड़ लौंकने (कोहरा का आच्छादित होना) लगती है, उसकी दशा दयनीय एवं दिल डांवाडोल हो जाता है । उसका दिल मानो दो टुकड़ों में टूट चुका हो । एक टुकड़ा मायके की याद और दूसरा टुकड़ा पति-प्रेम की याद के सागर में डुबकियां लगा रहा हो और भडुलियां (हिचकियां) रूपी याद सागर की तरंगें मानो उन दिल के टुकड़ों को अपने तीव्र थपेड़ों से कभी अत्यधिक गहरायी और कभी ऊपरी सतह पर ले जाकर उनसे खिलवाड़ कर रही हों । (जब विरहकाल में कोई प्रेमीजन स्मरण करता है तो भडुलियां (हिचकियां) ही उसकी याद का समाचार उसकी प्रेमिका या प्रेमीजन को देने का माध्यम गढ़वाली लोक-साहित्य में बतायी गई हैं) ।

यह स्वाभाविक है कि जब दो पूर्वपरिचित मानव-हृदयों के भावों का परस्पर संघात होता है तो इस संघात के परिणामस्वरूप एक असाधारण, निःच्छल एवं निर्मल प्रेम-भाव की सृष्टि होती है, जिसे पति-पत्नी के प्रेम की संज्ञा दी जा सकती है । इस प्रथम मिलन के प्रेम का विरह एक पल के लिए भी असहनीय होता है, परन्तु गढ़वाली ब्यौली (नव-विवाहिता) को विधाता ने इस असहनीय प्रेम के विरह की सहनशीलता प्रदान की है । गीत की निम्न पंक्तियों में पत्नी अपने पति को सम्बोधित करते हुए कह रही है कि हे मेरे प्राणनाथ आप मुझ अभागिन को छोड़कर अवश्य ही परदेश (नौकरी का स्थान) जाओ ।

जावा म्यारा स्वामी परदेश जावा ।
मी छौं अभागी मीथैं छोड़ि जावा ।

पर्वतीय आंचल में फैले गढ़वाल की लड़कियों को बाल-विवाह रूपी सामाजिक कुरीति का भी शिकार होना पड़ता है । माता-पिता के प्यार की प्यासी लड़की की प्यास भी न बुझने पाती है कि अल्पायु विवाह उसे इस प्यार से वंचित कर ससुराल में रहने की आज्ञा देता है । जब वह खेतों में गुड़ायी-निरायी करने या जंगलों में घास काटने को जाती है तो उसे माता-पिता, भाई-बहिनों की याद सताती है और उसकी आंखें मायके को देखने के लिए तरसती हैं । विरह व्यथा में व्यथित वह विवेकशून्य होकर ऊंची-ऊंची पहाड़ियों और घने चीड़ के वृक्षों को सम्बोधित करते हुए कहती है कि हे ऊंची पहाड़ियो तुम झुक जाओ और हे चीड़ के वृक्षों तुम छंट जाओ. जिससे यह सम्भव हो सके कि मैं अपने मायके को देख सकूं, क्योंकि मुझे मायके की याद सता रही है और तुम ही मायके देखने के रास्ते में मेरी लिए अड़चन हो —

हे उच्ची डांड्यों, तुम नीसी होवा ।
घैणी कुलायों तुम छांटि होवा ।
मैं कू लगीं च खुद मैतुड़ा की,
मैत कू देस देखण देवा ।

मायके की याद उसको इतना व्यथित कर देती है कि "घुघती" और "हिल्वांसी" (पक्षी विशेष) की मधुर ध्वनि जो बचपन में उसकी प्रसन्नता का राज थी और उनकी ध्वनि सुनते ही वह डंड्यालि (बरान्दे) या थाड़म् (आंगन) में आकर प्रसन्नचित होकर नाचने लगती थी , आज उसी "घुघती" और "हिल्वांसी" की वही मधुर ध्वनि उसकी विरहाग्नि को अधिक प्रदीप्त करती है और उसके हृदय में उथल-पुथल मचाती है । उसकी समस्त स्मृतियां उदीप्त होकर कंटक तुल्य चुभकर उसके हृदय को विदीर्ण करती हैं । घुघती की "घुघूति" इस प्रकार की ध्वनि सुनते ही वह कह उठती है कि हे चैत मास में घूरने वाली घुघती तू बोलना बन्द कर दे, क्योंकि तेरे घूरने से मुझे मायके की याद सता रही है और भाई-बहिनों की खुद लग रही है :—

ना बांस घुघती चैता की ।
खुद लगींचा मा मैता की ।
डाली फूलालि मा फूलों की
याद आगींचा मा भूलौं की ।

इसी प्रकार हिल्वांसी (पक्षी विशेष) की कूजने की ध्वनि सुनते ही उससे नहीं रहा जाता और वह कह उठती है कि हे हिल्वांसी तू इन ऊंची नीची पर्वत मालाओं में बोलना ही बन्द कर दे । फागुन और चैत के महीने आने वाले हैं जिनमें सभी बेटी ब्वारि (स्त्रियां) अपने-अपने मायके चली जायेंगी और जो ससुराल में ही रहेंगी उनके स्वामी उनके पास होंगे, परन्तु मुझ अभागिन के तो स्वामी भी परदेश में हैं :—

उच्ची नीसी डांड्यों मा,
हे हिल्वांसी ना बांस तू ।
आलो फागुन बसंत चैता,
लोगों कि बेटि ब्वारि मैत ऐंना ।
स्वामि म्यारा परदेशा ।
हे हिल्वांसी ना बांस तू ।

संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य में दूत काव्य परम्परा का निर्वाह अनेक कवियों ने अपने काव्यों में किया है । पवनदूत, नेमिदूत, कोकिलदूत, हंसदूत, उद्धवदूत और मेघदूत इसी प्रकार के दूतकाव्य

हैं। मेघदूत में विरह व्यथित यक्ष अपनी प्रिया को संदेशा देने के लिए मेघ को दूत बनाकर भेजता है। घसियारियों के गीतों में भी दूत काव्य परम्परा से सम्बन्धित गीतों का सृजन सफलतापूर्वक प्रचुरता के साथ हुआ है। संस्कृत और हिन्दी दूतकाव्यों में जहां दूतकाव्य परम्परा का निर्वाह केवल प्रेमी-प्रेमिका के संदेशों तक ही सीमित है, इसके विपरीत घसियारियों के गीतों में अधिक महत्व एवं स्थान मां-बेटी के संदेशों को दिया गया है।

जिस माता ने दस महीने पेट में उसका भार वहन किया, ढाई-तीन वर्ष तक उसे स्तन पयस पिलाया और असहय एवं अनगिनित कष्टों को सहनकर उसे वैवाहिक अवस्था तक पहुंचाया, उस माता के प्रति बेटी का अटूट एवं अगाध स्नेह होना स्वाभाविक ही है। मातृत्व स्नेह की प्रस्तुत उक्ति नर-नारी दोनों के संदर्भ में समान रूप से चरितार्थ होती है। मनोविज्ञान के अनुसार भी जब किसी बच्चे-बूढ़े या जवान (नर-नारी) को शारीरिक कष्ट पहुंचता है या जैसे ही एक कांटा (कंटक) चुभने से अल्प पीड़ा का अनुभव उसे होता है, तो अनायास एवं स्वतः ही उसके मुह से " आह ! मां" शब्द निकलकर उस पीड़ा की कसक का शमन करता है।

मातृ विरह में विकल बेटी जब अपनी समस्त सुध-बुध खो जाती है तो ऐसी स्थिति में मातृ-स्नेह की समस्त पूर्व स्मृतियां प्रज्वलित होकर उसकी विकलता को अधिक बढ़ावा देती है। वह विवेक-शून्य होकर घुघती (पक्षी) को ही अपना रैबार (सन्देशा) माता को पहुंचाने के लिए कहती है कि हे प्यारी घुघती तू मेरे मायके में जाकर जल्दी से जल्दी मेरी माता की कुशलता का रैबार (सन्देशा) लेकर आ। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मेरी माता भी मेरे विरह में अत्यधिक व्याकुल है क्योंकि आजकल बहुत दिनों से मेरी माता की कुशलता का रैबार (सन्देशा) भी नहीं आया, मेरा दिल अत्यधिक बेचैन है, जैसे ही मैं चूल्हे में आग जलाती हूं तो आग भुर्भराने लगती है (कभी-कभी अनायास ही जलती हुई आग में एक विशेष प्रकार की ध्वनि होती है, जिसे गढ़वाली में "आग का भुर्भराणा" कहते हैं। इस भुर्भराने को प्रेमीजन के याद का प्रतीक माना जाता है) और इसके अतिरिक्त मेरे पांवों में पराज भी लग रहे हैं (पांव में एक विशेष प्रकार की मृदु खुजली जो कभी-कभी लगती है, गढ़वाली में "पराज" के नाम से अभिहित की जाती है। इसे भी प्रेमी जन के याद का प्रतीक माना जाता है)। अतः दिल का बेचैन होना, आग का भुर्भराणा और पांवों में पराज लगने से मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि मेरी माता अवश्य ही मुझे याद कर रही है।

ओ प्यारी घुघती जैली।
मेरि मां कु रैबार लेली।
मेरि आग भुरभांण लैगे ।
मेरि जिकुड़ि झुराण लैगे ।
मेरि मां कु....
म्यारा खुट्टों पराज लैगे ।
मेरि मां जी समलण लैगे ।
मेरि मां कु....

मन को लुभाने वाले लहलहाते खेतों का मनोरम दृश्य और अतुलित पर्वतीय प्राकृतिक सम्पदा का सौंदर्य भी उस मातृ-विरहिण की विरहाग्नि को शमित करने में अपनी असमर्थता को प्रकट करते हैं। सघन कन्दराओं और झाड़ियों के झुरमुटों में घास काटती हुई उस घसयारि की दृष्टि जैसे ही पगडंडियों पर चलते हुए किसी बटोही (राहगीर) पर पड़ती है तो वह जान पहिचान-रहित उस बटोही को सम्बोधित करते हुए कहने लगती है कि हे बटोही जोगी (राहगीर साधु) तुम कौन इधर से जा रहे हो? यह रास्ता मेरे मायके की ओर जाता है, इसलिए तुम्हें इस रास्ते पर चलते देख मातृ विरह में अत्यधिक व्यथित होने पर भी मुझे कुछ धीरज सा बंध गया है। अतः तुम मेरा रैबार (सन्देशा) मेरी माता से कह देना कि मैं ससुराल में कुशलतापूर्वक हूं।

बाट बटोही जोगी छैयी।
म्यारू रैबार ब्वैम लिजैयी।।

आज के वैज्ञानिक युग में विभिन्न वैज्ञानिक साधनों की उपलब्धि के कारण परावलम्बी एवं आलसी हो गया है, परन्तु इसके विपरीत गढ़वाली "घसियारी" (नारी) का जीवन आज भी परावलम्बी न होकर स्वावलम्बी एवं आलस्य रहित है। प्रायः पत्नी और बच्चे ही घर में रहते हैं और अर्थोपार्जन हेतु पति परदेश में। अकेली पत्नी को ही जीवन यापन संबंधी कठिन परिस्थितियों से जूझना पड़ता है। प्रभातकालीन बेला से प्रारम्भ उसके कार्यकलापों की समाप्ति रात्रि के अंतिम पहर में जाकर होती है। कुटै पिसै करणि (कुटायी-पिसायी करना), छनिमौकि मोल गड्डु व ध्वलुणु (गौशाला से गोबर निकालना व खेतों में फेंकना) ग्वील करुणु (दूध दुहना) पंद्यर भटैकि पाणि ल्याणु (पनघट से पानी लाना) खाणकु बणाणु (भोजन बनाना), पुंगडौम निलैयि- गुड़ैयि करणि (खेतों में निरायी-गुड़ायी का कार्य करना) और बुणम घास-लखुड़ कटणा (जंगलों में घास-लकड़ी काटना) इत्यादि पर्वतीय नारी के प्रमुख कार्य हैं। विभिन्न कार्यों को करते करते जब वह थक जाती है, ऐसी ही एक नारी का मार्मिक चित्रण गीत की निम्न पंक्तियों में किया गया है। सायंकाल के समय जब वह कार्य करके घर लौटती है तो कह रही है कि आज कार्य करके मुझे इतनी थकावट हो गयी है कि अब मुझे नींद के झोंके पड़ रहे हैं। मैं किस प्रकार और काम काज करूंगी। क्योंकि दिन भर तो मैं खेतों में गुड़ायी-निरायी करती रही और तीस (प्यास) लगने पर मैंने बिना पानी के ही अपनी तीस (प्यास) को प्यासी रह कर ही सहा। संध्या के समय जैसे ही मैं खेतों से कार्य करके घर पहुंची तो मुझे बच्चे डंड्यालि बरान्दे मे सोये हुये दिखायी दिये और छ्वटि नौनि (सबसे छोटी लड़की ढ़ाई-तीन वर्ष की) जोर जोर से रोती हुयी मिली। मैंने करुणार्द्र नेत्रों से पल भर उसकी ओर इकटक दृष्टि से देखा और पुनः भुक्कि (चुम्बन) पीकर उसे दूध पिलाया। इस समय अन्य घरों के बच्चे "बबजी खाणकु वणिगायि खाणखणि आओ"—अर्थात् पिताजी खाना बन गया है आप खाने के लिए ओआ, इस प्रकार की धैयि (आवाज) लगा रहे थे, तब मैंने जन्दरि (चक्की) चलायी और घनघोर रात्रि के समय खाना खाया—

मीथैं निन्द आणिच आजा ।
कसकैकि करुलु कामकाजा ।।

सरया दिन गुडैंयि कायी।
तीस लगत बिन पाणि सायी।। मीथैं..........
ड्यार ग्रौऊं त नौति रवायी।
भुक्कि पींद-पींद दुधि च्यायी।। मीथैं..........
लोग खाणा मिल जन्दरि चलायी।
रात सुनसान खाणु खायी।। मीथैं..........

दिन भर के कार्य-कलापों से क्लान्त घसियारी (नारी) को रात्रि के शान्त वातावरण में भी चैन कहां? इसी समय उसे पति-विरह में अपने अकेलेपन का सर्वाधिक अहसास होता है। विरह की इस असहनीय स्थिति में वह कह उठती है कि हे स्वामी मैं यखुलि (अकेली) घर में हूं और जैसे ही मुझे तुम्हारी याद आती है मैं तुम्हारी तस्वीर को देखने लग जाती हूं। तस्वीर देखते ही तुम्हारी मुखड़ि (चेहरा) की स्मृति होने पर मेरी जिकुड़ि (हृदय) में विरहाग्नि सुलकने लगती है। भडुलियों (हिचकियों) के माध्यम से जब यह संकेत ज्ञात होता है कि तुम भी मुझे याद कर रहे हो तो मेरे आंखों में आंसू बहने लगते हैं और मेरे आंखों में आंसू बहते देखकर पास बैठे हुए बच्चों से नहीं रहा जाता और वे भी रोने लग जाते हैं—

यखुलि यखुलि स्वामि मि रौंलू यखुलि।
रात-दिन स्वामि तुमरि तस्वीर अ्खुलि।।
याद तुमरि मुखड़ि आलि।
आग जिकुड़िम् लगालि।। यखुलि यखुलि।।
भडुलि लगलि आंसू आला।
आंसू देखिकि बच्चा रवाला।। यखुलि यखुलि।।

समाज में प्रचलित लोक कथाओं के आधार पर भी "घसियारियों" ने लोक-गीतों की रचना की। "रामी की कथा" भी गढ़वाल में प्रसिद्ध एक लोक-कथा है जिसे युगलगीत परम्परा के अनुरूप गीतबद्ध करने का सफल प्रयास किया गया है। एक पति और पत्नी के लम्बे विरह के पश्चात् पुर्नमिलन का चित्रांकन प्रस्तुत गीत में किया गया है। पति साधु वेष में आठ नौ वर्ष के पश्चात् अपने गांव आते समय रास्ते के खेतों में निरायी-गुड़ायी का काम करने में व्यस्त "रामी" से पूछता है कि हे रास्ते के खेतों में गुड़ायी करने वाली नारी तेरा नाम क्या है और तेरा गांव कौन सा है—

बाटा गोडाया क्या तेरो नौ च?
बोल बौराणि कख तेरो गौं च?

[यद्यपि साधु वेष वाला पति अपनी पत्नी को पहचान लेता है, परन्तु लम्बे विरह के पश्चात् उसकी पत्नी "रामी" उसे पहिचानने में असमर्थ है।]

जोगी (साधु) के पूछने पर "रामी" अपना परिचय देती है कि मैं रावतों की लड़की हूं और "रामी" मेरा नाम है। मैं सेठों की बहू हूं और पल्लि गांव मेरा गांव है—

रौतों की बेटी छौं रामी नौं च।
सेठों की बौड़ि छौं पल्लि गौं च।।

अन्त में, प्रस्तुत लेख को समाप्त करने से पूर्व संक्षेप में मैं केवल यही कहूंगा कि "घसियारी" के गीतों में गढ़वाली लोक-जीवन की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। एक मात्र "घसियारी" ही नारी के विभिन्न रूपों में स्थित पर्वतमालाओं की कन्दराओं में विकट परिस्थितियों को झेलती हुई, अपनी दर्दभरी, कष्टमयी एवं संघर्षपूर्ण जीवन की समस्त अनुभूमियों को लोक-गीतों का सृजन कर उनमें उंडेल देती है।

असम की देउरी जनजातियों की रोमांचकारी देओघ्वनि नृत्य-उत्सव

भिक्षु कौण्डिल्य

देउरी जनजाति के लोग मुख्य रूप से असम प्रान्त के उत्तर लखीमपुर, शिवसागर और सदिया के नदी उप-नदियों के तटों पर निवास करते हैं। अरुणाचल प्रदेश के लोहित अंचल में भी देउरी लोग निवास करते हैं। देउरी का अर्थ है 'पुजारी'। खामति लोग इन्हें 'खा-फि' (खा-नौकर, दास, फि-देवता) कहते हैं। देउरी लोग चार भागों में विभक्त है : 1. दिबंगिया, 2. दैगापनिया, 3. बरगजा और 4. पाटरगजा। ये लोग शाक्त हैं। इनके प्रत्येक गांवों में 'देहाल' (देवशाला या शाक्त मन्दिर) होते हैं। वैशाख, माघ आदि 'बिहु' उत्सवों में भैंस, बकरा, मुर्गी, हंस आदि बलि चढ़ाकर आदि-शक्ति देवी 'गिरा-गिरासि' की पूजा करते हैं। ये लोग अपने को आहीम राजा के पुजारी कहते हैं।

देओध्वनि नृत्य उत्सव देउरी जनजातियों में वैशाख-बिहु के अवसर पर मनाया जाता है। इस उत्सव में 'मणिकूट' (बेदी) में अविराम तेल की बत्ती प्रज्वलित की जाती है। इस उत्सव को देउरी लोग अति पवित्र मानते हैं।

देओध्वनि आविर्भाव होकर दैववाणी करने के कारण इसे 'देओध्वनि कहा जाता है। बिहु पूजा के दूसरे दिन से निर्धारित समय में देओध्वनि किया जाता है। शाक्तधर्म के साथ इसका घनिष्ट संबंध है। इस सरहस्यमय तथा विस्मयजनक पौराणिक देउरी देओध्वनि प्रथा के सम्पर्क में अज्ञात बातें छुपी हुई हैं।

देओध्वनि होने वाले लोग सर्वसाधारण आदमी होते हैं, किन्तु वंश परम्परा से होना श्रेष्ठ समझा जाता है। पुरुष या स्त्री उभय में देवध्वनि आता है। किसी के इच्छा करने पर देओध्वनि हो नहीं कसते हैं। एक बार किसी के ऊपर देओध्वनि आने पर आजीवन लगा रहता है। देउरियों में विश्वास है कि –'इस प्रकार के लोग पुण्यवान होते है।' प्रथम बार देओध्वनि लगने पर वह व्यक्ति भूत-प्रेत से ग्रस्त होकर मध्य रात्रि या शेष रात्रि में रोते-चिल्लाते हुए घर से बाहर चले जाते हैं। कभी-कभी रक्त बमन करते है जिसके फलस्वरुप अज्ञान हो जाते हैं। और बातें कम करते हैं। तब से ये लोग मांस-मछली खाना छोड़ देते हैं। पहले के रोग-व्याधि भी इनके शरीर से निकल जाते हैं। कुअभ्यास त्यागकर शुद्धाचार करने लगते हैं। इस प्रकार के लक्षणों को देखकर समाज के वयोवृद्ध तथा पुजारी लोग समझ जाते हैं कि इस व्यक्ति पर देओध्वनि की कृपा हुई है। तब से वे लोग संयत होकर जीवन-यापन करने लगते हैं।

देओध्वनियों के देवत्व प्राप्ति विषय में जन विश्वास ऐसा किया जाता है कि—जिस इष्ट देवी या देवता—पुरुष या स्त्री के शरीर में दैविक-शक्ति प्रदान करता है, वही देओध्वनि हो सकते हैं। 'निर्मल हृदय वाले व्यक्ति पर देओध्वनि का आगमन होता है। उसकी सहायता से वह परमात्मा की बातें बता सकता है। देओध्वनि जिन शब्दों का उच्चारण करते हैं, उसे सर्वसाधारण लोग समझ नहीं सकते हैं। केवल पुजारी और विज्ञ वयोवृद्ध लोग ही समझ सकते हैं, क्योंकि उन लोगों ने उसका अभ्यास परम्परागत रूप से किया है।

देओध्वनि की प्रमुख विशेषता है—भविष्यत् वानी कहना और नृत्य प्रदर्शन करना। इसके द्वारा अमंगल, भूत, प्रेत, से रक्षा पाने की सूचना देते हैं। यह नृत्य किसी देवी या देवता को संतुष्ट करने के लिए नहीं किया जाता है। देओध्वनि के शुभागमन पर देवी-देवताओं का गुणगान किया जाता है। देओध्वनि पूजा-मण्डप में उपस्थित होने के लिए 'बारिक' (सूचना-प्रेषक) एक दिन पहले गांव के लोगों को सूचित करता है। पूजा के दिन सभी लोग स्नान कर, नये-नये वस्त्र पहन कर देवी-देवताओं को नमस्कार करते हैं। पुजारी उन्हें जल छिड़क कर शुद्ध करता है। फिर स्त्री-पुरुष दो भागों में विभक्त होकर देवालय में गीत गाते हैं। तब देओध्वनि लोग हाथ में छड़ी लेकर मार-पीट, रोते-चिल्लाते हुए देवस्थान में आते है। इस अवसर पर नियुक्त किया हुए लोग इन दिनों चौबीसों घंटे रखवाली करते रहते हैं।

देओध्वनि के देवस्थान में पहुंचने पर स्नान करवाया जाता है, फिर सुरक्षित रखे गए देव वस्त्र निकालकर उन्हें पहनाते हैं। तब पुजारी 'शान्तिपानी' छिड़ककर उन्हें देवता की श्रेणी में लाते हैं। तभी वे लोग 'मणिकूट' में प्रवेश करते हैं। अन्य समय मणिकूट में प्रवेश करना निषिद्ध है। फिर नाना प्रकार के सोना, चांदी, ताम्बा आदि के फूल पहनाते हैं। देवी-देवताओं से शक्ति पाकर जोर-जोर से चिलाकर शोर मचाते हैं। सज-धजकर भैरव-भैरवी के वेश में निकल आते हैं। 'डलि पुलि' (सेवकों) को अपने हाथ से 'तड: लती' (कमण्डल) से पवित्र जल और ताम्बूल-पान देते हैं।

देओधवनि के सम्मुख कोई लाल, काला, पीला, नीला आदि रंगीन वस्त्र पहन, और छाता खोलकर देवस्थान में प्रवेश कर नहीं सकते हैं, क्योंकि उस समय देओधवनि उक्त रंग के वस्त्रालंकार पहनते हैं। इतने में देओधवनि के शरीर कांपने लगता है, दैविक शक्ति का आभास होता है। तब वे उग्र-मूर्ति का रूप धारण करते हैं। वे स्थिर रह नहीं पाते, उनका शरीर कांपता रहता है। तब बलि चढ़ाने की वेदी में कच्चे केले के नरम पत्तों के आसन में पुजारी उन्हें बिठाते हैं। वहां बैठने के साथ-साथ और भी तीव्र गति से कांपने लगते हैं। तभी ऐश्वरिक शक्ति प्राप्त कर देववानी सुनाते हैं। भूत-भविष्य और वर्तमान सभी बातें कहने लगते हैं। इस मुहूर्त के लिए पुजारी लोग प्रतीक्षा में रहते है। इस अवसर पर अनेक अद्भुत घटनाएं होती हैं, फिर लोग नम्रता से देओधवनि को नाना प्रश्न पूछने हैं। देओधवनि प्रश्नों का यथोचित उत्तर देते हैं। अमंगल, रोग व्याधि आदि से रक्षा पाने का उपाय, धर्म संबंधीय समसामयिक घटना आदि विषय पर पूछताछ किया जाता है। सालभर के मंगल-अमंगल संबंधी बातें पूछते हैं। इस अवसर पर अन्य लोग भी अपाय अमंगल, और मूल्यवान वस्तु प्राप्ति हेतु प्रश्न करते हैं लोग देओधवनि की उग्रमूर्ति देखकर डरते हैं, इसलिए पुजारी के द्वारा पुछवाते हैं। प्रश्न पूछने वाले को मानार्थ पैसे, ताम्बूल-पान देना होता है। पूछने वाले की कामना सिद्धि हुई तो अगले साल वह बकरा, हंस, कबूतर अथवा सोना, चांदी, ताम्बे के फूल चढ़ाते है। देउरी लोग बातों पर अत्यधिक विश्वास करते हैं।

तब देओधवनि उनके सेवकों को निम्न प्रकार से उपदेश देते हैं:

"अ' आय, पालनीय लाजु, पथालि मुमुति लाया मसि लौ आय ससुना किनातबे, दा हिम्ना, आ लौना ससबा दिन परुवानन, आतिरि ससपुडायाति, लाउके सिसउ याति। छांया दुकेरे हंमाके दुइ। ससु ससा सकु मन लाडना अच्छिइ दुइना के। सि मेसु-रुयकिङ दा येतेजु, मसिय सक्किय मसिय-किड़ों हाजुङ निजुडना इगाबच्चका दु। आय च्छु लाजुना हंयनि। आय मुना लाडना ससु च्छागुपि केएं। लाच्क्कुना लायामृत दुक लादुपान। मुके बेमह च्क्कुच्चु बसि सिसति जिसि कुन आरके पालनीय लाजुसि आय इसिरि निमानन।"

भावार्थ :— "हे सेवकों, नर-मनुष्य तुम लोग मेरी बातें सुनों, डरो नहीं। मैं तुम्हें संकट के समय रक्षा करुंगा। पत्थर तैरता नहीं और लौकी डूबती नहीं है। चांद सूर्य रहने की भांति सत्य भी सर्वदा है। पवित्र तथा शुद्ध रह कर संसार चलाना। कुत्ते और लोमड़ी की भांति लड़ाई न करना। मनुष्य के साथ मनुष्य की भांति मिल-जुलकर रहना मेरी बातें निष्ठा से मानना। मुझे स्मरण कर धर्म पथ में चलना। इन बातों को न मानने पर शास्ति का विधान करुंगा। तूफान में अच्छे को अच्छा फल प्राप्त होगा और आदर करने वाले मेरा आर्शीवाद लाभ करेंगे।"

उक्त देओधवनि के वाक्यों को देउरी लोग नीति वचन की भांति पालन करते हैं। इनका उल्लंघन होने पर अघटनीय होने का विश्वास करते हैं। देववानी कहने के बाद पुजारी लोग प्रज्वलित दीये के सम्मुख हंस, कबूतर या मुर्गा काटकर देओधवनि को कच्चा गर्म रक्त पिलाते हैं। तब नृत्य के लिए आसन से उठते हैं और वाद्यादि बजाने के लिए इंगित करते हैं। फिर पौराणिक पद्धति से देओधवनि नृत्य के लिए अपने ढंग से ढोल झांझ बजाकर देव मन्त्र गाया जाता है। इन मन्त्रों में देवी-देवताओं का वृतान्त होता है। देओधवनि नृत्य में केवल धार्मिक पुरुष की प्रांगण में इन गीतों को भक्तिपूर्ण भाव से वाद्यों के साथ सुर मिलाकर एक स्वर से गाते हैं। इस अवसर पर ताली नहीं बजाई जाती है। नृत्य के साथ पदचालन मिलाने की विशेषता है। सभी देओधवनि का नृत्य एक जैसा नहीं होता है। अपने-अपने देवताओं की भंगिमा के अनुसार नाचते हैं। वे लोग अपनत्व को भूलकर इष्ट देवता में विलिन होते हैं और तन्मय होकर नृत्य करते हैं। हाथ-पैर हिला-हिला कर कांपते हुए उन्मत्त होकर नृत्य करते है। देओधवनि के साथ पुजारियों को भी नाचना होता है।

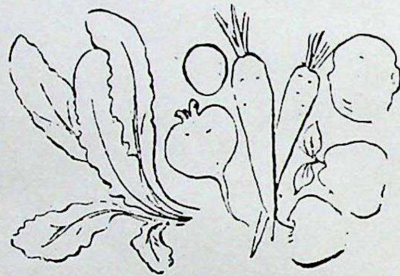
देओधवनि नृत्य का कुछ अंश का प्रदर्शन अति भयावह और चमत्कारित होता है। देओधवनि भैंसा बलि चढ़ाने के तेज अस्त्र और त्रिशूल के ऊपर नृत्य करते हैं। बलि चढ़ाने का अस्त्र प्रायः छः या सात फुट लम्बा और छः या सात इंच चौड़ा होता है। इसका वजन दस या पंद्रह किलो होता है। नृत्य करते समय उग्रमूर्ति धारी देओधवनि उन अस्त्रों को देवालय के अस्त्रगार या मणिकूट से निकाल लाते हैं। नृत्य के समय दोनों ओर दो पुजारी उस अस्त्र को पकड़ते है। अधिक शक्ति प्राप्त करने के लिए देओधवनि अपने इष्ट देवता से प्रार्थना करते हैं। दर्शक वृन्द भी इस अवसर पर इष्ट देवताओं का नाम लेकर हर्ष ध्वनि करते है। फिर जोरों से वाद्य बजाकर देव मंत्रों का उच्चारण करते हैं। तब देओधवनि अस्त्र के तेज धार के ऊपर चढ़कर नृत्य करने लगते हैं। कभी तो तेज अस्त्र हाथ से पकड़ कर गर्दन में उछाल कर फैंकते हुए या मुंह में लेकर नृत्य करते हैं। इस विस्मयजनक नृत्य को देखकर देउरी लोग देवता लाभ करने की बातों पर विश्वास करते है और इस आश्चर्य-चकित करने वाली शक्ति देवी मानते हैं। इसे नृत्य के साथ कमाख्या के देओधवनि नृत्य का सादृश्य भी देखा जाता है।

देओधवनि नृत्य साधारणतः अपराह्न पांच या छः बजे से आरम्भ करते हैं और दस या ग्यारह बजे रात को समाप्त किया जाता है। संध्या के बाद देओधवनि लोग अचेत होकर नृत्य करते हैं। फिर कुछ नृत्यांश मनोग्राही और वेदनादायक

होता है । देओध्वनि अति क्लान्त होकर नाचते-नाचते इष्ट देवता के सम्मुख गिर कर नृत्य समाप्त होता है । तब पुजारी लोग देओध्वनि को आदर के साथ पकड़कर बिठाते हैं । कुछ समय बाद देओध्वनि सचेत होते हैं । तब पुजारी लोग उनके शरीर में परिधान किए हुए देवता के वस्त्रांलकार उतार देते हैं । फिर नियुक्त किए हुए लोग देओध्वनि को पकड़ कर धीरे-धीरे पैदल चलते हुए उसके घर पहुंचा देते हैं ।

बिहु उत्सव के दिनों में पुजारी लोग सुबह शाम स्नान कर देओध्वनि के घर उसके शयन स्थान के पास सजाकर तेल प्रदीप जलाते हैं । पहले आहोम, सुतिया, कछारी राजस्व काल में सदिया के चार देवालयों में देओध्वनियों को मन्दिर में ही रहने का नियम था । पूजा उत्सव समाप्त होने पर अपने घर आते थे । वर्तमान अपने-अपने घर में रहते हैं और पूजा के निश्चित समय में देवालयों में जाते हैं । इन दिनों देओध्वनियों को उपवास ही रहना होता है । इस प्रकार सालभर के लिए देओध्वनि नृत्य उत्सव समाप्त होता है । आवश्यक होने पर कभी-कभी बीच में भी यह उत्सव मनाने का नियम है।

असम की डिमासा कछारी और लालुड़ जनजातियों के बीच भी 'केचाइखाती' गोंसानी पूजा उत्सव प्रचलित है। मिसिड़ जनजातयों में 'मिबु' (पुरोहित) नृत्य किया जाता है ।



संताली भाषा और उसका साहित्य

डोमन साहु 'समीर'

'संताली' हमारे देश के 'संताल' नामक आदिवासियों की मातृभाषा है। संसार के भाषा-परिवार में इसका स्थान आग्नेय (आस्ट्रिक) भाषा-परिवार में है। सुदूर पूर्व की मोनख्मेर तथा दक्षिण अफ्रीका की कई-एक भाषाओं के साथ इस भाषा के शब्द-भंडार, व्याकरण, रचना आदि में यत्किंचित साम्य पाया जाता है। कुछ समय पहले तक इस देश के संताल, मुंडा, बिरहोड़ आदि जन-जातियां 'खरवार', 'खरवाड़', 'खेरवार' या 'खेरवाड़' के नाम से प्रसिद्ध थीं। 'तदनुसार सर जी० ए० ग्रियर्सन ने संताली, मुंडारी, हो, आदि इन लोगों की भाषाओं को 'खरवारी' के एक सामान्य नाम से अभिहित किया था। [2]उपर्युक्त जन-जातियों में मुंडा लोगों की परिचिति साधारणतः पहले से ही होती रही है। ऐसी स्थिति में संताली, मुंडारी, हो, आदि भाषाओं का एक सम्मिलित नाम 'मुंडा भाषाएं' भी रहा है।

संताल लोग अपने-आप में अपने को 'होड़' कहते हैं जिसका मुंडारी 'पर्याय' 'होड़ो' और हो पर्याय 'हो' है। हो भाषा में साधारणतः 'ड़' का उच्चारण नहीं हुआ करता है; इसी से 'होड़ या 'होड़ो' शब्द 'हो' बन गया है। इस प्रकार संताली भाषा का एक नाम 'होड़ रोड़' अर्थात् 'संताल लोगों की बोली' भी है यद्यपि यह नाम मुख्यतः संताल लोगों तक ही सीमित है।

संताल' और 'संताली' अपेक्षाकृत नये नाम हैं। 'संताल' शब्द की व्युत्पत्ति 'सांत होड़' शब्दों के मेल से हुई है। संताल लोगों के पूर्वज एक समय वर्तमान पश्चिम बंगाल के मेदिनीपुर जिले के 'सामंतभूम' अंचल में (वर्तमान सिलदा परगने के आस-पास) रहते थे जहां से उनका प्रव्रजन अन्याय स्थानों में (मुख्यतः वर्तमान संताल परगना जिले में 1790 और 1810 ई० के आस-पास) हुआ है। [3]इस 'सामंतभूम' शब्द का संताल उच्चारण 'साँतभूम' हुआ करता था और वे इसे अपनी भाषा में प्रायः 'सांत दिसोम' से अन्यत्र जाया करते तब अपना जातीय परिचय साधारणतः 'सांत होड़' अर्थात् 'सांत के लोग' के नाम से दिया करते थे। और, इसी 'सांत होड़' शब्द को एक में मिलाकर 'सान्थाड़' (रोमन अक्षरों में SANTHAR) लिखा जाने लगा जिससे, बाद में, 'सांन्थाल', 'संथाल' या 'संताल' शब्द त्युत्पन हुआ है। [4]भाषा-विज्ञान के नियमों के अनुसार 'ड़' का 'ल' या 'ड़' हो जाना स्वाभाविक ही है। जो हो, अब तो इस जाति के लिए 'संताल' और इसकी भाषा के लिए संताली' शब्दों का प्रचलन सामान्य हो गया है।

संताली भाषा-भाषियों की संख्या

1971 ई० की जनगणना के अनुसार संपूर्ण भारत में संताली भाषा-भाषियों की संख्या लगभग 32 लाख है जिनमें से लगभग 16 लाख बिहार में, लगभग 12 लाख पश्चिम बंगाल में तथा शेष उड़ीसा और आसाम में है। भारत से बाहर कुछ संताल नेपाल और बंगला देश में भी हैं। बिहार में इन लोगों की आबादी सबसे अधिक (लगभग 11 लाख) संताल परगना जिले में तथा उसके बाद हजारीबाग गिरिडीह, धनबाद, सिंहभूम, पूर्णिया, कटिहार, भागलपुर और मुंगेर जिले में है। भिन्न-भिन्न स्थानों की संताली में देश-काल परिस्थिति के प्रभाव से, थोड़ा बहुत भिन्नता अवश्य दीख पड़ती है, परन्तु मूलतः वह एक ही है। यों, आदर्श संताली वह है जो संताल परगना जिले में बोली जाती है।

सताली ध्वनियां

संताली ध्वनियां, मात्र दो-तीन स्वरों को छोड़कर वे ही हैं, जो हिन्दी की हैं और वे नागरी वर्णमाला द्वारा मजे में लिखी-पढ़ी जा सकती हैं। स्वर वर्णों में अ आ इ ई उ ऊ ए ऐं एऍ ओ ओ औ और अं का, व्यंजन वर्णों में क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण ड़ ढ़, त थ द् ध न न्ह, प फ ब भ म, य र ल व स और ह का तथा अवरुद्ध व्यंजन वर्णों में क्, च्, त्, और प् का प्रयोग इस भाषा में होता है। इनमें से आ, ए और ओ तथा क्, च्, त् और के अतिरिक्त शेष वर्णों के उच्चारण संताली में वैसे ही होते हैं जैसे हिंदी में। अतः उनके संबंध में किसी विशेष व्याख्या की आवश्यकता नहीं है।

'आ' अपने आगे या पीछे आने वाले इ-ईकार या उ-ऊकार से प्रभावित एक मध्य-पश्च-अर्द्धसंवृत या उच्च-मध्य-अर्द्धविवृत ह्रस्व-दीर्घ आकार ध्वनि है; जैसे—आलू (संताली-आलू (हिंदी), बाबू '(सं०) =बाबू (हिं), रानी (सं०)=रानी (हिं), कहनी (सं०)=कहानी (हिं०) आदि। इसी प्रकार 'ए' और 'ओ' क्रमशः अंग्रेजी के cat शब्द में प्रयुक्त a की तरह एक निम्न-अग्र-अर्द्धसंवृत तथा अंग्रेजी के ही all शब्द में प्रयुक्त a की तरह एक निम्न-पश्च-गोल अर्द्धविवृत स्वर हैं। जैसे एकेन (सं०)=सिर्फ एडे (सं०)=झूठ, ओल (सं०)=लिखना, लोलो (सं०)= गर्म इत्यादि।

अवरुद्ध वर्ण क्, च्, और प् द्वारा संकेतित ध्वनियों को 'क्लिक' ध्वनियां कहा गया है। इनके उच्चारण में भीतर से निकलती वायु-गति को एकाएक रोक लिया जाता है, खास कर 'क्' के उच्चारण में। ये ध्वनियां साधारणतः शब्दों के अंत में आती हैं (यद्यपि 'क्' शब्दों के मध्य में भी आया करता है।) और, जहां तक मेरा अध्ययन है, इन ध्वनियों के लिए नागरी के हलन्त क्, च्, त् और प् के प्रयोग पूर्णतः खपते हैं; क्योंकि, संधि के नियमों के अनुसार, जब इन ध्वनियों के बाद कोई स्वर वर्ण आते हैं तब क्, च्, त् और प् के स्थान

पर क्रमशः ग, ज, द और ब वर्ण आ जाते हैं; जैसे—दाक्+आ =दागा (पानी पड़ेगा), झिच्+आ=झिजा (किवाड़ खोलेगा), गेत्+आ=गेदा (काटेगा), साप्+आ साबा (पकड़ेगा) इत्यादि।

एक बात और। संताली में 'ङ' और 'ञ' स्वतंत्र रूप से भी प्रयोग में आते हैं, केवल संयुक्त रूप में ही नहीं 'ञ' तो शब्दों के आदि में भी आता है और अंत में भी; परन्तु 'ङ' प्रायः अंत में ही आया करता है। उदाहरण के लिए—वाङ=नहीं; जाङ=हड्डी; ञाम =पाना, जेल=देखना, बिञ=सांप, सिञ दिन इत्यादि।

व्याकरण और रचना

संताली एक सरल योगात्मक भाषा है जिसमें आद्य, मध्य और तंत्य प्रत्ययों का प्रयोग मूल शब्दों के साथ मजे में हुआ करता है। इस भाषा में वस्तुवाचक शब्दों की अधिकता है, भाववाचक शब्द बहुत कम हैं। भावात्मकता का बोध साधरणतः वस्तुवाचक शब्दों द्वारा ही करा लिया जाता है; यों, अब मूल शब्द के मात्रायुक्त प्रथम वर्ष के बाद समान मात्रा युक्त-'न'-का आगम करके या मूल शब्द के अंत में-'तेत्'-प्रत्यय लगाकर भी भावात्मकता का बोध कराने की प्रवृत्ति का विकास इस भाषा में ही चला है। उदाहरण के लिए ञेल (देखना), ञेनेल (दृश्य); ओसार (चौड़ा), ओनोसार (चौड़ाई) पोण्ड (उजाला), पोण्डतेत् (उजलापन) इत्यादि।

संताली में लिंग दो हैं—पुल्लिंग और स्त्रीलिंग; परन्तु लिंग-भेद के कारण विभक्तियों, विशेषणों या क्रियारूपों में कोई अंतर (हिंदी की तरह) नहीं पड़ता है; जैसे—कोडाय हेच् एना (लड़का आया), कुड़ीय हेच् एना (लड़की आई) आदि। हां, प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक संज्ञा—सर्वनाम भेद के कारण विभक्तियों और क्रिया-रूपों में स्पष्ट अंतर देखा जाता है; प्राणिवाचक संज्ञाओं और सर्वनामों के प्रत्यय क्रिया रूपों के साथ अनिवार्यतः जाते हैं; जैसे 'सिनेमाय ञेल केदा' (उसने सिनेमा देखा), परन्तु 'पुसीय ञेल केदेया' (उसने बिल्ली को देखा) आदि।

वचन इस भाषा में, संस्कृत और अरबी की तरह, तीन हैं—एक वचन, द्विवचन और बहुवचन—जिनका प्रयोग मुख्यतः प्राणिवाचक संज्ञाओं और सर्वनामों के मामलों में हुआ करता है और जिनके प्रत्यय क्रमशः-'य(-ए)', '-किन' और '-को' हैं (अन्य पुरुष); जैसे—उनी(य)—वह उनीकन—वे दोनों, ओनको—वे लोग आदि। हां, संस्कृत और अरबी से भिन्न, द्विवचन और बहुवचन से उत्तम पुरुष सर्वनाम के दो-दो रूप इस भाषा में हैं—एक श्रोता-सहित और दूसरा श्रोता सहित; जैसे—'आलाङ' (मैं और तुम), 'आलिञ' (मैं और यह) तथा 'आबो' (मैं और तुम लोग अथवा हम लोग और तुम), 'आले' (मैं और ये लोग अथवा हम लोग और यह)। यह संताली की एक बहुत बड़ी विशेषता है।

संताली में वाक्य—रचना लगभग हिंदी की तरह ही होती है; परन्तु उसमें सामान्यतः क्रियापद ही प्रधान होता है जिससे मात्र क्रियापद से ही संपूर्ण वाक्य का बोध हो सकता है। उदाहरण के लिए आगूकेदेयाय—वह उसे (किसी जीवधारी को) ले आया। इस 'आगूकेदेयाय' क्रियापद का विश्लेषण इस प्रकार होगा—आगू (ला, धातु) अ+केतु (सामान्य भूत-कालिक काल-प्रत्यय) +ए (उसे, प्राणिवाचक कर्म-प्रत्यय) आ (समापिक)+य(वह, प्राणिवाचक कर्त्तप्रत्यय)। यदि कर्म अप्रणिवाचक रहे तो उपर्युक्त वाक्य इस प्रकार होगा—आगूकेदाय, वह उसे (कोई वस्तु, अप्राणिवाचक) लाया; क्योंकि अप्रणिवाचक कर्म के लिए कोई प्रत्यय अपेक्षित नहीं है।

शब्द भंडार :

संताली का शब्द भंडार अधिक संपन्न नहीं है। मोटे तौर पर इस भाषा में 15—20 हजार शब्द होंगे जिनमें से लगभग 45% संस्कृत, अपभ्रंश, हिंदी, बंगला, उर्दू, अंग्रेजी आदि विभिन्न भाषाओं से तद्भव (या तत्सम) रूपों में इस भाषा में आये हुए हैं। मूलतः जीवन की आद्य आवश्यकताओं अर्थात् आहार, निद्रा, भय, मैथुन तथा प्रकृति, पृथ्वी, वन, पर्वत, आखेट आदि से संबंधित शब्दावली संताली की अपनी है जबकि कृषि, गोपालन, व्यापार, वाणिज्य, शिक्षा, स्वास्थ्य, ज्ञान-विज्ञान आदि से संबंधित शब्दावली मुख्यतः अन्यान्य भाषाओं से इस भाषा में आई हुई हैं। उदाहरण के लिए:—दाका—भात, उतू—सब्जी, जोम—खाना, ञू—पीना, गितिच्—सोना, बेरेत्—उठना, बोतोर—डरना, ओत—पृथ्वी, सेरमा—आकाश, हासा—मिट्टी, बिर—वन, बुरू—पहाड़ घिरी—पत्थर, गाडा—नदी, इपिल—तारा, दाक्—पानी, बोहोक—सिर, उप्—बाल, ती—हाथ, लुतुर—कान, मूं—नाक, मोचा—मुंह, हारता—चमड़ा, मायाम—रक्त, जाड़—हड्डी आदि; परन्तु सी—जोतना (संस्कृत 'सी'), नाहेल—हल (संस्कृत' लाङगल), गुहुम—गेहूं, चावले—चावल, दाल—दाल, आक—ऊख, जाव—जौ, गाय—गाय, सादोम—घोड़ा संस्कृत 'सैंधवम्'), किरिञ—खरीदना, आकरिञ—बेचना, तुला—तुला (संस्कृत), लाब—लाभ, टाका—रुपया, पायसा—पैसा, पुथी—पोथी (अप पोतिथअ), बही—बही—बही, कागोज कागज, कोलोम—कलम, पाड़हाव—पढ़ना, रूआ—रुग्ण होना, हास्पताल—अस्पताल, गाड़ी—; गाड़ी चालाव—चलाना, साइकेल—साइकिल इत्यादि।

लिपि :

संताली लगभग सवा सौ वर्ष पहले तक केवल एक मौखिक या कथित भाषा थी, लिखित नहीं। फलतः इसकी कोई अपनी लिपि भी रही होगी, इसका कोई प्रमाण अब तक प्राप्त नहीं हुआ है। जहां तक इन पंक्तियों के लेखक की जानकारी है, इस भाषा को सर्वप्रथम उड़ीसा में रहने वाले श्री जर्मिया नामक एक मिशनरी पादरी—लिखित 'एन इन्ट्रोडक्शन टू दि संताली लैंग्वेज' (1852 ई०) नाम की पुस्तक में लिखित रूप प्राप्त हुआ था। बाद में इस भाषा के लिए विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न संप्रदायों के लोगों में नागरी, बंगला, रोमन, उड़िया आदि विभिन्न लिपियों का प्रयोग होता रहा है जिसे गैर-सरकारी क्षेत्रों के लोगों ने भी अपनाया है। पश्चिम बंगाल के सरकारी क्षेत्रों में (कुछ गैर-सरकारी क्षेत्रों

में भी) इस भाषा के लिए बंगला लिपि का प्रयोग देखा जा रहा है। रोमन लिपि का प्रयोग भी इस भाषा के लिए यत्र-तत्र हो रहा है; मुख्यतः मिशनरी संप्रदाय के लोग इसके हिमायती हैं। हां, इधर कुछ दिनों से कुछ लोगों ने संताली की 'अपनी लिपि' के नाम पर कुछ नई लिपियों का आविष्कार और प्रचलन करने का प्रयास कर रखा है जिनमें से 'ओल चिकी' नाम की लिपि की चर्चा अधिक है। जो हो, यदि सर्वतोरूपेण देखा जाए तो नागरी लिपि का प्रयोग ही इस भाषा के लिए सर्वथा श्रेयस्कर है। अवसर आने पर इस पर अधिक विस्तार से विचार किया जायगा। बिहार में इस भाषा के लिए नागरी लिपि का प्रयोग धड़ल्ले से हो रहा है जिसका सर्वाधिक प्रसार बिहार-सरकार के सूचना एवं जन-संपर्क विभाग द्वारा, इन पंक्तियों के लेख के संपादकत्व में, 1947 ई० से, देवघर (सं० प०) से प्रकाशित संताली साप्ताहिक 'होड़ - सोम्वाद' के माध्यम से हुआ है। राज्य-सरकार द्वारा प्रकाशित संताली पाठ्य-पुस्तकें तथा अन्यान्य लेखकों की अनेक पुस्तकें नागरी लिपि में ही हैं।

संताली साहित्य

संताली साहित्य को सामान्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(1) लोक-साहित्य और (2) शिष्ट साहित्य। लोक-साहित्य के अन्तर्गत लोक-कथाओं, लोक-गीतों, लोकोक्तियों आदि का समाहार है जबकि शिष्ट साहित्य में आधुनिक ढंग की कविताओं, कहानियों, लेखों, नाटक आदि का। संक्षेप में, दोनों ही प्रकार के संताली साहित्य का परिचय निम्नलिखित है।

(1) लोक-साहित्य

(क) संताली लोक-साहित्य की एक प्रमुख विधा लोक-गाथा या लोक-कथा है। सृष्टि की उत्पत्ति, पुरखों की कहानियों, गोत्रों के विभाजन, जातीय संस्कारों के प्रचलन, चतुराई की बातों पशु-पक्षियों के संवादों आदि से संबंधित प्रचुर लोक—गाथाएं और लोक-कथाएं संताली में युगों से प्रचलित हैं जो मौखिक रूप में ही चलती आ रही थी; परन्तु अब उनके कई-एक संग्रह भी पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं 1887 ई० में श्री एल० ओ० स्क्रेफसरूड नामक एक पादरी ने संताली की सृष्टि—कथा, गोत्र विभाजन, प्रव्रजन, जातीय संस्कार, पर्व-त्यौहार, रीति-रिवाज आदि से संबंधित 'होड़को रेन मारे हापड़ामको रेयाक् काथा' (संतालों के पुरखों की बातें) नाम की पुस्तक, 'कल्याण हाड़ाम' नामक एक वयोवृद्ध संताल के कथनों के आधार पर, प्रकाशित करवाई। फिर, घाटशिला (बिहार) के श्री रामदास टुडू-लिखित 'खेरवाल बोंसा धोरोम पुथी' (खेरवाल वंशीय धर्म—ग्रंथ) 1900 ई० के आस-पास धालभूम) (बिहार) के राज-परिवार के सहयोग से प्रकाश में आयी। उसमें सनातन संतालों के धार्मिक विश्वासों और मान्यताओं पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार श्री सी० एच० कुमार (सं० पं०)—लिखित 'संताल परगना, संताल और पहाड़िया कोवाक् इतिहास' (संताल परगना, संताल और पहाड़िया लोगों का इतिहास, 1937 ई०), श्री एस०एच०मूर्मू (भागलपुर)—लिखित 'काराम आर चाचो छटियार' (काराम और शिशु-संस्कार, 1945 ई०), तथा 'रोड़ बापला पुथी' (संताल - विवाह-पुस्तक, 1961 ई०), श्री चुदाई सोरेन (पश्चिम बंगाल)—लिखित 'हापड़ामकोवाक् काथा आर दासाय सेरेन' (पुरखों की बातें और दशहरा-गीत, 1956 ई०) श्री महादेवचंद्रदास मरण्डी (सं० पं०)-लिखित 'बादोली-केयण्डा' (1967 ई०) आदि पुस्तकों में संतालों के जातीय संस्कारों और पौराणिक बातों पर अच्छा प्रकाश पड़ा है। हां, इन सारी पुस्तकों का वर्गीकरण भाव-साहित्य के अंतर्गत नहीं, ज्ञान-साहित्य के अन्तर्गत किया जाना अपेक्षित है।

(ख) **लोक-कथाएं** : संताली में तरह तरह की लोक-कथाएं प्रचुर मात्रा में हैं जिनमें से कुछ का संग्रह श्री पी० ओ० बोडिंग नामक एक नार्वेजियन पादरी ने वर्तमान शताब्दी की प्रथम पचीसी में किया और जो बाद में नार्वे (ओस्लो) से अंग्रेजी-अनुवाद के साथ अनेक जिल्दों में प्रकाशित की गई। उन्हीं में से 29 चुनी हुई लोक-कथाएं 'होड़ काहनीको' (संताली कहानियां) के नाम से 1924 ई० में बेनागाड़िया (सं० पं०) से प्रकाशित की गई हैं। उनमें संताल-मानस के घात-प्रतिघातों की एक स्पष्ट झांकी विद्यमान है। फिर, श्री एस० सी० मुर्मू द्वारा संग्रहित 138 छोटी-छोटी लोक-कथाओं की एक दूसरी पुस्तक 'गाम काहनी' 1944 ई० में दुमका (सं० पं०) से प्रकाशित हुई।

परंतु, इतने से ही संताली लोक-कथाओं की इतिश्री नहीं हो जाती है। यदि संग्रह किया जाय तो अब भी उन कथाओं की अनेक जिल्दें प्रकाशित हो सकती हैं और उनसे संताल जाति के मानसिक और सामाजिक वैभव का सम्यक् परिचय प्राप्त हो सकता है।

(ग) **संताली लोक गीत** : संताली लोक-गीतों की बात तो लोक-कथाओं से भी बढ़कर है। सच पूछें तो, संताल-जीवन गीतों से परिपूर्ण है। जन्म से लेकर मृत्यु तक उसमें गीत-ही-गीत भरे पड़े हैं। गीत, नृत्य और वाद्य मानों उनके जीवन के अनिवार्य अंग हैं। यदि इन चीजों को संताल-जीवन से अलग कर दिया जाये तो वह निष्प्राण हो जायगा। वस्तुतः गीत, नृत्य और वाद्य के सहारे ही ये लोग अपने जीवन की क्रूर विभीषिकाओं का सामना करते हुए विपरीत परिस्थितियों में भी प्रसन्न रहते हैं। जन्म, छट्ठी, विवाह, पर्व-त्योहार आदि के अवसरों पर तो इनके गीत, नृत्य और वाद्य के अखाड़े जमते ही हैं, अन्यान्य अवसरों पर भी, जब भी जी चाहे, ये नाचते-गाते हैं। बांसुरी संताल-युवकों की बड़ी प्रिय वस्तु है। उसे वे सदा अपने साथ रखते हैं। कहीं भी काम करते हुए, क्षणिक विश्राम पाते ही, उनका वंशी-स्वर गूंज उठता है मानों उनकी थकान मिटा रही हो। उधर युवतियों के कंठ-स्वर भी युवकों के वंशी-स्वर से होड़सी लगाते हुए फूट पड़ते हैं। संताल-युवतियां काम में लगी रहने पर भी बहुधा कोई-न-कोई गीत

गुनगुनाती रहती है यह उनकी नैसर्गिक आदत-सी है। खेतों-खलिहानों या मैदानों में कार्यरत, कोई-न-कोई गीत गाती हुई, संताल-युवतियों को देखकर, वस्तुतः अंग्रेजी के कविवर वर्डसवर्थ की 'सोलिटरी रीपर' (एकाकी फसल काटने वाली) की तस्वीर आंखों के सामने नाच उठती है। यही नहीं, वन-पर्वत-कछारों में संताल-किशोरों के वंशी-स्वर और किशोरियों के कंठ-स्वर से जिस नैसर्गिक वातावरण की सृष्टि होती है उससे प्राचीन वृंदावन की स्मृति ताजा हो उठती है।

दोड़, लागड़े, बाहा, सोहराय, शिखा, मातवार, भिनसार, डाहार, डाण्टा, गोलवारी, दासांय आदि संताली लोक-गीतों के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं जो भिन्न-भिन्न ऋतुओं में विभिन्न पर्वों या उत्सवों के अवसरों पर गाये जाते हैं। 'दोड' विवाह और प्रणय संबंधी गीत हैं जो नायक-नायिका के प्रेम-प्रसंग से लेकर वर-कन्या-निरीक्षण, मंडप-छादन, सिंदूर-दान, बेटी की विदाई आदि तक के हृदयस्पर्शी भाव बड़े ही मार्मिक शब्दों में संजोये रहते हैं। इनके प्रणयगीतों में आकर्षण विकर्षण, राग-विराग, मिलन-विरह आदि के भावों की अभिव्यक्ति बड़ी बारीकी से होती है। इसी प्रकार 'लागड़े गार्हस्थ्य—जीवन के गीत हैं तो "बाहा', 'सोहराय', 'दासोय' आदि विभिन्न पर्व-गीत हैं। 'बाहा' इन लोगों का वसंतोत्सव है तथा 'सोहराय', नवानोत्सव। 'बाहा'—गीतो में सात्विक भावों और पौराणिक कथानकों की प्रधानता रहा करती है जबकि 'सोहराय' गीत मुख्यतः शृंगार-भाव प्रधान होते हैं।

संक्षेप में, संताली लोक-गीत इनके भाव-साहित्य का एक प्रमुख अंग है। वे प्रकृति के उद्गार हैं। संताल-कंठों में वे युगों से सुरक्षित रहते आये हैं। हां, अब उनका संग्रह और प्रकाशन भी होने लगा है। 1943 ई० में श्री डब्ल्यू० जी० आर आर्चर श्री जी० जी० सोरेन ने 'होड़ सेरेज' और 'दोड़ सेरेज' नाम के दो गीत-संग्रह दुमका (सं० प०) से प्रकाशित करवाये। फिर, 'दोड़' और 'सोहराय' गीतों के दो संग्रह, हिंदी-अनुवाद के साथ, संताल-पहाड़ियां सेवा-मंडल, देवघर (सं० प०) द्वारा, पांच-सात वर्षों के बाद, प्रकाशित हुए। इसी प्रकार श्री केवलराम सोरेन द्वारा संपादित 'छामडा लातार' और 'मांझी छाटका', श्री नुनकू सोरेन द्वारा संपादित 'सोहराय सेरेज', 'लागड़े आर बाहा सेरेन', 'जावांय धुती सेरेन' आदि छोटे-छोटे गीत-संग्रह पिछले दिनों प्रकाश में आये हैं। इन सारी पुस्तकों में संग्रहित गीतों से संतालों की जातीय संस्कृति पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है।

(घ) **प्रकीर्ण** : प्रकीर्ण संताली लोक-साहित्य के अंतर्गत श्री एस० एच० मुर्मू-संपादित 'होड़ कुदुम पुथी' (संताली बुझौवल पोथी, 1944 ई०) और श्री नुनकू सोरेन—संपादित ' कुदुम पुथी' (बुझौवल पोथी), भाग 1-2 के नाम लिये जा सकते हैं। इसी प्रकार दो-एक संताली कहावतों और मुहावरों के संग्रहों का प्रकाशन भी हुआ है।

(2) **शिष्ट साहित्य** :

शिष्ट साहित्य नाम यों तो बहुत सटीक नहीं है, फिर भी, लोक-साहित्य के विपरीत, इस नाम का प्रचलन सामान्यतः हो गया है। लोक-साहित्य की रचना साधारणतः अज्ञात नाम रचनाकारों द्वारा हुई रहती है और वह प्रायः अनायास हो जाया करती है जबकि तथाकथित शिष्ट साहित्य की रचना बहुधा शिक्षित रचनाकारों द्वारा सायास हुआ करती है जिसमें पारिभाषिकताओं का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है : संताल-सामज में शिक्षा का प्रसार हमारे देश के स्वतंत्र होने के पहले तक अधिक नहीं हुआ था। फलतः संताली के शिष्ट साहित्य की रचना का श्रीगणेश हुए अधिक दिन नहीं हुए हैं। जो हो, अब तक के उपलब्ध संताली शिष्ट साहित्य का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है।

(क) **कविता** : अन्योन्य भाषाओं की तरह संताली में भी शिष्ट साहित्य की रचना का आरंभ कविता से ही हुआ है। संताली के प्रथम कवि, जहां तक मेरी जानकारी है, श्री पी० जे० सोरेन (सं० प० : 1892-1954 ई०)-रचित 17 छोटी-छोटी कविताओं का प्रथम संग्रह 'ओनोड़हें बाहा डालवाक्' (काव्य-कुसुमों की डाली) का प्रकाशन 1936 ई० में हुआ था। जातीय गौरव-गान, मातृभाषा-प्रेम, प्राकृतिक सौंदर्य-वर्णन, उदबोधन के स्वर आदि उनकी कविताओं में गुंफित भाव-तत्व हैं। संताली के प्रथम कवि के रूप में श्री सोरेन अभिनंदनीय है। वे एक लेखक और नाटककार भी थे; परंतु उनके गद्य—साहित्य का प्रकाशन अब तक नहीं हुआ है। पेशे से वे एक विद्यालय-निरीक्षक थे जिससे सेवा-निवृत्त होने पर संसद-सदस्य निर्वाचित हुए थे।

संताली के एक दूसरे प्रारम्भिक कवि और नाटककार का नाम साधु रामचांद मुर्मू (पश्चिम बंगाल : 1897-1954 ई०) है। वे यद्यपि अधिक शिक्षित नहीं थे तथापि साहित्य क्षेत्र में उनकी पैठ नैसर्गिक-सी थी। समाज में वे 'साधु जीवन' व्यतीत करते थे और 'साधु बाबा' के नाम से विख्यात थे। कविता-रचना में वे सिद्धहस्त थे। संताली के विभिन्न लोक-छंदों में रचित उनकी अधिकांश रचनाएं अप्रकशित ही हैं। हां, 'सारी घोरोम सेरेन ' (यथार्थ धार्मिक गीत) के नाम से उनकी कुछ कविताओं के दो संग्रह 1969 और 1972 ई० में प्रकाश में आये हैं जिनमें प्रकृति-प्रेम, मातृभाषा प्रेम, जातीय गौरव, समाज-सुधार आदि के भाव विशेषतः उभरे हैं। 'जोम सिम बिनती' (काव्य) और 'संसार फेन्द' (नाटक) आदि 'साधु बाबा' की अन्योन्य अप्रकाशित रचनाएं हैं। पश्चिम बंगाल के मेदिनीपुर, सिलदा आदि क्षेत्रों में वे बड़े लोकप्रिय रहे हैं। वहां उनकी स्मृति में 'साधु रामचांद मुर्मू उइहार बाथान' नाम की एक साहित्यिक संस्था स्थापित की गई है।

परंतु, संताली साहित्य के विकास का शुभारंभ, सच पूछें तो, संताली साप्ताहिक 'होड़-सोम्वाद' के प्रकाशन (1947 ई०) के बाद से हुआ है। तब से अब तक

विगत 30 वर्षों की अवधि में इस पत्रिका में सैकड़ों लेखकों और कवियों की लगभग 1,600 कविताएं, 1,000 लेख, 500 कहानियां, 60 जीवनियां, 30 नाटिकाएं तथा बहुत-सी अन्यान्य रचनाएं प्रकाशित हुई हैं जिन्हें संताली शिष्ट साहित्य की नींव की ईंटें कहा जा सकता है। सच पूछे तो, आज जितने भी ख्याति प्राप्त संताली साहित्यकार हैं उनमें से अधिकांश की प्रारंभिक रचनाओं के प्रकाशन का श्रेय इस पत्रिका को ही है। वैसे लेखकों और कवियों में से कुछ हैं—सर्वश्री नारायण सौरेन 'तोड़े सुतास',आदित्यमित्र 'संताली', ठाकुर प्रसाद मुर्मू, बाबूलाल मुर्मू आदिवासी, भागवत मुर्मू 'ठाकुर', बालकिशोर बासकी 'अरमान', रूपनारायण टुडू 'श्याम', शारदा प्रसाद किसकू अन्नदा किसकू रापाज, सहदेव मरण्डी, हर प्रकासाद मुर्मू, केवलराम सौरेन, नुनूलाल मुर्मू, इन पंक्तियों के लेखक आदि। संताली के कतिपय अन्यान्य साहित्यकार हैं सर्वश्री रघुनाथ मुर्मू, गोराचांद टुडू, नुनकू सौरेन, टी० के० रापाज, नाथानियल मुर्मू आदि।

'तोड़े सुताम' एक सुशिक्षित प्रतिभाशाली, कवि, नाटककार और कहानीकार हैं। आपूर्ति-निरीक्षक, शिक्षक और विधायक (बिहार) के कार्यों से निवृत्त हो अब ये पूर्णतः साहित्य-सेवा में लगे हुए हैं। संताली भाषा पर इनका अच्छा अधिकार है। अन्याय भाषाओं के शब्दों का प्रयोग तद्भव रूप में संताली में करने में आप माहिर हैं। हास्य-विनोदपूर्ण शैली में रचित आप की रचनाएं संताल-समाज में बड़ी लोक प्रिय हैं। राष्ट्र-प्रेम, आत्म-गौरव, अध्यात्म-चिंतन, सेवा-भाव, प्राकृतिक सौन्दर्य, आशावादिता आदि आप की रचनाओं के प्रमुख स्वर हैं। आपकी साहित्य-सेवा के पुरस्कारस्वरूप बिहार के राज्यपाल की अध्यक्षता में गठित साहित्यकार-कलाकार-कल्याण-कोष पर्षद (पटना) ने आपको मासिक वृत्तिका प्रदान कर आपका सम्मान किया है। संभवतः, इस प्रकार का साहित्यक सम्मान प्राप्त करने वाले इस देश के आदिवासी साहित्यकारों में सर्व-प्रथम आप ही हैं। आपका प्रथम कविता-संग्रह 'गिरा' (आमंत्रण) 1954 ई० में और दूसरा 'कीर्तन काली' (कीर्तन के पद) 1976 ई० में प्रकाशित हुआ है। साथ ही, 'आसाड़ विनती' (कविता संग्रह), 'मिनसार मायाम' (नाटक), 'माठा सुड़ा' (कहानी -संग्रह) आदि का प्रकाशन शीघ्र ही होने वाला है।

'संताली' जी आकाशवाणी (रांची) की सेवा में है। आप एक भावुक कवि, लेखक और कहानिकार हैं। आपकी कविताओं में सुष्ठु भावों की अधिकता रहा करती है। भाषा की बारीकी की आप को अच्छी परख है आप की अधिकांश रचनाएं 'होड़-सम्वाद' के माध्यम से प्रकाश में आई हैं। शीघ्र ही आप का एक कविता-संग्रह प्रकाशित होने वाला है।

श्री शारदा प्रसाद किसकू (पुरुलिया, प० बं०) एक प्राथमिक विद्यालय के राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त शिक्षक हैं ? आप एक लोकप्रिय कवि हैं। सरल भाषा में हृदगत भावों की सम्यक् अभिव्यक्ति आप की कविताओं की विशेषता है। 'भुरका ईपिल' (शुक्रतारा, 1954 ई०), 'कुहू बाउ' (लुका-छिपी, 1960 ई०) और 'गाम गोण्डार' (गांव-घर, 1967 ई०) नामक तीन कविता-संग्रह आपने अब तक प्रकाशित करवाये हैं।

'आदिवासी, जी एक अच्छे कवि ही नहीं, एक सिद्धहस्त लेखक और कहानीकार भी हैं। सरल संताली में लिखित आपकी कविताओं का समादर संताली साहित्य-संसार में अच्छा हुआ है। आप के गीतों का एक संग्रह 'कोरताल रांवावक् काना' (झांझ बज रही है) 1970 ई० में, कविताओं का एक संग्रह 'कोयोक होर' (प्रतिक्षा) 1974 ई० में तथा गीतों का एक दूसरा संग्रह 'सोरोस सेरेज' (श्रेष्ठ गीत) 1976 ई० में प्रकाशित है।

श्री गोराचांद टुडू एक उच्च विद्यालय के शिक्षक हैं। आप एक अच्छे कवि और लेखक हैं। आपकी कविताओं का एक संग्रह 'चांदमाला' 1957 ई० में प्रकाशित हुआ। जिसमें आप की लिखी हुई एक विद्वतापूर्ण भूमिका भी है। दो-एक अन्यान्य पुस्तकों के अनुवाद भी आपने संताली में किये हैं।

संताली के कुछ अन्यान्य कविता-संग्रह श्री ठाकुर प्रसाद मुर्मू-लिखित 'बिछोक-भंवार' (वियोगी भ्रमर), स्व० पंचानन मरण्डी लिखित 'सेरेज इता' (गीत-बीज दो भाग), इन पंक्तियों के लेख-रचियता 'दिसोम बाबा' (राष्ट्रपिता, 1953 ई०), डा० सहदेव मरण्डी लिखित 'आखड़ा सेरेना' (अखाड़े के गीत), 1967 ई०) तथा 'नावों राड़ नावां सेरेजन' (नये राग नये गीत, 1971), 'सोलेइचाक्' लिखित ('आंकड़ा बाहा' (1967 ई०) श्री अन्नदा किसकू लिखित 'गुलान्ज बाहा' (1970 ई०), श्री महादेव चंद्रदास मरण्डी–लिखित 'आकिल बाती' (1960 ई०) श्री गोमोस्ता प्रसाद सोरेन-लिखित 'आंखड़ा धुती' (1975 ई०) आदि हैं।

इस प्रकार संताली में काव्य रचना का प्रारम्भ अच्छा हुआ है। उपलब्ध रचनाओं में मातृभाषा-प्रेम, स्वदेश-गान, जातीय गौरव, समाज-सुधार, मानव-प्रेम, प्रकृति-वर्णन आदि भावों की मुख्यता है।

(ख) **कहानी और उपन्यास** : संताली की पहली कहानी 'बापुड़िच्किन' (दो बेचारे) साप्ताहिक 'होड़-सोम्बाद' के 22 अगस्त, 1947 ई० के अंक में प्रकाशित हुई है जिसके लेखक श्री हृदय नारायण मंडल एक असंताली भाषा-भाषी सज्जन हैं। उसके बाद सर्वश्री 'तोड़े सुताम', 'संताली', 'आदिवासी', 'अरमान', 'शिकार किसकू' 'भागवत मुर्मू' ठाकुर, एस० डी० बेसरा, 'श्याम' आदि की सैकड़ों कहानियां समय-समय पर प्रकाश में आती रही हैं। इन पंक्तियों के लेखक की अनेक मौलिक और अनुदित कहानियां अब तक प्रकाशित हुई हैं। हां, पुस्तकों के रूप में अधिक कहानी-संग्रह अब तक प्रकाशित नहीं हो सके हैं। 1952 ई० में 'अरमान' लिखित छः कहानियों का एक संग्रह 'कुकमू' (स्वप्न) के नाम से प्रकाशित हुआ है। फिर इन पंक्तियों के लेखक की पांच कहानियां 'बुल मुण्डा' (पियक्कड़) नाम की पुस्तक में 1959 ई० में प्रकाश में आई। पहले संग्रह में समाज सुधार संबंधी कहानियां हैं, दूसरे में नशाखोरी की बुराइयां और उससे चेतावनी संबंधी। संताली

के दो अन्य कहानी-संग्रह श्री एन० बी० के सौरेन-संपादित 'गाथाव माला' और श्री टी० के० रापाज-लिखित 'आराक् प्यालापुर' (लाल प्यालापुर) हैं। प्यालापुर संताल परगने का वह ऐतिहासिक स्थान है जहां 1855 ई० में संताल-विद्रोहियों ने अंग्रेज शासकों से लोहा लिया था।

उपन्यास के रूप में श्री आर० कार्स्टेयर्स-लिखित 'हाड़माज विलेज' (अंग्रेजी का, अनुवाद 'हाड़मावक् आतो' (हाड़मा का गांव) के नाम से 1946 ई० में संताली में प्रकाशित हुआ है जिसके अनुवादक हैं श्री आर० आर० के रापाज। उक्त संताल-विद्रोह (1855-56) की ऐतिहासिक पृष्टभूमि में लिखित इस पुस्तक में संताल परगना जिले (बिहार) में संताल लोगों के प्रवेश के समय की परिस्थितियों की झलकियां हैं हैं जिनमें काल्पनिकता के पुट कम नहीं हैं। मौलिक उपन्यास इस भाषा में अब तक तो नहीं हैं, परन्तु श्री नुनूक सोरेन-लिखित 'मुहिला चेचेत् दाइ' (अध्यापिका मुहिला)' 'गाड़वान रेन कोड़ा' (गाड़ीवान का लड़का), 'आपा-बारे कुसी बापला' (बाप—भाई की मर्जी पर हुआ विवाह) आदि लंबी-लंबी कहानियां इधर पुस्तकाकार प्रकाशित हुई है जिन्हें उक्त लेखक ने 'जुड़ासी कहानी' के नाम से उपन्यास का पर्याय बताने का प्रयास किया है। यों, सच कहा जाय तो, ये सारी रचनायें लंबी-लंबी कहानियां ही हैं, उपन्यास नहीं।

(ग) **नाटक** : नाटक लिखने और खेलने की प्रवृत्ति संताल लोगों में, अन्यान्य लोगों की तरह, कम नहीं देखी जा रही है। फलतः छोटी-छोटी नाटिकाओं का प्रकाशन तो यदा-कदा पत्र-पत्रिकाओं में होता ही रहा है श्री रघुनाथ मूर्मू-लिखित 'बिन्दू-चांदान' '(1948) ई०) और 'खेरवाड़ वीर' (1952 ई०), 'अरमान' जी-लिखित 'अकिला अरसी' (अक्ल-आईना, 1958 ई०), श्री लुदाई सोरेन-लिखित 'टुडू कोड़ा मान्दाड़ियां, (मादरवादक टुडु युवक) 1960 ई०, 'यश्याम' जी-लिखित 'आले-आतो' (हमारा गांव, 1957 ई०) और 'मानागाड़ मांझी' (मानगढ़ का प्रधान, 1966 ई०) श्री जोसो सांवताल-लिखित 'झारा बुरू घाट रे' (झारा पहाड़ी की घाटी में, 1973 ई०) आदि कुछ नाटक पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुए हैं। इनमें से 'टुडू कोड़ा मान्दाड़िया' और 'झारा बुरू घाट रे' काव्य-रूपक हैं। 'बिन्दू-चांदना, 'खेरवाड़ वीर' 'टुडू कोड़ा मान्दाड़िया' और 'मानगाड़ मांझी' संतालों की सांस्कृतिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। अन्यान्य नाटक उनकी सामाजकि समस्याओ पर हैं।

(घ) **अन्यान्य साहित्य** : पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कतिपय राष्ट्रीय नेताओं और समाज-सेवकों की छोटी-छोटी जीवनियों के अतिरिक्त पुस्तकों के रूप में इन पंक्तियों के लेखक-लिखित 'महात्मा गान्धी' (1951 ई०), श्री चित्तू टुडू-लिखित 'डा० राजेन्द्र प्रसाद,' 'संताली' जी-लिखित 'मानोतान ठक्करबापा' आदि संताली में प्रकाशित जीविनियां हैं। परन्तु, निबन्ध, समीक्षा, रम्य रचना आदि साहित्य की अन्यान्य विधाओं की रचनाओं का प्रकाशन, भाषा में पुस्तकों के रूप में अब तक नगण्य हुआ है।

(3) पत्र-पत्रिकाएं

किसी भी भाषा के विकास में पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका महत्वपूर्ण हुआ करती हैं। और यह बात संताली के संबंध में भी पूर्णतः घटती है। इस भाषा की प्रथम पत्रिका 'पेड़ा होड़' (अतिथि) का प्रकाशन सर्वप्रथम, संभवतः 1898 ई० में हुआ था। फिर, 'मारसालतावोन' (हमारा प्रकाश, 1945 ई०), और 'ढारवाक्' (सूचना) का प्रकाशन हुआ। परन्तु, ये सारी पत्रिकाएं ईसाई मिशनरियों द्वारा प्रकाशित होतीं रहीं हैं और मुख्यतः उनके धार्मिक विषयों से ही संबंधित रहीं है। अतः भाषा-साहित्य के विकास में इन पत्रिकाओं का अधिक हाथ नहीं रहा है। सच पूछें तो, संताली भाषा-साहित्य के विकास में बिहार-सरकार के सूचना एवं जनसंपर्क विभाग द्वारा प्रकाशित और इन पंक्तियों के लेखक द्वारा संपादित साप्ताहिक 'होड़-सोम्वाद' ने नींव के पत्थर का काम किया है और उसके भवन-निर्माण में हाथ बंटाता रहा है। यह पत्र देवघर (सं० पं० मे 1947 ई०) से प्रकाशित होता आ रहा है और इस भाषा का सर्व-प्रथम साप्ताहिक समाचार-विचार-पत्र है। इसे अब तक सैकड़ों संताली साहित्यकारों को प्रकाश में लाने का श्रेय प्राप्त है। कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के विकास में 'सरस्वती' का जो अवदान है, संताली साहित्य के विकास में 'होड़-सोम्वाद' का भी वही है।

एक दूसरी पत्रिका, पश्चिम बंगाल-सरकार द्वारा प्रकाशित, 'पछिम बंगला' (पाक्षिक 1953 ई०, कलकत्ता) का योगदान भी इस भाषा साहित्य के विकास म रहा है। इसी प्रकार 'सुसार गांवता', पुरुलिया (प० बं०) द्वारा प्रकाशित 'सुसार डाहार' (मासिक, 1974 ई०), पुरुलिया, (प० बं०) से ही प्रकाशित "तेतरे' (मासिक 1975 ई०) तथा 'संताली लिटरेरी एण्ड कल्चरल सोसायटी' (कलकत्ता) द्वारा प्रकाशित मासिक 'जुग सिरिजोल' (1971 ई०) आदि में भी इस भाषा की साहित्यिक रचनाएं यदा-कदा प्रकाशित होतीं रही हैं। 'होड़-सोम्वाद' नागरी लिपि में प्रकाशित होता है। 'पछिम बंगला' और 'तेतरे' बंगला लिपि में तथा 'जुग सिरिजोल' रोमन लिपि में। मिशनरियों द्वारा प्रकाशित पत्रिकाएं भी रोमन लिपि म हैं।

(4) व्याकरण और शब्द कोष

जैसा कि कहा जा चुका है, संताली भाषा को लिखित रूप सबसे पहले श्री जर्मिया फिलिप्स लिखित 'एन इण्ट्रोडक्शन टु दि संताली लैंग्वेज' (1952 ई०) नाम की पुस्तक द्वारा प्राप्त हुआ है। उस पुस्तक में संताली का व्याकरण और संक्षिप्त शब्द-कोष है। और, यदि व्याकरण और शब्द-कोष को भी साहित्य के अंतर्गत ले लिया जाय तो, उसके बाद, श्री ई० एल० पक्सले-

लिखित 'ए वोकेब्युलरी ग्राफ दि संताली लैंग्वेज (1868 ई०) श्री एल० ग्रो० स्क्रेफसरुड-लिखित 'ए ग्रामर ग्राफ दि संताल लैंग्वेज' (1873 ई०), श्री ए० कैम्पवेले-लिखित 'ए संताली-इंगलिश एण्ड इंग्लिश-संताली डिक्शनरी', (1899 ई०), श्री पी० ओ० वोडिंग-लिखित 'ए संताली ग्रामर फार दि विगिनर्स' 'मैटिरियल्स फार ए संताली ग्रामर' (भाग 1-2, 1929-30) ग्रौर 'ए संताल डिक्शनरी', 'जिल्द 1-5, 1929-36), श्री ग्रार० एम० मैकपेल-लिखित 'एन इण्ट्रोडक्शन टु संताली' (1947) श्री ग्रार० रोशनलंद-लिखित 'होड़ रोड रेयाक् वेयाक़ोरो' (1949 ई०), इन पंक्तियों के लेखक-लिखित 'संताली प्रवेशिका' (भाग 1-2, 1951 ई०) ग्रौर संताली प्रकाशिका' (1964 ई०), श्री पृथ्वीचन्द किसकू ग्रौर श्री केवलराम सोरेन-लिखित 'हिन्दी-संताली-कोष' (1951 ई०), श्री भागवत मुर्मू 'ठाकुर'-लिखित 'सुबोध संताली-शिक्षक' (1970, ई०) ग्रादि का प्रकाशन उल्लेखनीय है। इनमें से 'होड़ रोड़ रेयाक् वेयाकोरोज़' पूर्णतः संताली में है, शेष सभी ग्रंग्रेजीया-संताली या हिन्दी-संताल में है। जिनसे, व्यावहारिक रूप से ग्रंग्रेजी या हिन्दी भाषा की श्रीवृद्धि हुई है।

उपसंहार

स्पष्ट है कि संताली, जोकि कभी एक बोली के रूप में इस देश में प्रचलित थी, ग्रब एक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई है ग्रौर इसके साहित्य का विकास तेजी से हो रहा है। विहार ग्रौर पश्चिम वंगाल में इस भाषा को माध्यमिक विद्यालय परीक्षा तक एक ग्राधुनिक भारतीय भाषा के रूप में मान्यता प्राप्त है ग्रौर उसके लिये ग्रपेक्षित पाठ्य-पुस्तकों तक का प्रणयन भी हुग्रा है। श्री सेतचरण हांसदाक के साथ इन पंक्तियों के लेखक द्वारा लिखित ग्रौर संपादित 'संताली साहित्य बिहार में माध्यमिक विद्यालय परीक्षा के लिये स्वीकृत एक गद्य-पद्य-संग्रह है। प्राथमिक कक्षाग्रों के लिये भी संताली की पाठ्य-पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं। यही नहीं विहार के रांची, भागलपुर ग्रौर मिथिला विश्वविद्यालयों में भी, एक भारतीय भाषा के रूप में इस भाषा को मान्यता प्रदान की जाने की बात सुनी जा रही है। साथ ही, बिहार के राज्यपाल की ग्रध्यक्षता में गठित 'साहित्यकार कलाकार-कल्याण पर्षद् (पटना) ग्रौर राज्य सरकार के कल्याण-विभाग के ग्रंतर्गत गठित 'ग्रादिवासी सांस्कृतिक परिषद् (पटना) द्वारा संताली पुस्तकों के प्रकाशन के लिये विभिन्न लेखकों को ग्रनुदान दिये जाने की व्यवस्था है तथा बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद (पटना) ग्रौर 'ग्रादिवासी-शोध-संस्थान, (रांची) द्वारा इस भाषा के लिये शोध-कार्य किये जाते हैं। हां, संताल-पहाड़ियां सेवा-मंडल (देवघर) भी संताली साहित्य के प्रणयन ग्रौर प्रकाशन में सम्यक् योगदान करता ग्रा रहा है।

इस प्रकार संताली भाषा-साहित्य का भविष्य उज्वलदीख रहा है। तथास्तु।

कैसी विचित्रता

उम्र पर्यन्त साथ रह कर भी
कुछ लोगों का परिचय
शीशे में पड़ी परछाई सा होता है
और एक झलक दिखाकर
ही कोई क्यों जाता बन
प्यारा मनमीता है।

पल पल क्षण हरदम
आकर टकराती रहती लहरें
फिर भी सिकता तट रहता रीता है

और एक लहर आकर
जाये छोड़ सीपी छोटा सा,
तट के माथे मानो
सुहागभरा टीका है।

क्यों नहीं सब कुछ
सीधा सादा निश्छल है
ओठों से निकले शब्दों
का अर्थ नहीं वह जो
हम सुनते हैं।

युग कहलाता पल है।
मौन मौन से शब्दों को
जोड़ जोड़ कर
कविता पा लेते थे
अब जो कुछ मिलता है,
लगता केवल
शब्दों का छल बल है।

नीड़ बना सकने का
मन लेकर
निकले चरण
लौट आये चल चल
धरती लगी केवल
गलियों का जंगल है।

क्रान्ति त्रिवेदी



पुस्तक परिचय

पुस्तक का नाम : रास्ते के बीच
लेखक : दिविक रमेश
प्रकाशक : पराग प्रकाशन शाहदरा दिल्ली

आम आदमी के हक में

'रास्ते के बीच' कवि 'दिविक' का पहला कविता संग्रह है। 51 कविताओं के इस संग्रह में विविधता के रंग पाठक का मन बांध लेते हैं। कवि छोटी-बड़ी पत्रिकाओं में एक अर्से से छपाता रहा है। कवि के लिये कविता एक निर्णय, निर्णय की भूमिका नहीं? उसको कविता एक लगाम है कवि के लिये भी दूसरों पर उसकी कविता एक फौलादी मुक्का है कभी शौक पर, कभी भूस पर। उसकी कविता बदनाम औरत की तरह सरेआम विकने के काबिल है।

'एक शक्ति विराट' में कवि की कल्पना का कैनवास भौगोलिक सीमाओं को लांघ कर आदमी का आदमी से नाता जोड़ती है कवि का आम आदमी के प्रति बहुत गहरा विश्वास है। उसके लिये 'युद्ध' जमीन, आसमान या समुद्र का नहीं आदमी का है।' युद्ध चेहरे से नकाब उतारने की प्रक्रिया है। वह रहस्यमय चेहरा ढोंगी तथा खूब जाना-पहचाना है। ऊंच-नीच को न मानते हुए कवि सबको मनुष्य मानता है। वे 'उनके' ईश्वर की तरह हर जगह हर वक्त है।' 'सरहदों के मायनी बदल गए हैं' और वह एक विराट शक्ति को सत्य मानता है। अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध कवि विलयिम वर्डसवर्थ ने कहा था—

क्या मेरे पास उदास होने का कारण नहीं
आदमी ने आदमी के साथ क्या नहीं किया।

कुछ ऐसी ही बात 'एक युद्ध' कविता में कही गई है—'बारूद की खूबसूरत झालरें/आदमी का जिस्म नोंच रही है... बहुत साल बीते कि /असफलताओं के बीच/उसने/आत्महत्या करना ही/मान लिया बेहतर/ताकि/प्रेत बन/कितने ही लोगों के सिर चढ़/नाच सके/नचा सके दुनिया को/आज भी अपने इशारे पर/.... पर कहां खुली/आंधों पर बंधी पट्टी/यह दुनिया/जाने कब से अंधी है/जाने कब तक रहेगी?.. तब इज़राइल हो या अरब/पाकिस्तान हो या भारत/कोई फ़र्क नहीं पड़ता/जब वियतनाम/एक शौक हो गया हो।'

शहर कहीं एक जंगल है, (डा० श्याम सिंह शशि के 'शिला-नगर' की याद दिलाता है)। कहीं 'एक परिचित' जहां हर एक के भीतर एक अजीब नंगापन छटपटाता है। आश्वासनों की लाशें किसे नहीं ढोनी पड़ती। जिन्हें ढोना पड़ता है फर्ज उन्हीं के लिये होता है। अंत में एक मार्मिक चित्र उभर कर सामने आता है—'उधर एक कोने में खड़ी/कोई/चुप/खुली आंखें/दम तोड़ती है/ बुझकर और अधिक /गहराई खोजती है/प्रश्न, शब्द, अर्थ/सभी।'

'दूसरे किनारे से' कवि की साजिश' यही है कि वह लोक से हटकर चला है, हर अंत में एक शुरूआत ढूंढ निकाली है। इसलिये वह किसी खूंटे से नहीं बंधा बल्कि चौराहे के बीच टंगा है। 'अस्तित्व / की खोज' 'सुनहरी सभ्यता' पर करारी चोट है। कुछ कविताएं 'आज के जीवन के बीच से उठकर उस गहरी वास्तविक चिंता को व्यक्त करती है जिनका संबंध मानवमात्र के जीने मरने से हो उठा है....

मैंने देखे हैं
अभिशप्त लोग
खेतों और मिलों में
ही नहीं
इस देश के हर दूसरे मकान में/
जिन्हें अपनी परिभाषा तक से नावाकिफ़ रखा गया है
वे नहीं जानते
जीने और मरने के भेद
जुए के खिलाफ नारा लगाने वाला
उनका प्रतिनिधि
कितना बड़ा मजाक करता है
कि उन्हीं की जिंदगी से जुआ खेलता है।

मरी हुई सभ्यता को भोगते हुए इतने करीब आ गए हैं कि वे वक्त के आवरण पर धब्बे बन गए हैं। जिन्दगी का मोह खुद मौत होकर रह गया है जबकि लोग मौत की बात करते हैं। आदमी गहरे घायल होकर भी नहीं मर पाता क्योंकि 'हर क्षण अर्थ रखता है।'

इस संग्रह की मिनी कविताएं अन्य कविताओं की अपेक्षा शायद कमजोर लगती हैं। कुछ रुमानी कविताओं ने 'अनौप-चारिक औपचारिकता' निभाई है। यदि ऐसी कविताएं निकाल दी जाती तो संग्रह बेहतर होता।

'दूसरे किनारे से अस्तित्व की खोज गुमशुदा आदमी की कविता', कहीं गलत', 'अपनी भूमिका से', 'शहर मेरा', मैं' 'आत्म-वक्तव्य', 'समर्पण खूबसूरत आंखों को, 'ये लोग', 'अर्थ रखता है जिंदगी का हर क्षण', 'अपने लिए', 'उत्तरदायी उत्तराधि-कारी के नाम' तथा 'रास्ते के बीच' एक आधुनिक आदमी' उल्लेखनीय हैं। नए-नए बिम्ब उभर कर सामने आते हैं। मसलन 'सवालों का कुहासा', 'संदेहों का पुल', 'समय लावारिस बच्चे सा' या 'जादुई सुरंग-सा', अधकटी जबानों पर कर्फ्यू' 'बेहूदा शाम— उभरा हुआ ट्यूमर' 'पेट का क्षितिज' आदि।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है इन कविताओं में भाषा की सहजता के अतिरिक्त ताजगी, अपनापन मानवीय प्रति-बद्धता है। सुप्रसिद्ध कवि शमशेर बहादुर सिंह के शब्दों में— 'इस संग्रह से नयी पीढ़ी के मन और मस्तिष्क को एक ऐसी झांकी मिलती है जो सच्ची और अर्थपूर्ण है।' आशा की जाती कि दिविक यह 'सच्चाई' तथा 'अर्थपूर्णता' बनाए रखेगा।

—केदारनाथ कोमल

2. झुरमुट

लेखिका --- इन्दु जैन

वितरक---हिन्दी बुक सेन्टर। मूल्य ९ रु०

छोटे-बड़े बाइस निबन्धों में लेखिका ने जीवन की गम्भीर व सामान्य, हल्की-फुल्की तथा मन छू जाने वाली घटनाओं का यथातथ्य रूप से वर्णन किया है। प्रस्तुतीकरण की स्वाभाविकता के कारण घटनाओं तथा उनके पात्रों के साथ साधारणीकरण बहुत सुलभ हो जाता है।

निबन्धों को तीन विभागों में रखा गया है—तीन शीर्षकों के अन्तर्गत—अपनी कहानी, उसकी कहानी और सबकी कहानी।

पहला भाग बहुत कुछ संस्मरणात्मक होते हुए आप बीती सुनाता है। एक औसत भारतीय कन्या का जीवन, यौवन के मीठे थपेड़ों से तन-मन बुद्धि का धीरे-धीरे विकसित होना और अन्ततोगत्वा जीवन के कटु सत्यों का सामना करना, दहेज सामाजिक बन्धनों का आघात और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रति सजगता। लगता है, हम सभी के घरों में झांककर फिर इसे लिखा गया है।

'उसकी कहानी, में कल्पना प्रधान लघु कथाओं का संग्रह है 'गिरिजा की प्रतीक्षा' में स्त्री के अन्तर्मन का द्वन्द्व, 'टकराहट' में विदेशी बहुरानी की समस्याएं, और 'खाइयां' में ग्राम से नगर के स्कूल के होस्टल में आए बालक के अनुभव का मार्मिक चित्रण है।

'सबकी कहानी' में व्यक्तिगत सीमाएं लांघकर समष्टिगत समस्याओं की चर्चा में बाल रंगवाने से लेकर, स्त्रीस्वातन्त्र्य और घर चलाने में मितव्ययता तक सभी विषयों की चर्चा है। 'साड़ी कौन सी पहनूं?' की विकट समस्या में पड़ी लेखिका को देख जहां एक और हंसी रोके नहीं रुकती वहां दूसरी और 'मुखौटा रिवाज का' में रिवाज के बहाने किए गए अत्याचार को देख आंखें डबडबा जाती हैं। जैसा बच्चनजी ने भूमिका में लिखा है स्थितियां तो वास्तविक मालूम ही होती हैं, शायद व्यक्ति भी वास्तविक हों। 'यहीं लेखिका की विजय होती है। विषय के अनुरूप आजकल व्यवहृत अनेक शब्दों का प्रयोग व तकनीकी शब्दों का समावेश इस पुस्तक को मूलरूप से समाज के समृद्ध व आधुनिक मध्य-उच्चवर्ग का प्रतिनिधित्व बनाता है। प्राय: सभी निबन्धों के नाम के अनुकूल एक लालित्य है, भाषा में एक प्रवाह है जो हृदय में हवा का एक नया झोखा सा ले आता है, दिमाग तरोताजा हो जाता है और हमारी चिन्तन शक्ति चारों और फैले जीवन के प्रति अस्मात सजग हो जाती है। स्वयं लेखिका के शब्दों में 'वक्त हम पर हावी हो जाए तो हम इन्सान क्या?

सबसे बड़ी बात—झुरमुट में एक स्वीकार की भंगिया है। वह स्वीकार 'हथियार डालने' जैसा भी नहीं। खुली आंखों काला-सफेद देखना और फिर उसे अपने जीवट, पारस्परिक समझदारी और सौहार्द से अनुकूल बना लेगा। खुद परिस्थितियों के साथ ढल जाना नहीं परिस्थितियों पर अपनी लगाम रख पाना। खास बात यह है कि यह सब आदर्श के चश्मे से नहीं देखा गया। देला-चमेली के झाड़ू, कैक्टस के झंखाड़ और ऊंचे आम या बसवट में एक साथ मिलकर फलने फूलने की जो शक्ति हरियाली, फूल और काटों के गुच्छे को झुरमुट की संज्ञा दे जाती है, वही इस पुस्तक को एक लचीलापन प्रदान करती है — झंझा में न टूटने वाली सामर्थ्य? इन्दु जैन के भीतर की कवियित्री ने जिगर मुरादाबादी के शब्दों को सही रूप से आत्मसात किया है और जनक जननी को पुस्तक समर्पित करते हुए उन्हीं के शब्दों को उद्धृत किया है—

कभी शाखो शब्जओं वर्ग पर
कभी गुंचओं गुलेखार पर
मैं चमन में चाहे जहां रहूं
मेरा हक है फ़सले बहार पर।

लेखिका के निबन्ध इसका साक्षी हैं कि उसने इन पंक्तियों को जीवन में तार लिया है।

एक बात और। आजकल चारों ओर आधुनिकता के नाम पर लेखन में एक अटपटापन दिखाई देता है। नई बात, नए ढंग से कहने का लोभ जो अक्सर लेखक और पाठक के भीतर एक खाई खोद जाता है। लेखिका इस मोह से पूरी तरह उबर गई है।" एक निजी कहानी का शिल्प थोड़ा चौंकाता है—उसमें एक अस्पष्टता है लेकिन लेखिका ने उसे पहले ही 'निजी' कह दिया है इसलिये यह अस्पष्टता भी क्षम्य हो जाती है। और फिर पूरा संदर्भ न समझ जाते हुए भी इतना तो मालूम हो ही जाता है कि एक पीड़ा है जो समय और व्यक्ति के आयामों में आगे-पीछे चलती हुई मन को साल जाती है।

नई सायास विधाओं के जंगल में 'झुरमुट' की ताजी हवा के इस सहज झोंके का स्वागत है। लेखिका की नई कृतियों की प्रतीक्षा रहेगी।

सुन्दरी सिद्धार्थ

लेखक परिचय

1- बशीर अहमद मयूख
श्लान, विज्ञान नगर,
कोटा-5

2- डा० शचीरानी गुर्टू
49-बी०, हैवलाक स्केयर,
गोल मार्किट, नई दिल्ली-11001,

3- सुधीर शाह
परमेश्वरी भवन,
अल्मोड़ा, उ० प्र०

4- डा० गंगा प्रसाद विमल
26/53 रामजस रोड
करौल बाग
नई दिल्ली-11005

5- जोगेन्द्र सक्सेना
16/7691 न्यू मार्किट
नई रोहतक रोड
नई दिल्ली-110005

6- श्री खण्डविल्ली **सूर्यनारायण** शास्त्री
हिन्दी विभागाध्यक्ष
पी० ए० एस० कालेज **पेदानान्दीपाद**
जिला गुन्टूर
आन्ध्र प्रदेश

7- नरेन्द्र भट्ट,
शीतला मार्ग,
जीरापुर राजगढ़
मध्य प्रदेश,

8- केदार नाथ कोमल
ई० 97, सरोजनी नगर,
नई दिल्ली,

9- डा० कुन्तल गोयल
मनीषा भवन, न्यू कालोनी,
अम्बिकापुर (सरगुजा)
मध्य प्रदेश

10- विद्यादत्त हेमदानी,
रोड न० 7 मकान न० 12
एण्ड्रयूजगंज, नई दिल्ली-110049

11- भिक्षु कौण्डिल्य
2 ग्यार हाल,
दिल्ली विश्व विद्यालय
दिल्ली-7

12- डोमन साहू समीर
सम्पादक, होड़ सोम्वाद,
वैद्यानाथ देवघर
स० प० पि०-814112

13- क्रान्ति त्रिवेदी
सी०-III-17 डा० जाकिर हुसैन मार्ग,
नई दिल्ली-3

14- सुन्दरी सिद्धार्थ
संस्कृत विभाग
इन्द्र प्रस्थ कालेज
श्यामा नाथ मार्ग,
दिल्ली

सदस्यता फार्म

निदेशक (हिन्दी प्रकाशन)
शिक्षा, समाज कल्याण तथा संस्कृति मंत्रालय
(शिक्षा विभाग),
सी०-102, शास्त्री भवन,
नई दिल्ली ।

महोदय,

मैं श्री/श्रीमती/कुमारी.................................. वर्ष.....
के लिये संस्कृति का वार्षिक ग्राहक बनना चाहता/चाहती हूं । वार्षिक चन्दा (चार रुपए) मनीआर्डर द्वारा
भेजा जा रहा है / नकद दिया जा रहा है । मेरा पता निम्नलिखित है ।

नाम तथा पता

एक प्रति का--एक रुपया ......

वार्षिक--चार रुपए ......

दिनांक ......

टिप्पणी :--यदि आप 'संस्कृति' पत्रिका के ग्राहक हैं और आपने अपना चन्दा नहीं भेजा है तो कृपया जल्द से जल्द चन्दा भेजने की कृपा करें ।

मन्त्रालय की अन्य हिन्दी पत्रिका

शिक्षा विवेचन

●यह पत्रिका प्रत्येक वर्ष जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्तूबर में त्रैमासिक रूप में छापी जाती है।

●इस पत्रिका में, इस मन्त्रालय की अंग्रेजी की पत्रिका 'दि एजूकेशन क्वार्टरली' में छपे लेखों का हिन्दी अनुवाद छापा जाता है। इसमें शिक्षा सम्बन्धी विचारों, समस्याओं और सामाजिक विषयों की व्यवस्था होती है। पत्रिका में शैक्षिक रुचि के महत्वपूर्ण प्रश्नों और भारत तथा विदेशों में हो रही शैक्षिक और युवा कल्याण की गतिविधियों और प्रयोगों की जानकारी देने का प्रयास किया जाता है। लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के अपने होते हैं और यह आवश्यक नहीं कि वे सरकार के विचारों और दृष्टिकोण के अनुरूप हों।

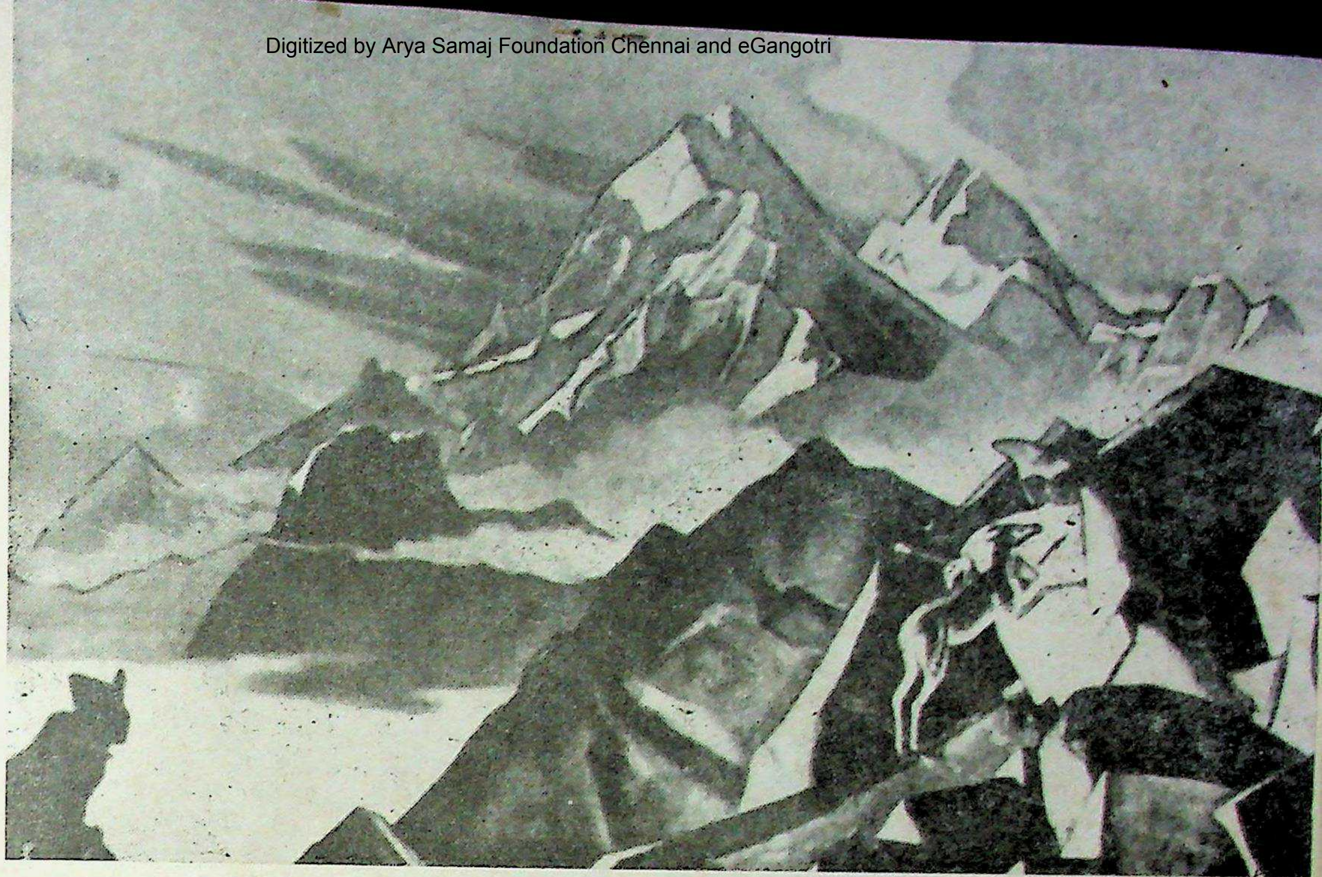
●इस पत्रिका की बिक्री के संबंध में पूछ-ताछ और वार्षिक चन्दा व मनीआर्डर आदि प्रकाशन प्रबंधक, भारत सरकार, सिविल लाइन्स, दिल्ली-54 को भेजा जाना चाहिए। इसके लिए निदेशक (हिन्दी प्रकाशन), शिक्षा, समाज कल्याण तथा संस्कृति मंत्रालय, 102-सी० शास्त्री भवन, नई दिल्ली को भी लिखा जा सकता है।

●विज्ञापनों आदि के बारे में जानकारी, विज्ञापन एजेन्ट, भारत सरकार प्रकाशन 5ए, 10 अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली से मिल सकती है।

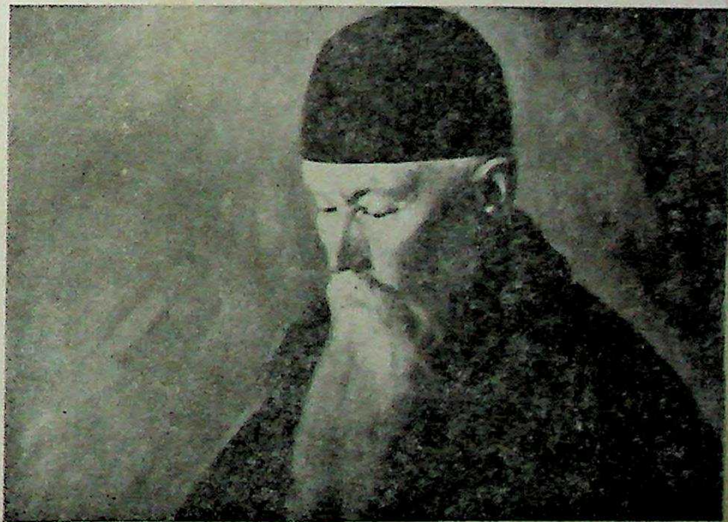
	भारत में	विदेशों में
मूल्य एक प्रति	4.50 रुपये	0.53 पौंड या 1 डालर 62 सेंट्स
वार्षिक चन्दा	18.00 रुपये	2.10 पौंड या 9 डालर 4 सेंट्स

रजिस्टर्ड संख्या 6724/59

प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, फरीदाबाद द्वारा मुद्रित, 1978



संस्कृति



निकोलस रोरिक

वर्ष 20 : अंक 4

61

एक रुपया

संस्कृति--त्रैमासक पत्रिका हेमन्त, ग्रीष्म, पावस, शरत् (जनवरी, अप्रैल, जुलाई व अक्तूबर) को प्रकाशित होती है। इसका प्रत्येक अंक विशेषरूप से सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर केन्द्रित होता है तथा इसके लेख विचारोत्तेजक, खोजपूर्ण तथा भावपूर्ण होते हैं। इसके लेखों में देश-विदेशों की सांस्कृतिक परियोजनाओं, कार्य-कलापों तथा प्रयोगों सम्बन्धी अधिकृत सूचना दी जाती है। इसकी सामग्री वस्तुनिष्ठ व पूर्णरूपेण निष्पक्ष होती है। साथ ही इसमें पुस्तकों की समीक्षा भी प्रकाशित की जाती है।

संस्कृति के लिये लेख सम्पादक, 'संस्कृति', शिक्षा, समाज कल्याण और संस्कृति मंत्रालय, 102-सी० खंड, शास्त्री भवन, नई दिल्ली को भेजे जाएं।

संस्कृति का वार्षिक चन्दा मनीआर्डर द्वारा निदेशक (हिन्दी प्रकाशन), शिक्षा, समाज कल्याण और संस्कृति मंत्रालय, 102-सी० खंड, शास्त्री भवन, नई दिल्ली के पास भेजा जाए। संस्कृति की प्रतियों के विषय में पूछ-ताछ भी इसी पते पर की जाए।

संस्कृति में मौलिक व अप्रकाशित लेख छपते हैं, जिनका कापीराइट शिक्षा, समाज कल्याण तथा संस्कृति मंत्रालय के पास होता है। इसमें प्रकाशित लेख सम्पादक की अनुमति पाये बिना अन्यत्र प्रकाशित नहीं किये जा सकते। लेखक यदि इसमें छपे अपने लेख को अन्यत्र छपाना चाहें तो उन्हें पूर्व अनुमति प्राप्त करनी चाहिए।

यह आवश्यक नहीं कि लेखक द्वारा प्रतिपादित विचार सरकार के दृष्टिकोण को ही व्यक्त करते हों।



संस्कृति

प्राच्या नव्या विलसतुतरां संस्कृतिःभारतीया

हमारा आगामी अंक

इसमें वैदिक संस्कृति के विश्लेषण से लेकर इस्लाम और सूफी धर्म साधना, भारतीय संतों और सूफियों की मानवता और संस्कृति में उनके योगदान पर एक विशेष रचना दी गई है। सूरपंचशती के अवसर पर सूरदास संबंधी लेख भी इसमें सम्मिलित किया गया है। इसी प्रकार की विभिन्न आकर्षक तथा रुचिकर रचनाएं पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हैं, जिसकी वे उत्सुकता से प्रतीक्षा में होगें, ऐसी हमें आशा है।

वर्ष 20 : अंक 4
(अक्तूबर से दिसम्बर 1978)
वार्षिक चन्दा—चार रुपये

एक प्रति—एक रुपए

इस अंक में



पत्रावली

छीजता मांडव

मांडव/विज्ञापनों के माध्यम से एक अच्छे पर्यटक केन्द्र के रूप में प्रतिध्वनित किया जाने वाला मांडवगढ़ (जिला धार, म०प्र०) सज्जित रेस्ट हाउस, पर्यटन कार्यालय, गाईड एवं आवागमन सुविधा से पूर्ण है।

जहाजमहल, हिंडोला महल, रानी रूपमती का महल, बाज बहादुर का महल एवं मंदिर मस्जिद के अतिरिक्त चालीस अन्य दर्शनीय स्थल हैं। सभी स्थलों पर फर्श के नाम पर टुकड़े टुकड़े साधारण पत्थर जड़ा है। भित्ती चित्र विहीन दीवारें हैं। स्थापत्य की कोई विशिष्टता नहीं। महल के रूप में परिभाषित शयनकक्ष एवं अन्य स्थल पर द्वार के नाम पर पत्थर की चौखटें हैं। 14वीं सदी की गयासुद्दानी हिन्दू-मुगल मिश्रित शैली अपनी महानता कहीं भी प्रतिबिम्बित नहीं करती।

पानी से घिरे जहाज महल व हिंडोला महल के कुंडों का पानी गर्मी में सूख जाता है। मूंज और भोज तालाब में कीचड़ झांकने लगती है, तब मांडव का भद्दापन और बढ़ जाता है।

मांडव में घुसते ही पहाड़ को काटकर जलधारा का नदी में गिरना व पहाड़ों को छूते हुए बादलों के पीछे से सूर्योदय दृश्य महानगरीय आदमी को मांडव की उत्कृष्टता बताते हैं। संकरे घुमावदार दरवाजों की श्रंखला पार करता हुआ नया बस ड्राइवर हर दूसरे मिनट गाड़ी को रिवर्स करता रहता है। पर फिर एक के बाद एक खंडहरी पर्यटन स्थल दर्शकीय उबकाहट बढ़ाते जाते हैं, जिसे अवर्णनीय सूर्यास्त के माध्यम से कम नहीं किया जा सकता।

मालवाई होने से मांडव के प्रति मेरा भावनात्मक लगाव है। सैर-सपाटों में प्रतिवर्ष मांडव हो आती हूं। मांडव निवासियों की जीवन-शैली कस्बाई किस्म की है, इतनी आकर्षक नहीं। आकर्षक है 14-15वीं सदी का संरक्षित मांडव।

यदि मांडव का इसी तरह संरक्षण भर किया जाता रहा तो ये स्थल अपनी पर्यटक-आकर्षकता खोते रहेंगे। एवं कालांतर में मांडव पत्थरों से चुने गए खंडहरों की जमीन से ज्यादा नहीं रहेगा। इतिहास को किंवदंती बनने से रोककर विवादास्पद नवीन तथ्यों को पर्यटकों के सामने लाया जाना चाहिए ताकि स्थल का ऐतिहासिक आकर्षण बढ़े। मांडव को अधिक आकर्षक बनाने के लिए—

1. उस काल-क्षेत्र की उपलब्ध अन्य वस्तुओं को तथा आधुनिक/मध्ययुगीन चित्रों को स्थायी रूप से (अलग से उल्लेखित कर) इन महलों से संग्रहित किया जाए।

2. जर्जर एवं टूटी दीवारों को समरूपी पत्थर एवं रचना शैली से पूर्ण किया जावे। (अनुमानित व्यय दो लाख रुपये)

3. मटमैली दीवारों का नंगापन मध्य युगीन रंग शैली से छुपाया जावे। (व्यय एक लाख रुपये)

4. गर्मी के दिनों में कुंडों में अतिरिक्त पानी, सफाई आदि की व्यवस्था की जावे। व्यय 10 हजार रुपये प्रतिवर्ष।

5. महलों के आसपास के खाली क्षेत्रों में आधुनिक/मध्ययुगीन शैली के बगीचों का निर्माण एवं व्यवस्था की जावे। व्यय तीस हजार रुपये प्रतिवर्ष।

6. रानी रूपमती के महल पर उचित दूरबीन लगा कर, दूरस्थ नर्मदा नदी का दर्शन सुलभ करवाया जावे, ताकि ऐतिहासिकता प्रामाणिक बन सके।

हंसा डी० पी०
द्वारा श्रीमान महेन्द्रसिंह जी जैन
रेस्ट हाउस के सामने
पो० मेघनगर
जिला—झाबुआ
(म० प्र०)

सांस्कृतिक विचारों की प्रतिनिधि
त्रैमासिक पत्रिका

(ग्रीष्म, पावस, शरत् और हेमन्त में प्रकाशित)

नोट——पाठक अपनी प्रतिक्रिया, सुझाव भी भेज सकते हैं, हम उनका स्वागत करेंगे। संक्षिप्त में अपने रोचक और मौलिक विचार, सस्मरण, यात्रा वर्णन भेजिए जिसमें देश-विदेश की संस्कृति की झांकी मिलती हो।

पत्र व्यवहार का पता
सम्पादक— 'संस्कृति'
शिक्षा, समाज कल्याण और संस्कृति मन्त्रालय
102-सी, शास्त्री भवन
डा० राजेन्द्र प्रसाद मार्ग,
नई दिल्ली। टेलीफोन नं० 384151

सम्पादकीय

भारतीय संस्कृति की सार्वभौमिकता सिद्ध हो चुकी है। प्राचीन काल से अब तक इस संस्कृति में न जाने किन किन अन्य संस्कृतियों का समावेश हुआ और ये सब इसमें घुलमिल गईं— 'इसकी' हो गईं। यही कारण है कि प्राचीन काल की तरह आज भी भारतीय संस्कृति भारत की सीमाओं से भी बाहर एक प्रकार से पूरे विश्व में फैली और सबको उसने अपनी ओर आकर्षित किया। आज के युग में वसुधैव कुटुम्बकम् का आदर्श कुछ चरितार्थ होता हुआ सा प्रतीत होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि भारतीय संस्कृति में इतनी जीवन शक्ति है कि वह अन्य अनेक धर्म और संस्कृतियों को आत्मसात करने पर भी अपने सांस्कृतिक वैभव को अक्षुण्ण रख सकी है और विश्व को भी एक सशक्त आदर्श आधार प्रदान कर सकी है।

संस्कृति का आधार बड़ा विस्तृत है। इसमें मनुष्य जीवन के विभिन्न मानवीय गुणों के साथ साथ सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्रीय ऐतिहासिक और साहित्यिक सभी के सांस्कृतिक परिवेश की झांकी मिलती है।

एक प्रकार से संस्कृति अंग्रेजी शब्द कल्चर का पर्याय है, जिसकी व्युत्पत्ति लातिनी में 'कुलतुरा' नामक धातु से मानी जाती है। सुप्रसिद्ध विचारक फ्रांसिस बेकन ने सबसे पहले इस शब्द का प्रयोग 17वीं शताब्दी में किया था।

आक्सफोर्ड के अंग्रेजी भाषा कोश के अनुसार इस शब्द का अर्थ है—

'मस्तिष्क, अभिरुचियों, आचारों का प्रशिक्षण एवं परिष्कृति, उनके शिक्षित तथा परिष्कृत होने की अवस्था, सभ्यता का बौद्धिक पक्ष संसार में जो कुछ श्रेष्ठ, विज्ञापित और कथित हो चुका है उससे अपने आपको अवगत कराना।"

संस्कृति में दी गई रचनाएं इसी परिप्रेक्ष्य, परिवेश और पृष्ठ-भूमि को लिये होती हैं। इसमें सामाजिक ऐतिहासिक राष्ट्रीय और आत्मिक तथा आध्यात्मिक तत्वों का परिष्कृत रूप सामने आता है।

आशा है पूर्ववर्ती अंकों के समान इस अंक में भी अपनी तरह की कोई न कोई विशेषता सुविज्ञ पाठकों को मिलेगी। हम पाठकों से उनकी प्रतिक्रिया जानने को भी उत्सुक हैं, क्योंकि इससे हमें इसके स्वरूप को संवारने तथा उसे और अधिक परिष्कृत करने के लिये मार्गदर्शन मिलता है।

भारतीय संस्कृति का संकल्प

शिखर हिमालय सा उठना है
कण कण मचल रहा स्वदेश का, शिखर हिमालय सा उठना है ।

बलिदानों की झड़ी लगाकर
आजादी का गौरव पाया
तीन दशक से आगे बढ़कर
विश्व मंच पर नाम कमाया ।

'जन गण मन का गुंजा तराना, आगे सदा सदा बढ़ना है,
कण कण मचल रहा स्वदेश का, शिखर हिमालय सा उठना है ।

–2–

शुभ परम्परा सदा निभाकर
सुख का वैभव सदा बढ़ाना,
सबकी आत्माएं समान है
अध्यात्म भाव ही फैलाना ।

जन जन में गंगा की धारा, सुधा पान करते रहते हैं
कण कण मचल रहा स्वदेश का, शिखर हिमालय सा उठना है ।।

–3–

ऋषियों का संदेश सुनाकर
शिव शाश्वत सत्य सिखाना है,
वेद ज्ञान की ज्योति जगाकर
तमसा का भाव मिटाना है ।

जन जन में मंगल गान गुंजा, हर्ष प्यारसेही रहना है,
कण कण मचल रहा स्वदेश का, शिखर हिमालय सा उठना है ।।

–4–

भूखा कोई ना रह पाए
नंगा कोई ना मिल पाए,
सभी छाँव छप्पर के नीचे
सुख के सपने सदा सजाएं

जन जन की पीड़ा हर करके, आनन्द मग्न हो रहना है
कण कण मचल रहा स्वदेश का, शिखर हिमालय सा उठता है ।।

–5–

यदि भटक जाते हैं कभी जो
सही मार्ग पाते जाना है,
अन्यायों का मुंह मोड़ कर
दानव को मार भगाना है ।

जन जन की इस आजादी को, सदा बनाए ही रखना है
कण कण मचल रहा स्वदेश का, शिखर हिमालय सा उठना है ।।

पं० राम अवतार "अभिलाषी" एम० ए०

ओजस्विता एवं राष्ट्रीयता का लहराता समुद्र

दुरसा आढ़ा की कविताएं

डा० रमा कान्त शर्मा

राजस्थान की वसुंधरा वीरोत्पादिका के रूप में प्रख्यात है। जहां इस मरू प्रदेश ने रणभूमि में मान-मर्यादा और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए जूझने वाले नर-पुंगव पैदा किए वहां उनके यशोगान तथा उत्साह-वर्धन के लिए वीररस के सुप्रसिद्ध कवियों को भी जन्म दिया है। ओजस्वी कवि दुरसा आढ़ा इस दृष्टि से राजस्थानी साहित्य में अग्रगण्य है। इनकी वीररसात्मक रचनाएं उसी रूप में प्रसिद्ध हैं जिस रूप में कवि राजा बांकी दास, ईसरदास, पृथ्वीराज राठौड़ 'पीथल' और सूर्यमल्ल मिश्रण की रचनाएं। 120 वर्षों की दीर्घायु प्राप्त दुरसा आढ़ा आशु कवि थे। कविता इनके रक्त में बहती थी। राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत इस कवि को महाकवि भूषण के समकक्ष रखा गया है। राजस्थान के डिंगल साहित्य के कवियों में दुरसाजी का स्थान चोटी के कवियों में है। डा० मोतीलाल मेनारिया ने इस कवि के लिए सर्वथा उचित ही लिखा है कि--'कविता के नाम पर जितना धन, जितना यश और जितना सम्मान इन्हें मिला है उतना बहुत थोड़े कवियों को प्राप्त हुआ है। इनकी लोकप्रियता का अनुमान हमें इसी बात से हो सकता है कि राजस्थान में शायद ही कोई ऐसा चारण मिलेगा जिसे दुरसाजी की दो-चार कविताएं मुखाग्र न हों।

कवि दुरसा आढ़ा का जन्म मारवाड़ राज्य के सोजत परगने के गांव धूनला में सन् 1535 ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम मेहाजी और माता का नाम धन्नीबाई था। अत्यधिक निर्धनता के कारण मेहाजी ने दुरसा के जन्म के पूर्व ही सन्यास ले लिया। इनकी माता ने बड़ी कठिनाईयों का सामना करते हुए इनका पालन-पोषण किया। बाल्यकाल में ही बगड़ी के ठाकुर प्रतापसिंह सूंडा इन्हें एक किसान के पास ले गए और पालन-पोषण करते हुए इनकी शिक्षा आदि का प्रबंध किया। दुरसा ने ठाकुर के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए यह दोहा कहा--

माथै मावी तांह; जनम तणौ क्यावर जितौ।
सूंडौ सुध पाताह, पालणहार प्रतापसो॥

पूरी घटना का उल्लेख करते हुए डा० मोहनलाल जिज्ञासु लिखते हैं कि--'परिस्थिति से बाध्य होकर इन्हें धूंधल एक सीखी (किसान) के यहां नौकरी करनी पड़ी। बाल्यावस्था में इनका जीवन बड़ा कष्टपूर्ण था। पेट भरने के लिए खेत में रात-दिन कड़ा परिश्रम करना पड़ता। एक दिन मालिक ने इन्हें गेहूं का खेत सींचने के लिए कहा। बीच में बेल (कच्ची नाली) टूट जाने से पानी खेत में नहीं पहुंचा और वह दोनों ओर फैल गया। यह देखकर किसान क्रोधित हुआ और उसने पानी रोकने के लिए इन्हें लेटाकर ऊपर से मिट्टी डलवाई जिससे पानी फैलने से रुक गया। ऐसे समय में आखेटप्रिय ठाकुर प्रतापसिंह सूंडा (बगड़ी) दैवयोग से उस स्थान पर आ पहुंचे। घोड़े को पानी पिलाने के लिए कुएं पर गए तो क्या देखते हैं कि एक बालक पानी की नाली को रोके हुए लेटा पड़ा है और उसका शरीर धूल से ढका हुआ है। उन्होंने उसे तत्काल बाहर निकलवाया और अपने साथ सोजत ले गए, जहां उसकी शिक्षा-दीक्षा का उचित प्रबंध किया। यहीं से इसका जीवन स्रोत एक नवीन दिशा की ओर उन्मुख हुआ। कौन जानता था, यही बालक एक दिन अपनी योग्यता, वीरता एवं कवित्व-शक्ति के द्वारा राजस्थान के एक परम तेजस्वी कवि के रूप में प्रख्यात होगा?

ऐसा कहा जाता है कि कालान्तर कवि का संबंध मुगल बादशाह अकबर से भी घनिष्ठ रूप में हो गया। उन्हें अकबर का दरबारी कवि होने का गौरव प्राप्त हुआ तथा सम्मानिक रूप में 'लाख पसाव, क्रोड पसाव' आदि मिले। किन्तु एक लम्बे समय के बाद बादशाह की महाराणा प्रताप विरोधी नीतियों से असंतुष्ट होकर दुरसा आढ़ा पुनः राजस्थान में लौट आए। यह बात तो स्वीकार करनी ही होगी कि कवि चाहे अकबर के विशेष कृपापात्र न भी रहे हों, परन्तु अपने युग के प्रभावशाली व्यक्तियों में उनकी गणना की जाती थी। शाही दरबार में भी उनकी पूर्ण प्रतिष्ठा थी।

जीवन के रोचक प्रसंग :

राजस्थानी भाषा और साहित्य के विद्वान डा० हीरालाल माहेश्वरी ने कवि दुरसा आढ़ा के जीवन के अनेक रोचक प्रसंगों का उल्लेख करते हुए अपने शोध प्रबंध में लिखा है कि "दुरसा आढ़ा के बारे में कई प्रकार की बातें प्रचलित हैं। एक के अनुसार, जेतारण गांव के किसी जैन जती ने इनको पढ़ाया लिखाया और संवत् 1615-16 के लगभग अजमेर में बैरमखां से किसी प्रकार से मिले। बैरमखां ने इनको अकबर से मिलाया। मिलने के समय अकबर की प्रशंसा में इन्होंने चार पदों का एक गीत कहा, जिसका प्रथम दोहला यह है—

बाणावलि लरवण के तूं अरजण बाणावलि, सबर सरोलण कंस संहार।
सार्सौ भाज हमाउ समोभ्रम, अकबर साह कवण अवतार॥

अकबर ने उनको एक करोड़ पसाव दिया। पश्चात ये जोधपुर के महाराजा चन्द्रसेन और उनके पुत्र रायसिंह के पास रहने लगे। संवत् 1640 में राणा उदयसिंह के पुत्र जगमाल को आधी सिरोही

दिलाने के लिए शाही सेना को राव सुरताण पर भेजा गया, जिसम रायसिंह के साथ ये भी थे। शाही सेना की हार हुई और ये भी घायल हुए। उस समय राव सुरताण ने इनको अपने पास रख लिया। तबसे मृत्यु-पर्यन्त राव सुरताण से इनका अच्छा संबंध बना रहा।

"दूसरी कथा के अनुसार जोधपुर के चारण कवि बारहट लक्खाजी ने इनको बादशाह अकबर से मिलाया था। लक्खाजी की प्रशंसा में कहा गया इनका यह दोहा प्रचलित है—

दिली दरगह अब तरु, ऊंची फलट्ट अपार।
चारण रक्खो चारणां' डाली नमावण हार॥

यह भी कहा जाता है कि जब राणा प्रताप की मृत्यु की खबर शाही दरबार में पहुंची तो ये भी वहीं थे। प्रताप के निधन पर बादशाह की आंखे भर आई और वह नीची निगाह करके पृथ्वी की ओर देखने लगा। उस समय इन्होंने निम्नलिखित कवित्त कहा—

अस लेगौ अण दाग, पाघ लेगौ अण नामी
गौ आड़ा गवड़ाय, जिको बहतौ धुर वामी
नवरोजे नह गयौ, न गौ आतसां नवल्ली
न गौ झरोखा हेठ, जेथ दुनियाण दहल्ली
गहलौत रांण जीती गयो दसण मूंद रसणा डसी।
नी सास मूक भरिया नयण, तो मृत साह प्रतापसी॥

इस पर नाराज़ होने की बजाय बादशाह ने खुश होकर इनको इनाम दिया।

दुरसाजो ने दो विवाह किए थे, जिनसे इनके चार पुत्र हुए— भारमल, जगमल, सादूल और किसना। किसना आढ़ा ने भी आगे चलकर राजस्थानी साहित्य में काफी नाम कमाया। कवि का देहान्त सन् 1655 ई० में पांचेटिया में हुआ। जिस स्थान पर इनकी दाह-क्रिया हुई वहां एक मन्दिर अभी तक बना हुआ है। आबू पर अचलेश्वर महादेव के मन्दिर में भी शिवाजी की प्रतिमा के सामने दुरसाजी की एक सर्वधातु की मूर्ति बनी हुई है।

प्रमुख कृतियां :

ऐतिहासिक खोजों से यह प्रमाणित हो चुका है कि दुरसाजी ने बहुत लम्बी उम्र पाई थी। अतः यह अनुमान किया जा सका है कि आपने अपने दीर्घ जीवन में विपुल साहित्य रचा होगा। इनकी समस्त रचनाओं में सर्वाधिक प्रसिद्धि 'विरुद-छिहत्तरी' को मिली है। इस ग्रन्थ में कवि ने महाराणाप्रताप का यशोगान 76 छन्दों में किया है। कवि की चर्चित रचनाओं का ब्यौरा इस प्रकार है—

1. **विरुद्ध छित्तरी**
2. **किरतार बावनी**
3. **राउ श्री सुरतांण रा कवित्त (11 कवित्त)**
4. **दूहा सोलंकी वीरमदेजी रा (80 दोहे)**
5. **भूलणा रावत मेघारा (17 छन्द)**
6. **गीत राजि श्री रोहितासजी रौ (10 गीत, 1 कवित्त 2 दोहे)**
7. **भूलण राव श्री अमरसिंघजी गजसिंधौत रा (64 छन्द)**
8. **श्री कुमार अज्जाजी भूचर मोरी नी गजगत (संदिग्ध)**

इनके अतिरिक्त अन्य फुटकर रचनाओं और 60 गीतों का भी पता चला है। आलोचकों ने कवि रचित जिन ग्रंथों का उल्लेख विशेष रूप से किया है वे हैं—विरुद-छित्तरी, किरतार बावनी और श्री कुकार अज्जाजी नी भूचर मोरी नी गजगत।

दुरसा आढ़ा कृत विरुद छित्तरी ऐतिहासिक घटना की दृष्टि से बादशाह अकबर और महाराणा प्रताप के युद्धों से संबंधित है। इस रचना में, प्रधानतः प्रशंसात्मक काव्य होने के कारण, युद्ध का क्रमिक विकास नहीं मिलता है। वैसे तो इतिहास ग्रन्थों के अनुसार अकबर ने महाराणा प्रताप को अपने वश में लाने के लिए अनेक बार प्रयत्न किए थे। किन्तु विरुद छिहतरी में अन्य युद्धों के साथ हल्दी घाटी में होने वाले युद्ध का अन्य घटनाओं की अपेक्षा विशिष्ट उल्लेख है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि दुरसा ने राणा प्रताप की विरुदावली गाई है किन्तु नये रंग-ढंग से, परम्परानुसार नहीं। अब तक के प्रशस्ति काव्यों में यह एक अभिनव आयोजन है। इसमें जहां अतीत का स्वर है, वहां समाज में नवचेतना उत्पन्न करने की क्षमता भी। वह प्रताप के प्रण, पराक्रम एवं पुरुषार्थ पर मुग्ध थे। घोर अन्धकार से परिपूर्ण अकबर के शासन में सब राजा ऊंघने लग गए किन्तु जगत का दाता प्रताप पहरे पर जगता रहा।

अकबर घोर अंधार, ऊंधाण हींद अवर।
जागै जगदा तार, पौहरे राण प्रतापसी॥

दुरसाजी कला पारखी भी थे। आप ही ने राठोड़ पृथ्वीराज की 'वेलि' को पांचवां वेद और उन्नीसवां पुराण बतलाया है। कवि दुरसा की काव्य भाषा ओज एवं प्रभावमयी है जो पाठकों के हृदय पर अपनी छाप छोड़े बिना नहीं रहती।

वीररस की उत्तुंग तरंगे :

राजस्थानी के चारण कवियों में दुरसाजी बहुत प्रसिद्ध हैं। इनकी रचनाओं का समुद्र वीररस की तरंगों से भरा पुरा है। महाराणा प्रताप की वीरता के तो आप परम प्रशंसक और आराधक रहे हैं। राजस्थानी के वीररस के कवियों में तो आप अग्रगण्य हैं ही, साथ ही हिन्दी के भूषण से भी आपकी समता की जाती है। राजस्थानी साहित्य के वीररस के कवियों—वीठू मेहा, बारहठ ईसरदास, राठोड़, पृथ्वीराज, आशानन्द, बांकीदास और सूर्यमल्ल मिश्रण आदि में आपका नाम विशेष आदर और सम्मान के साथ लिया जाता है। 'वीर सतसई' की भूमिका में दुरसा आढ़ा की 'विरुद छिहत्तरी' का उल्लेख बांकीदास की 'सूर छत्तीसी', ईसरदास की 'हालां' भालां रा कुण्डलियां तथा सूर्यमल्ल मिश्रण की 'वीर सतसई' के साथ किया गया है। इसके अतिरिक्त राजस्थानी के गीतकारों में दुरसा की गणना जगमाल, कल्याणदास बारहठ, मंधरा ढाढी, नरहर दास, चन्द्र भाट, लिखिमीदास जसे सुप्रसिद्ध गीतकारों के साथ की गई है।

दुरसा आढ़ा कलम के धनी होने के साथ-साथ तलवार के धनी भी थे। रणभूमि में दुरसाजी कई बार तलवारें चमका चुके थे। ऐसे वीर कवि कविता भला उत्साह और जोश से क्यों न करी होगी? इतिहास इस बात का साक्षी है कि दुरसा का युग मुगल-शासन के चर्म शिखर का काल था। यह वह समय था जब एक ओर अधिकांश नरेश अपनी गौरवशाली परम्परा को खोकर शाही

खानदानों से गठबंधन कर रहे थे, तब दूसरी ओर स्वतंत्रता की बलिवेदी पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने वाले राणा प्रताप दाने-दाने को मोहताज होने पर भी उनसे बारम्बार लोहा ले रहे थे। इन दोनों प्रवृत्तियों का कवि ने जो सच्चा, सजीव, हृदयस्पर्शी एवं उत्तेजनापूर्ण वर्णन किया है, वह इस रचना में प्रतिबिम्बित हुआ है[15] देखिए—

अकबर हिये उचाट, रात दिवस लागो रहै।
रजवट बट समराट, पाढप राण प्रताप सी ॥
थिर नृप हिन्दुस्थान, लातरगा मग लोभलग।
माता भूमि मान, पूजै राण प्रतापसी ॥
मन री मन रैमांही, अकबर रै रहगी इकस।
नखर करिये नांहि, पूरी राण प्रतापसी ॥

कवि ने इतना सब कुछ होने पर भी निराशा कभी प्रकट नहीं की। राणा प्रताप के रूप में समस्त हिन्दू जनता ने रक्षा पायी, एक सुख की सांस ली। कवि आढ़ा ने इस बात को अच्छी तरह समझाया था और कहा था—सारा संसार निद्रा में बेहोश है, किन्तु राणा प्रताप सबका चौकस पहरेदार है। यहां आढ़ा एक सामन्ती कवि होते हुए भी जनभावना को अपने काव्य के माध्यम से सफल और सबल अभिव्यक्ति दे सका। यह उसकी सबसे बड़ी विशेषता है और इसी विशेषता के कारण युग युगों तक उनका नाम आदर के साथ लिया जाएगा। दुरसाजी के काव्य में वीर रस के पूर्ण परिपाक को लक्षित करते हुए डा० जिज्ञासु ने ठीक ही लिखा है कि—"दुरसा ने वीर रस के अपकरण संजोने में अपूर्ण चातुर्य से काम लिया है। उसकी सूक्ष्म अंर्तदृष्टि प्रत्येक कार्य-व्यापार पर पड़ी है। स्थायी भाव के रूप में उत्साह सर्वत्र दिखाई देता है। गर्व, उग्रता, एवं उद्वेग सबके मन में क्षण-क्षण संचरण कर रहे हैं। आलम्बन रूप में प्रबल शत्रु ललकार रहा है। सीमान्तर्गत प्रवेश, पराक्रम एवं प्रौढ़ सैन्य संचालन सुरताण को उदीप्त कर रहे हैं। चुनौती, शौर्य एवं आक्षेप अनुभव बनकर रसोत्पत्ति में सहायता पहुंचाते हैं। इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से यह क्रयावद प्रशंसनीय है।

राष्ट्रीय भावना के सूत्र :

दुरसा आढ़ा के काव्य प्रमुख वैशिष्ट्य यह है कि वह राष्ट्रीय भावना के सूत्रों से अटूट रूप से जुड़ी हुई है। जहां भूषण ने हिन्दुत्व की रक्षा करने वाले शिवाजी की प्रशस्ति लिखी है वहां दुरसा ने आनमान और आज़ादी के रक्षक महाराणा प्रताप की विरुदावली का गान किया है। इस प्रकार इन दोनों कवियों को राष्ट्रीय कवि होने का गौरव सहज ही प्राप्त हो जाता है। मुगलों के विरुद्ध हथियार उठाने वाले नर-पुंगवों की प्रशस्तियों में ही कवि का मन अधिक रमा है। डा० मोतीलाल मेनरिया ने कवि की राष्ट्रीय भावना को इंगित करते हुए लिखा है—"दुरसाजी हिन्दू-धर्म, हिन्दू जाति और हिन्दू संस्कृति के अनन्य उपासक थे। अपनी कविता में उन्होंने तत्कालीन हिंदू-समाज की विप्पनावस्था और अकबर की कूट नीति का बड़ा ही सजीव, वीर, दर्पपूर्ण और चुभता हुआ वर्णन किया है। यही कारण है कि इन्होंने राणा प्रताप, राव चन्द्रसेन तथा राव सुरताण आदि के देश प्रेम का भाव विभोर होकर यशोगान किया है। यही नहीं, इन वीरों की सहायता करने वाले तथा मुगल सेना के विरुद्ध जूझने वाले अनेक अन्य वीर पुरुषों की कीर्ति गाथा भी कवि ने अपने विभिन्न दोहों, गीतों, आदि में सुरक्षित रखी हैं। महाराणा प्रताप की प्रशस्ति में कवि लिखता है:—

गढऊंचों गिरना, नीचो आबी नहीं।
अकबर अध अवतार, पुन अवतार प्रतापसी ॥
अकबेर कूट अजाण, हिया फूद छाड़े न हठ।
पगां न लागण पाण, पणधर राणा प्रतापसी ॥

दुरसाजी सतत् जागरूक एवं सचेत कवि थे। अपने युग की राजनीतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से उनका निकट का रिश्ता था। कवि ने क्षात्र-धर्म विमुख हिन्दू-राजाओं को बुरी तरह निन्दित भी किया है। उन्हें उपालम्भ दिए हैं। यह कथन अक्षरशः सत्य है कि दुरसा आढ़ा हिन्दू धर्म के बड़े अभिमानी और हिन्दू जाति के बड़े हितैषी थे। जब किसी हिन्दू राजा को ये अकबर के समक्ष नतमस्तक होते देखते तो इन्हें मर्मान्तिक व्यथा होती थी। हिन्दू जाति के अपमान को ये अपना अपमान समझते थे। इनकी काव्य रचना का उद्देश्य भी महान था और वह था देश को जातीयता की ओर अग्रसर करना। अतः देश प्रेम से ओतप्रोत दुरसाजी की कविता इनके हृदय के सच्चे उद्गार हैं और महाराणा प्रताप की प्रशंसा के बहाने इन्होंने अपने युग के दर्द को, हिन्दू जाति के परिताप को दरसाया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दुरसा की कविताओं में राष्ट्रीय भावना की धार अविरल बही है। उस युग के वीर शिरोमणि, राजस्थान के सूर्य महाराणा प्रताप का यशोगान जितना उनके समकालीन कवियों ने किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसे कवियों में दुरसा आढ़ा का नाम अप्रतिम है। अकबर के दरबार में भी हिन्दू राजा की प्रशंसा करने का श्रेय मात्र इस कवि को ही है।

व्यापक प्रसिद्धि

दुरसा आढ़ा अपने समय के सर्वाधिक प्रसिद्ध कवियों में से एक थे। इस बात की परिचायिका इनकी एक पीतल की मूर्ति है जो अचलगढ़ में स्थापित मिली है। देवोपम दुरसा शास्त्र बल से ही नहीं काव्य बल से भी देदीप्यमान थे। असि और मसि का ऐसा मणि कांचन योग अत्यंत विरल है। अकबर जैसे शासक भी इनकी योग्यता, त्वरित बुद्धि, विलक्षण प्रतिभा, आशु कविता, हिम्मत और जिन्दादिली का कायल था।

राजस्थान की वीरभूमि को दुरसा आढ़ा जैसे कवियों पर गर्व है। ऐसे ओजस्वी और राष्ट्रीय कवि को प्राप्त कर कोई भी देश और किसी भी भाषा का साहित्य धन्य कहा जा सकता है।

दरगाह चार कुतुब, हांसी

जगदीश भारती

हरियाणा के ऐतिहासिक नगरों में हांसी एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर है। हांसी नगर ने कई राज्य बनते, मिटते और गिरते देखे हैं परन्तु नगर के एक छोर पर स्थित दरगाह चार कुतुब की मान्यता ज्यूं की त्यूं चली आ रही है। समय की आंधियों में कई सिंहासन लुप्त हो गये परन्तु सूफी सन्तों की यह दरगाह अपनी महता को संजोये हुए भाई-चारा का वातावरण सदैव ही उत्पन्न करती रही है। यह वह पवित्र स्थान है जहां सर नहीं झुकते बल्कि दिल झुकते हैं।

हांसी का यह 'चार कुतुब' उन चार ज्ञानियों की मधुर स्मृति है जिन्होंने अपने जीवन को आदर्श जीवन बनाकर मनुष्य मात्र को रोशनी दिखाई। दरगाह चार कुतुब हांसी नगर के पश्चिम में स्थित है। उसी दरगाह के कारण हांसी का एक बार चार कुतुब दरवाज कहलाता है। इस दरगाह में एक गुम्बद है जिस में चारों ज्ञानियों की कब्र है। संसार में यह बड़े आश्चर्य की बात मानी जाती है कि चार ज्ञानियों की समाधि एक ही स्थान पर हो, यही कारण है कि भारत वर्ष में इस स्थान को अति पवित्र माना जाता है। जिन ज्ञानियों के मजार इस गुम्बद में है उनके नाम मौलाना कुतुब जमालोदीन अहमद, मौलाना कुतुब बरहानोदीन सूफी, मौलाना कुतुबदीन मन्नवर, मौलाना नूरोदीन नूरजहां मुगलवंश है। सबसे पहले और बड़े कुतुब बाबा जमालोदीन के नाम से विख्यात थे। इनका जन्म 583 हिजरी में गजनी में हुआ था। 76 वर्ष की आयु में 659 हिजरी को हांसी में आप स्वर्ग सिधारे। पहले कुतुब की हांसी में आने की गाथा भी ऐतिहासिक है। जब सुलतान शहाबुद्दीन गौरी ने भारत पर दूसरा आक्रमण किया तो उसकी सेना में पहले कुतुब के पिता हजरत हमीदोदीन सेनापति थे। इस आक्रमण में हांसी का दुर्ग गोरी के हाथ लग गया और पृथ्वी राज चौहान को पराजय हुई और इस क्षेत्र का कार्यभार हमीदोदीन के हाथ दे दिया गया और इन्होंने अपना सारा परिवार गज़नी से हांसी बुला लिया। इस समय पहले कुतुब की आयु पांच वर्ष की थी जब वे हांसी आये। हमीदोदीन की मृत्यु के पश्चात सुलतान की ओर से पांच गांव पहले कुतुब को निर्वाह आदि के लिये दिये गये और न्यायाधीश का पद भी दिया गया परन्तु कुछ समय के पश्चात् पहले कुतुब ने यह गांव वापिस कर दिये और न्यायाधीश का पद भी छोड़ दिया और परमात्मा के भजन में लग गये। आप त्याग की तस्वीर थे, कई बार सूखी रोटी पानी में भिगो कर खाते थे। त्याग पर बल देते थे। आप ने जिस स्थान पर 12 वर्ष तक निमाज अदा की वहां आज "औलिया मस्जिद" बनी हुई है। जहां आपने समाधि लगाई उस स्थान को "चिल्ला बाबा फरीद" कहते हैं। ये सभी स्थान दरगाह चार कुतुब के भीतर हैं। पहले कुतुब बाबा जमालोदीन प्रसिद्ध सन्त बाबा फरीद के परम शिष्य थे। बाबा फरीद का स्थान पाकपटन था । जो मनुष्य फकीरी में आने के लिये बाबा फरीद के पास जाता था, बाबा फरीद उसे हांसी, पहले कुतुब के पास भेजते। यदि पहला कुतुब उसे पास कर देता तो बाबा फरीद की सनद मिल जाती। बाबा फरीद ने एक स्थान पर कहा है कि "यदि मेरा जमाल चोला फकीरी का उतार लेगा तो फरीद उस को दोबारा नहीं पहनायेगा।" एक स्थान पर और कहा है कि "मेरा जमाल मेरा ही जमाल है।"

पहले कुतुब बाबा जमालोदीन की कृत्तियों में दिवान फारसी "आलम सगीर" "नूर उलमबायज मल्हात (अलहाम)" "पन्द नामा फारसी" प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। दिवान फारसी की हस्तलिखित कापी लन्दन की इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में मौजूद है। जिसका पूरा फोटो अलीगढ़ विश्वविद्यालय की मिस मौनूदा के पास मौजूद है। क्योंकि वह चार कुतुब हांसी पर थीसिज़ (मकाला) लिख रही है।

चारों कुतुब पहुंचे हुए फकीर थे। बड़े बड़े सुलतान इनके द्वार पर सजदा करते थे—एक बार कुतुब साहब के कुछ मेहमान आये तो उन्हें जौ की रोटी बिना नमक के दी गई। पहले तो वे चकराये परन्तु जब भोजन किया तो उंगलियां चाटते रहे गये। एक मेहमान ने नमक मांगा परन्तु घर में नमक तक न था। यह था फकीरी का आलम, बाबा फरीद के इस दोहे के सभी पाबन्द थे—

"रोटी तेरी काट दी, लावन तेरी भुगह"
जिन्हां खादियां चौपड़ियां उहना देगी दुःख"

पहले कुतुब के कमाल का एक उदाहरण बड़ा रोचक है कि कुतुब साहब के साले बूअली कलन्दर पानीपती अपनी बहन से मिलने हांसी आ रहे थे। आने का उद्देश्य उन के भान्जे के जन्म पर बधाई देना था। कलन्दर ने सोचा कि भान्जे के लिये बकरी लेता चलूं। रास्ते में कलन्दर को दो

महात्मा मिले और उन्होंने कलन्दर से बकरी ले ली एक सुई दे दी कि इस से जो मांगोगे मिल जायेगा। यही अपने भान्जे को भेंट करना। कलन्दर ने सुई भान्जे को भेंट कर दी। परिणाम स्वरूप घर में वस्तुओं के ढेर लग गये। पहले कुतुब ने जब यह देखा तो हैरान हुए और कलन्दर को कहा कि निमाज अदा करनी है पानी का लोटा भर लाओ। कलन्दर जब पानी का लौटा भरने लगा तो सूईयों से भर गया। इस पर कुतुब ने कहा कि यह सभी सूइयां सब कुछ देंगी। जिस पर कलन्दर ने गरदन झुका ली—कुतुब साहब ने कहा कि हम फकीर हैं हमें इनसे क्या—इसी प्रकार इनके चमत्कारों की काफी कहानियां प्रसिद्ध हैं।

दरगाह चार कुतुब में प्रतिवर्ष उर्स (मेला) होता है। जिसमें सभी धर्मों के लोग भाग लेते हैं। पाकिस्तान से भी प्रति वर्ष यात्री आते हैं।



अतीत में सशरीर : ऑक्सफर्ड

गोविन्द मिश्र

सुबह सीधे ही विक्टोरिया से बस पकड़ कर ऑक्सफर्ड के लिए रवाना हो गया, बस ऑक्सफर्ड में क्वीन्स स्ट्रीट से गुजरी, बाजारू चकाचौंध देखकर निराशा हुई—इस पुराने और पढ़ाई लिखाई वाले शहर को भी दुकानों से पाट दिया...लेकिन टूरिस्ट दफ्तर से नक्शा लाकर जैसे ही कालेजों की सड़कों और गलियों में उतरता गया, मन पर उन पुरानी इमारतों से छलकती शांति बिछती चली गई। इमारतों के पीछ से वहां के कभी पढ़ने वालों की रूहें जैसे आज भी झांक रही थीं। सुप्रसिद्ध कालेज क्राइस्ट चर्च में बी० बी० सिंह जो आई० सी० एस० होते हुए भी आदमी था। आगरा में आत्म हत्या....विसूरिया मर्डर केस।

क्राइस्ट चर्च कालेज की स्थापना 1525 में कार्डिनल वोल्से ने की थी, हैनरी आठ ने उसकी फिर से स्थापना की। बड़े गेट पर प्रसिद्ध टौम टावर जहां अब भी 9 बजकर 5 मिनट पर 101 घंटे बजते हैं...शुरू के 101 विद्यार्थियों के नाम पर। उस जमाने में इन घन्टों का बजना गेट बन्द होने की सूचना होती थी। अन्दर कालेज का विशाल चौकोर प्रागण...उजली धूप से लबालब भरा था। एक कोने में कालेज की सुन्दर चैपल और नौरमन स्टाइल में बने एक दरवाजे के रास्ते से चैप्टर हाउस की तरफ। पैकवाटर क्वाडरैंगल पर डा० जौन फैल और लिडैल की मूर्तियां हैं। डा० फैल की याद पुरानी राइम—"आई डू नोट लव दी, डा० फैल" के मार्फत से अब भी की जाती है। कैरल ने, जो तब क्राइस्ट चर्च में मैथमैटिक्स पढ़ाते थे, अपनी प्रसिद्ध "एलिस इन वंडरलैंड" की कहानी पहले डा० लिडैल की लड़की को ही सुनाई थी, ऊपर जाना मना था लेकिन सीढ़ियां चढ़कर क्राइस्ट चर्च का डाइनिंग हाल झांक आया....मध्ययुगीन स्टाइल में अब भी सजा हुआ। मुख्य प्रांगण के एक तरफ की गलियों (जिन्हें यहां क्लौइस्टर्स कहा जाता है) में कई एक कब्रें सी भी दिखाई दी। जहां-तहां पढ़ाई-लिखाई के दौरान यहां पर मर जाने वाले विद्यार्थियों की स्मृति में पत्थर जड़े थे। देखकर मन भर आया...अपने विद्यार्थियों की इतनी कद्र। इन्हीं छोटी-छोटी चीजों से बनती है परम्परा।

मैं सिर्फ खण्डहरों में नहीं घूम रहा था। यह प्रांगण कितना जीवंत था इसका अन्दाज आते-जाते विद्यार्थियों के ताजे चेहरों से लगता था। धूप में चमकते गोरे-गोरे चेहरे कहीं कोई ऊपर से झांकता हुआ, कोई फरफराकर क्लौइसटर्स से गुजरता हुआ......विद्यार्थियों के गिरोह धूप में गप करते हुए...एक किनारे धूप में ही औंधा लेटकर पढ़ता हुए एक लड़का...उधर से जब दोबारा निकला तब तक वह किताब पर ही सो गया था।

मैर्टन कालेज यहां का सबसे पुराना कालेज कहा जाता है....कोई 1264 का। पुस्तकालय पर्यटकों के लिये खुला था। एक लम्बे चौड़े बुजुर्ग ने टिकट दिया और जब एक छोटा मोटा गिरोह बन गया तो दो विशाल चाबियों के साथ एक जेल की बैरक जैसी चीज को खोलने चला—पुराना मध्ययुगीन किवाड़....सीढ़ियां और ऊपर 14वीं सदी का पुस्तकालय, उसी तरह रखा हुआ। उस जमाने में बिजली नहीं थी तब इमारत के कोनों से पुस्तकालय में रोशनी कैसे पहुंचाई जाती थी, किताबें बाकायदे जंजीरों में बांधकर कैसे रखी जाती थीं.....और यही देखने को मिला 11वीं शताब्दी का एक लकड़ी का बक्सा जिसमें बन्द कर पाण्डुलिपियां इधर से उधर जाती थीं। तीन चाबियां होती थीं और तीन प्रोफेसरों की उपस्थिति में ही उसे खोला जाता था।

हमारा गाइड एकदम औक्सफर्डियन था। था भी ऑक्सफर्ड का एक रिटायर्ड कर्मचारी....लेकिन एकदम प्रोफेसर लगता था। हमारे ग्रुप को जो पकड़ पाया तो लैक्चर ही देता चला गया, जैसे किसी कक्षा को पढ़ा रहा हो। चुस्त अंग्रेजी, लैटिन मुहावरों से जड़ी हुई। लैटिन का उच्चारण मुंह बनाकर एक खास अदा से करता था। पुस्तकालय का सारा फर्नीचर पुराना है। कितनी हथेलियां इन मेजों के ऊपर घिसी होंगी। पीछे के बगीचे में एक चक्कर लगाया। पुराने शहर की दीवार, दीवार के एक हिस्से में बना एक छोटा सा टैरस जैसा.....जहां से क्राइस्ट चर्च चरागाह का लम्बा नजारा मिलता है।

मैन्डेलेन कालेज ऑक्सफर्ड का सबसे खूबसूरत कालेज माना जाता है। इसकी स्थापना 15वीं सदी में की गई थी और इमारत का काफी कुछ हिस्सा उस जमाने का है, बाद के परिवर्तन भी पुराने में एक तरफ से घुलामिला दिये गये हैं। यहां की चैपल परपैन्डिकुलर और बहुत ही खूबसूरत है। यहां मे-डे पर सूर्योदय के समय टावर से लैटिन हिम अब भी गायी जाती है...सदियों से चला आता हुआ एक पुराना रिवाज कालेज के बगीचे के पार हिरणों का पार्क है और

पानी के किनारे चलने की खूबसूरत जगह। क्वाडरैंगल में क्लोइसटर्स के बाहर की तरफ पुरानी मूर्तियां बनी हुई हैं। कहीं कोई शेर, कोई गिद्ध, कोई मास्टर तो कोई डाक्टर। ये कुछ मूर्तियां प्रतीकात्मक हैं जैसे शेर हिम्मत और चौकसी का प्रतीक, ईगिल मां-बाप के प्यार और कोमलता का। कुछ कहानियों पर आधारित हैं जैसे डेविड शेर को मारते हुए। सबसे मजेदार वे हैं जो सूक्ष्म चीजों को शक्ल पर दरशाते हैं......जैसे बेवकूफी.......क्या मजेदार आदमी बनाया गया है....एकदम भोंदू। काम लिप्सा और क्रोध इस तरह की दूसरी मूर्तियां हैं। ये सब आज भी जाने कितना कुछ कहती हैं। मैगडैलेन कालेज की क्लोइसटर्स में चलते वक्त एक गुदगदी महसूस हो रही थी। पढ़ने को न मिला तो न सही यहां कुछ क्षण बिताने को तो मिले। बाहर निकल कर मुख्य दरवाजे को देखा। टावर पर मुरम्मत हो रही थी। मैगडैलेन ब्रिज पर आर-पार घूमा। नीचे हरा पानी, कहीं-कहीं काई थी, इधर-उधर घने दरख्त, एक तरफ गौल्फ का छोटा सा हरा-भरा मैदान, छुटपुट नावें....सब कुछ बहुत ही रोमैंटिक। यहां कितने चले....कितने चल रहे हैं....कितने और आयेंगे और चलेंगे.....पानी यहां एकदम शांत है.....शांत और उदास।

न्यू कालेज से ऑक्सफर्ड के मौजूदा प्रशासनिक ब्लाक की तरफ जाती हुई एक धनुषाकार गैलरी ने ध्यान खींचा। दो इमारतों को जोड़ती हुई यह गैलरी ऑक्सफोर्ड के पुरानेपन को गहरा कर जैसे और खूबसूरत कर देती है। आसपास छोटी-छोटी गलियां। न्यू कालेज की चैपल बड़ी ही रंगीन है। पीछे का बगीचा एक तरफ से पुराने ऑक्सफोर्ड शहर की दीवार से घिरा हुआ है।

शरीडोनियम थियेटर...अन्दर से गोलाकार, चारों तरफ बैठने का इन्तजाम, परपैन्डिकुलर वास्तुकला का उम्दा नमूना। यहां यूनिवर्सिटी के संस्थापकों की याद में वार्षिक प्रोग्राम होते हैं, सम्मान के लिये दी जाने वाली डिग्रियां बांटी जाती हैं। ऊपर चढ़कर ऑक्सफोर्ड को नीचे फैले हुए देखा....टावर, घंटे और पुरानी इमारतें।

कालेज और कालेज...पुरानी गलियां, टावर्स, बजते घंटे, खूबसूरत टैम्स...यह है ऑक्सफोर्ड। कितने ही बड़े बड़े पुराने नाम इर्दगिर्द तैरने लगते हैं। लारेंस आफ अरेबिया, ऐडमिरल ब्लेक, जोन वैसले, एल्फ्रेड द ग्रेट....यूनिवर्सिटी कालेज का संस्थापन.....जहां तक शैली मैमोरियल भी है। पुराने रीति-रिवाजों को ऑक्सफोर्ड में अब भी इज्जत बख्शी जाती है। कहीं 101 घंटियां हैं तो कहीं टावर से गाई जाती लैटिन की हिम और क्वीन्स कालेज के दो पुराने रीति-रिवाज—क्रिस्मस में बोअर्स हैड फीस्ट और नये साल के दिन सुई और धागे का बांटा जाना। इंगलैंड में जो अब महत्वपूर्ण मेले बचे हैं उनमें से एक यहां का सेंट गाइल्स फेयर है। अतीत को वर्तमान से जोड़ते हुए भी कैसे सुरक्षित रखा जाता है यह अगर देखना हो तो कोई ऑक्सफोर्ड आये।

कैरफैक्स पर फिर वापस आ गया। ऑक्सफोर्ड की खास सड़कें यहां मिलती हैं इसीलिये शायद यह नाम है। हाई स्ट्रीट की तरफ की पुरानी इमारतों की खूबसूरती एक बार फिर आंखों में मूंद ली। कैरफैक्स शहर का मुख्य केन्द्र है.....जिस पर खड़ी है कैरफैक्स टावर—एडवर्ड 3 के जमाने की बनी हुई। कभी यहां शहर की पुरानी चर्च थी जो सड़क को चौड़ा करने में तोड़ दी गई....और उसी का एकमात्र बचा हुआ हिस्सा यह टावर है।

किस्मत में शायद ऑक्सफोर्ड का एक ही दिन था लेकिन झोला लटकाये घूमता हुआ दिनभर पैदल चलता रहा। थकान की जगह फिर से विद्यार्थी हो जाने जैसा दिन भर महसूस होता रहा। शायद हर पर्यटक ऑक्सफोर्ड आकर विद्यार्थी हो जाता है। बस अड्डे पर चाय के लिये कैफेटेरिया में घुसा तो वहां भी एक विद्यार्थी के साथ ही चाय पी और अंधेरा होते-होते जो ऑक्सफोर्ड से बाहर निकले तो इतिहास का एक पन्ना पीछे मुड़ता हुआ साफ-साफ दिखाई दिया। अगर सशरीर अतीत में पैर रखा जा सकता है तो ऑक्स-फर्ड जैसे शहर में आकर ही।

(लगभग 2350 वर्ष पूर्व भौतिकी की प्रथम पुस्तक लिखकर अरस्तू (384-332 ई० पू०) ने चिन्तन की एक राह बना दी थी। उसकी दार्शनिक और आध्यात्मिक महिमा इतनी बढ़ गई थी कि दीर्घकाल तक उसके विचारों का आदर होता रहा और उसे "ज्ञान का पिता" कहा गया।

यहां कल्पना यह है कि सातवें स्वर्ग के किसी झरोखे में बैठा हुआ यह मनीषी, व्यक्ति और समाज की पारस्परिक प्रतिक्रिया का लगातार विश्लेषण करता रहता है और समय-समय पर उसके बेतार-संदेश इहलोकवासियों तक पहुंचते हैं। इसी संदेश को पत्र का रूप दिया गया है।)

अरस्तू का ख़त

जीवन नायक

साहित्यकार और राष्ट्रीयता

उमर दराज़,

रवि बाबू की 117वीं वर्षगांठ 7 मई को तुम्हारे यहां मनाई गई होगी। हमने भी इस अवसर का लाभ यहां उठाया और तुम्हारे यहां के जो साहित्यकार बन्धु हमारे समाज में आ पहुंचे हैं उनसे 'साहित्यकार और राष्ट्रीयता' विषय पर अपने-अपने विचार प्रकट करने का अनुरोध किया। यह गोष्ठी हर तरह से बड़ी सफल और मनोरंजक रही। इसका विशेष कारण यह था कि रवि बाबू स्वयं समारोह में उपस्थित थे और निर्धारित विषय पर सीधे-सीधे कुछ न कहते हुए उन्होंने 1915 से 1925 के बीच हुई घटनाओं की पृष्ठभूमि में अपने संस्मरण सुनाए।

मेरा अनुमान है कि रवि बाबू द्वारा इस अवसर पर बताई गई बहुत-सी बातों से तुम्हारे देशवासी भी बेखबर हैं। भारत में ये सभी घटनाएं पर्दे की ओट में घटती रहीं और चूंकि रवि बाबू को इस सारी घटनावली का लाभ अपने लिए उठाने की जरूरत नहीं थी इसलिए बहुत सीमित मित्र-मंडली में इसकी चर्चा भले ही हुई हो, उन्होंने किसी तरह इसका प्रचार नहीं किया और यही कारण है कि इतिहास का एक प्रमुख परिच्छेद होने पर भी यह सारा घटनाक्रम सार्वजनिक रूप से भारत में या उसके बाहर कभी प्रकाश में नहीं आया।

मैं प्रयत्न कर रहा हूं कि यह सारा वृतान्त तुम्हें रवि बाबू के ही शब्दों में लिखकर भेजूं।

'विश्व भारती' (शान्ति निकेतन) को अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति के केन्द्र में प्रस्फुटित करने और उसको यथाशक्ति सजाने-संवारने में मेरा यह प्रत्यन लगातार रहा कि कोई बाहरी प्रभाव या सहायता इसके लिए न ली जाए। मुझे पहले से ही इस निश्चय को दृढ़ता से कार्यान्वित करना पड़ा। मुझे भय था कि किसी बाहरी सहायता से इस संस्था को विकसित करने का परिणाम शायद यह भी होता कि मुझे अपने ढंग से चलने और संस्था को बढ़ाने में अपने सहायकों की बात माननी पड़ती। यह कहते हुए मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि शान्ति निकेतन के लिए बाहर के लोगों की सहायता मुझे नहीं मिली या उसे मैंने स्वीकार नहीं किया। यह सब तो करना ही पड़ा लेकिन जिसे कहते हैं 'नो स्ट्रिंग्ज अटैच्ड़' इसका ध्यान मैंने बराबर रखा। 1925 की शुरुआत में अमेरिका की एक दानी महिला ने शान्ति निकेतन के विकास के लिए 50,000 डालर की भेंट शान्ति निकेतन के शुभेच्छु मित्रों के जरिए भेजने का उपक्रम किया था और इस सिलसिले में लंदन स्थित इण्डिया आफिस से पत्र व्यवहार किया गया था। जहां तक मुझे स्मरण है, 11 फरवरी, 1925 को न्यूयार्क स्थित ब्रिटिश सूचना कार्यालय से आंगस फ्लेचर नामक एक व्यक्ति ने लंदन स्थित इण्डिया आफिस के जे० डब्ल्यू० हौज़ को पत्र लिखकर यह जानना चाहा था कि मेरे द्वारा स्थापित किसी स्कूल या विश्वविद्यालय के दमन के लिए ब्रिटिश सरकार ने हाल ही में कोई कार्यवाही की है या नहीं। फ्लैचर ने अपने पत्र में यह जानकारी नहीं दी कि यह सब वह क्यों जानना चाहता है। तथापि, इतनी बात स्पष्ट हो गई थी कि अमरीकी महिला के शान्ति निकेतन को प्रस्तावित दान की बात अंग्रेजों को एकदम नापसन्द थी। इसलिए फ्लैचर ने उसे यह कहकर बरगला दिया कि किन्हीं अनचाही कार्यवाहियों के लिए विश्वभारती पर दमन चक्र चल रहा है। उसने यह भी कहा कि इस मामले में वह इंडिया आफिस से और अधिक जानकारी प्राप्त कर रहा है।

सच तो यह है कि विश्वभारती पर किसी तरह के दमन चक्र की बात से हौज ने इन्कार किया लेकिन हाल ही में हुई कुछ नौजवान बंगाली क्रांतिकारियों की गिरफ्तारी का ज़िक्र उसने जरूर किया। यों तो उसने यह बात साफ-साफ लिखी थी कि उन नौजवानों का मेरी संस्था से कोई संबंध नहीं है। जाने क्यों उसमें यह भी जोड़ दिया कि यदि उनमें से किसी का संबंध शान्ति निकेतन से रहा ही हो तो इस गिरफ्तारी से यह बात जाहिर होती है कि सरकार उसका अंत करना चाहती है।

इसी संदर्भ में हौज ने एक और बात अपने पत्र में लिखी—शान्ति निकेतन में अध्यापन का दायित्व लेकर जर्मनी के कुछ अध्यापक भारत आने के लिए उत्सुक हैं क्योंकि वे अध्यापन कार्य में मेरा हाथ बंटाना चाहते हैं।

मुझे मालूम हुआ था कि ऐसे कुछ व्यक्तियों को पारपत्र देना संबंधित सरकारों ने ठीक नहीं समझा था लेकिन शेष को पारपत्र मिलने में कोई कठिनाई नहीं हुई थी। तो भी इस कार्यवाही से यह निष्कर्ष निकालने में कोई कठिनाई नहीं थी कि सरकार शान्ति निकेतन को किसी-न-किसी तरह हानि पहुंचाना चाहती थी।

हौज का पत्र पाकर फ्लैचर को आशातीत प्रसन्नता हुई। उसे मनचाहा साधन मिल गया और उसके सहारे अमेरिकी महिला को दान देने से रोकने में वह सफल हो गया। अपने उत्तर में उसने लिखा—टैगोर की संस्था के बारे में आपके पत्र के लिए धन्यवाद। इस सूचना के आधार पर हमने एक अमेरिकी महिला को मामले की सही-सही जानकारी परोक्ष रूप में दे दी है। उसे अब तक गुमराह किया जा रहा था लेकिन अब परिणाम यह हुआ कि न्यूयार्क में बसने वाले भारतीय क्रांतिकारियों के जरिए विश्व भारती को 50,000 डालर की रकम दान में अब वह नहीं भेजेगी।

लगभग एक माह बाद लंदन के इंडिया आफिस ने भारत सरकार से इस मामले में पूरी जानकारी की मांग की थी। उसके बाद सारी कार्यवाही भारत में ही हुई। केन्द्र और राज्य सरकार के स्तर पर शान्ति निकेतन की गतिविधियों की सूक्ष्म जांच शुरू हुई। केन्द्र सरकार के जासूसी विभाग के डाइरेक्टर पैट्री ने इस मामले की शुरुआत बड़े उत्साह से की थी लेकिन बेचारे को इस बात पर अफसोस जाहिर करना पड़ा कि शान्ति निकेतन के बारे में कोई विशेष जानकारी सरकार के पास नहीं है। पैट्री ने बंगाल के गवर्नर को भला-बुरा कहा और जनता की इच्छा के सामने झुकने के लिए उसे जीभर कर कोसा। उसने लिखा कि बंगाल का गुप्तचर विभाग शान्ति निकेतन के बारे में कुछ भी नहीं जान पाया क्योंकि जब भी पुलिस का कोई अधिकारी शान्ति निकेतन के आस-पास से गुजरता था, पुलिस के हस्तक्षेप की ढ़ेरों शिकायतें गवर्नर के पास पहुंच जाती थीं। शांति निकेतन के बारे में बंगाल सरकार के अभिमत के लिए पैट्री रुक नहीं सका। उसने लिखा—जहां तक मुझे ज्ञात है, शांति निकेतन का वातावरण अंग्रेजों का सर्वथा विरोधी है। किसी भी शिक्षण संस्था के लिए यह अनहोनी बात है। इससे विश्वासघात को बल मिलता है। मेरे विचार से स्थिति यही है और इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं होना चाहिए। मेरा बस चले तो मैं अपनी निजी हैसियत में किसी भी भारतीय पिता को अपने बच्चों की शिक्षा के लिए शान्ति निकेतन न भेजने का आग्रह करूंगा। अपनी पूरी ताकत से उसे ऐसा करने से रोकूंगा और किसी भी दानी को इस संस्था की सहायता के लिए एक रुपया भी न देने दूंगा। अपनी बात की सार्थकता सिद्ध करने के लिए पैट्री ने मेयर बेनफ़ी नामक एक जर्मन प्राध्यापक का हवाला दिया। मैंने बेनफ़ी को शान्ति निकेतन में नियुक्त किया था। पैट्री ने अपने वक्तव्य में आगे लिखा कि यद्यपि मुझे अंग्रेजों का शत्रु तो नहीं कहा जा सकता तो भी भारत में अंग्रेजी राज्य की गतिविधि की क्रूरता को जिस तरह मैंने व्यक्त किया है उस तरह किसी दूसरे ने नहीं किया और इसका परिणाम यह है कि अंग्रेज सरकार द्वारा सम्मानार्थ मिली 'सर' की उपाधि का मैंने परित्याग किया। सभी जानते हैं कि जलियांवाले बाग के हत्याकांड के विरोध में मैंने उपाधि त्यागी थी।

पैट्री की निगाह में मैं ही नहीं मेरे सभी साथी संदेह के पात्र थे। एंड्रूज और पियर्सन दोनों शांति निकेतन में पढ़ते थे। एंड्रूज ने अपने आपको बहुतेरे कामों में लगा रखा था इसलिए अपने लेखन, भाषण और पत्र-व्यवहार के बाद उन्हें जो समय मिलता था और अपनी सामाजिक और राजनैतिक यात्राओं से जो समय वे बचा पाते थे, केवल उतना ही शांति निकेतन में अध्यापन के लिए दे पाते थे। पैट्री ने लिखा था कि अपने देशवासियों को भला-बुरा कहने की आदत से एंड्रूज लाचार हैं। पियर्सन 1917 के युद्ध के समय जापान में थे। घूम-फिर कर 1921 में वे बोलपुर (शांति निकेतन) लौट आए थे। इसके बाद दो-तीन साल ही उनका मेरा साथ रहा। एंड्रूज और पियर्सन दोनों ही मेरे दृष्टिकोण से सहमत थे और दोनों ही के साथ मेरी मैत्री थी।

एंड्रूज और पियर्सन के सिवा शांति निकेतन के अध्यापकों के चरित्र के बारे में पैट्री ने तीखी आलोचना की थी। उनके संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए पैट्री ने लिखा था कि युद्ध के बाद मैंने हारवर्ड के शिक्षकों और व्याख्याताओं के प्रति प्रगाढ़ प्रेम दर्शाया है और मित्र राष्ट्रों का विपक्षी होने के नाते उनके प्रति विशेष सम्मान व्यक्त किया है। इनमें डा० बर्नार्ड वे नामक एक रसायन शास्त्री थे। बर्नार्ड कुछ समय पाण्डिचेरी में भी रहे थे और वहां उनकी भेंट अरविन्द घोष से हुई थी। पुरातत्व के विशेषज्ञ नार्वे के रहने वाले डा० स्टेनकोनाव भी मेरे मित्र थे और अध्यापन कार्य में उनसे मुझे सहयोग मिला था। युद्ध के दौरान कोनाव को अभूतपूर्व प्रसिद्धि मिली। उन्होंने भारत में अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध अपने विचार कई लेखों में व्यक्त किए थे। फ्रांस में जन्मे सिलवांलेवी एक यहूदी थे। वे जन्मजात क्रान्तिकारी थे और इनसे भी मुझे अपने काम में सहयोग मिला था। इन विदेशियों के अतिरिक्त नरसिंह भाई पटेल शान्ति निकेतन के जाने-माने प्राध्यापक थे। उनकी क्रान्तिकारी विचारधारा के फलस्वरूप उन्हें बड़ौदा से निष्कासित कर दिया गया था।

शान्ति निकेतन में शिक्षा प्राप्त ऐसे अनगिनत विदेशी थे जो बीच-बीच में शान्ति निकेतन की यात्रा करते रहे। इन्हीं विद्यार्थियों में से फैरिमन नामक एक जर्मन था। हिन्दुस्तान में फैरिमन के बारे में सिर्फ इतना ही कहा जा सकता था कि किसी समय वे शांति निकेतन में पढ़ाते थे लेकिन योरूप के उन बाजारों में फैरिमन का बड़ा नाम था जहां युद्ध के सामान की खरीद और बिक्री हुआ करती थी। जब फैरिमन अंतिम बार शीत ऋतु में भारत में आए तो उनकी यात्रा अनेक रहस्यों की परतों में लिपटी हुई

मानी गई । अपनी इस यात्रा के दौरान फेरिमन बोलपुर आए थे और शांति निकेतन में उनका भाषण हुआ था । पेशावर के रहने वाले केशोदास सबरवाल 1915 में ही भारत से जापान चले गए थे । जब वे लौटकर 1924 में भारत आए तो मैंने उन्हें अपना सचिव नियुक्त करने का विचार किया था । जापान में केशोदास को भगोड़े की तरह लुकना-छिपना पड़ा, यह बात मुझे बाद में मालूम हुई थी । शांति निकेतन के ऐसे ही विद्यार्थी और बाद में वहां के अध्यापक बलबीर ने रासबिहारी बोस को एक पत्र मार्च, 1925 में लिखा था । रासबिहारी बोस तो जाने-माने क्रान्तिकारी थे ही । बलबीर की रासबिहारी बोस को लिखी वह चिट्ठी कलकत्ते में पैट्री के हाथ लग गई और उसी के आधार पर बलबीर पुलिस की निगाह में चढ़ गए । शांति निकेतन के भूतपूर्व विद्यार्थी नानीगोपाल मुखर्जी का भी वही हाल हुआ । वे डलहौजी बमकांड (1911) के अभियुक्त थे ।

1925 तक शांति निकेतन में किसी भी प्रकार की क्रान्तिकारी गतिविधि का कोई चिह्न नहीं था और इसकी पुष्टि बंगाल सरकार के आलेख से सहज ही हो जाती है । तो भी तत्कालीन केन्द्र सरकार द्वारा दिए गए संदर्भों से बंगाल के गुप्तचर विभाग के अधिकारी यह सोचने के लिए बाध्य हुए कि "रवीन्द्रनाथ का शांति निकेतन का भवन नहीं, क्रान्ति का गरमागरम बिस्तर है ।"

भारत के तत्कालीन वाइसराय लार्ड लिटन (द्वितीय) शांति निकेतन के संबंध में पुलिस द्वारा की गई छानबीन से जरा भी प्रभावित नहीं हुए थे । जहां तक मुझे स्मरण है, 19 जुलाई, 1925 को उन्होंने लिखा था कि 'रवीन्द्र नाथ के बोलपुर विश्व-विद्यालय के संबंध में पेश की गई पुलिस की रिपोर्ट से मैं तनिक भी प्रभावित नहीं हुआ हूं और उसके आधार पर इस संस्था के बारे में कोई मत स्थिर करने के पक्ष में नहीं हूं । मैं इस संस्था से व्यक्तिगत रूप से संबद्ध हूं इस कारण पुलिस की राय से पूरी तरह सहमत नहीं हूं । पुलिस ने जो तथ्य प्रस्तुत किए हैं उनसे मेरा विरोध नहीं है लेकिन इस तथ्यों की जैसी व्याख्या पुलिस ने की है वह मुझे नहीं जंचती । मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है कि पुलिस इस संस्था को संदेह की दृष्टि से देखे तथापि संस्था के बारे में मेरा अभिमत रवीन्द्र नाथ की प्रभावशीलता, उनके लक्ष्य और उनके आदर्शों पर निर्भर है—ऐसे व्यक्तियों की अंग्रेजी विरोधी भावनाओं पर नहीं जो इस संस्था में पढ़ते या पढ़ाते हैं । मैं अच्छी तरह जानता हूं कि रवीन्द्र नाथ ने शांति निकेतन की स्थापना उन लोगों के लिए की है जो सरकारी संस्थाओं में पढ़ने के इच्छुक नहीं है । इन्हीं लोगों के लिए शिक्षा की सर्वोत्तम व्यवस्था के उद्देश्य से शांति निकेतन बनाया गया है और इसलिए भी कि वहां के विद्यार्थियों का ध्यान राजनीति से हटकर पढ़ाई-लिखाई की ओर लगे । यदि बोलपुर स्थित यह संस्था सफल होती है तो निश्चय ही महान् उद्देश्य की पूर्ति होगी । मैं भलीभांति जानता हूं कि संस्था की अब तक की सफलता केवल 'सर' रवीन्द्र नाथ पर निर्भर है । किसी भी शैक्षिक संस्था के बारे में समुचित राय शिक्षा विभाग ही दे सकता है । इसीलिए मेरा सुझाव है कि बंगाल की सरकार के शिक्षा विभाग से शांति निकेतन के बारे में शैक्षिक दृष्टिकोण से राय देने के लिए कहा जाना चाहिए . . . ।'

वाइसराय के इस निर्देश के अनुपालन में ई० एफ० ओटन नामक डाइरेक्टर आफ पब्लिक इंस्पेक्शन (4 सितम्बर, 1925) ने शांति निकेतन की यात्रा की थी और संस्था की जांच के बाद जो रिपोर्ट उन्होंने दी वह बंगाल सरकार के शिक्षा विषयक आलेखों में अत्यंत महत्वपूर्ण और श्रेण्य अभिलेख है । यह अभिलेख शांति निकेतन में आयोजित अभूतपूर्व शैक्षणिक प्रयोग पर ऊंचे दर्जे का विश्लेषण भी है । ओटन ने लिखा था—इस संस्था के लक्ष्यों की पूर्ति तीन दिशाओं में दिखाई देती है—पूर्वात्य ज्ञान के संबंध में अनुसंधान, कलाओं का प्रशिक्षण और ग्राम संगठन । इन तीनों दिशाओं में संस्था ने बहुत कुछ पा लिया है । यह संस्था एक अद्वितीय शैक्षिक केन्द्र है जहां अभिनव प्रयोग किए जा रहे हैं । इनका प्रतिफल भविष्य में ही प्रकट होगा । मैं आशा करता हूं कि एक न एक दिन यहां वह सब कुछ हो जाएगा जिसके लिए आज प्रयत्न किए जा रहे हैं । खुले आकाश के नीचे लगने वाली कक्षाएं, सुसज्जित कमरों में लगने लगेंगी लेकिन फिर भी यह कोई नहीं चाहता कि यहां बसने वाली आत्मा बदल जाय । प्रांत की शैक्षिक गतिविधि के लिए और उसके परिष्कार के लिए यह परम आवश्यक होगा ।

19 सितम्बर, 1925 को बंगाल सरकार ने यह रिपोर्ट भारत सरकार को भेज दी थी । गृह विभाग के ऊंचे अधिकारियों को यह मानने के लिए विवश होना पड़ा कि बंगाल के डी० पी० आई० की जिस रिपोर्ट को वहां के शिक्षा विभाग ने स्वीकार किया है, वह लार्ड लिटन के अभिमत से मेल खाती है ।

मुझे सिर्फ इस बात का खेद है कि लंदन स्थित इण्डिया आफिस ने शांति निकेतन को पहुंची उस क्षति को पूरा करने की कोई कार्यवाही नहीं की जो न्यूयार्क में बसे एक अंग्रेज अधिकारी की भूल से शांति निकेतन के लिए हानिप्रद सिद्ध हुई । मुझे आज भी प्रसन्नता है कि मैं अपने संगी-साथियों के साथ शांति निकेतन में अपना काम अबाधित गति से करता रहा । हालांकि पुलिस की निगाह हम पर बराबर लगी रही । ' आगे फिर कभी ।

तुम्हारा
अरस्तू

वसन्ती दिन : (एक भाव चित्र)

'आरिगपूडि'

सूरज के ढलते ही श्री बेनिगल और उनकी पत्नी मोहनी अपने छोटे बंगले से निकल कर समुद्र तट की ओर निकले। वे रोज यूं टहलने निकलते और किसी का उन पर कोई खास ध्यान न जाता। अगर वे बूढ़े होते, निवृत्त होते, बिल्कुल मामूली होते और उनको लोग देखते भालते न तब कोई बात न होती, पर वे तो प्रसिद्ध व्यक्ति थे–श्री बेनिगल शास्त्रीय संगीत में, और मोहिनी नृत्य में। दोनों का गौरवमय अतीत था, कभी पत्र पत्रिकाओं में बड़े बड़े अक्षरों में उनके नाम छपते थे। उनकी कला के बारे में बड़े बड़े लेख प्रकाशित होते थे। जहां कहीं वे जाते साथ उनकी शोहरत जाती। और अब हालत यह थी कि उनकी ओर कोई देखता भी न था।

श्री बेनिगल के गाल लटक से गये थे, आखें भी धंस गई थी, और ओठों में लपेट सी आ गई थी, और रह रह कर मुख से लार टपकती थी।

कभी श्री बेनिगल बड़े खूबसूरत रहे होंगे। सेहत भी अच्छी रही होगी। वह रोबदार, छैल छबीला, युवक अब दयनीय अवस्था में थे।

वे तरुण थे, और अपने क्षेत्र में, अपनी वृत्ति में चोटी पर थे कि एकाएक उनका मुंह एक ओर लटक गया, चेहरे का पक्षाघात हो गया।

प्रायः सभी ने—उनके परिवार ने, उनके प्रशंसकों ने, मित्रों ने धीमें धीमें उनको छोड़ दिया था, किन्तु मोहनी जो उनको सबसे पहिले छोड़ सकती थी, साया की तरह उनके साथ थी, और दिन रात उनकी सेवा शुश्रुषा कर रही थी। बह एक ऐसी जाति की थी जिसका सोने से अधिक अनुराग होता है बनिस्पत पतियों से।

श्रीमती मोहिनी, जो कभी विख्यात नर्तकी थी, अब केवल गृहणी मात्र थीं। जो कभी अत्यन्त सुन्दर थीं, अब निहायत सादी स्त्री थीं। जो कभी शोहरत के लिये तड़पती थीं, आज उससे दूर रहना पसन्द करती हैं। वह कभी विलासी थीं। बड़ी शान शौकत के साथ आलीशान मकान में रहती थी। बहुत बड़े चढ़े थे उनके रहने सहने के ढंग। बड़ी मुश्किल से पायी थी अमीरी, इस कारण वह उसका पूरा आनन्द लेती। और अब?

बेनिगल समुद्र के किनारे बैठ गये। लहरें उनके तलवे चाट रही थीं। रेत अंगुलियों में से फिसल रही थी उनको गुदगुदी सी हो रही थी। वे यह जान कर मन ही मन खुश होते, कि उनके पैरों में अब भी वह स्पर्श शक्ति थी, जो उनके चेहरे से चली गई थी।

उनकी पत्नी भी, साड़ी घुटनों तक उठाकर, लहरों के बीच खड़ी थीं। लहरें आतीं, थोड़ी थप-थप सी ध्वनि होती, और उनको लगता कि वे पायल जिनको छोड़े बहुत समय न हुआ था, गल गल कर रहे थे। विचित्र अनुभव था।

जब कभी वे दोनों इस तरह बैठते, अपने अतीत की दुनिया में खो जाते—उन वसन्ती दिनों में, जिनकी अब स्मृति ही शेष रह गई थी। मोहिनी बोलना न चाहती थी, और बेनिगल बोल न पाते थे।

चन्द्रमा नीले समुद्र के ऊपर से लाल लाल गोले की तरह उठ रहा था। यह दृश्य देखने के लिये ही वे रोज वहां चले आते थे। चन्द्रमा का शायद उन लोगों के लिये विशेष आकर्षण है जिनके जीवन में सूर्य अस्त हो चुका होता है। चन्द्रमा उनके लिये पुनरुत्थान का प्रतीकसा है।

एक दुबला पतला, पीला पीला आदमी हांफता हांफता उनके पास आया "मेरा नाम राव है"। उसने अपना परिचय स्वयं दिया।

"हां, हम जानते हैं, पर आजकल हम पत्र पत्रिकाओं के प्रतिनिधियों से नहीं मिलते हैं" मोहिनी ने बड़े ही रुखे लहजे में कहा। "पर अब मैं किसी पत्र पत्रिका के लिये काम नहीं करता हूं। मेरा पन्ना जरूर काट दिया गया है, पर अभी इतना गया गुजरा नहीं हूं—" राव ने न मालूम क्यों ठहाका किया।

श्री बेनिगल और मोहनी गंभीरता के साथ चुप रहे।

"सेनिटोरियम से डिस्चार्ज होते ही, मैं आपके पराने मकान पर गया—"

बेनिगल और मोहनी के चेहरों पर मुस्कराहट दौड़ गई।

"वहां किसी ने बताया कि आपने मकान बेच दिया है, मगर किसी ने यह नहीं बताया कि आप रह कहां रहे हैं"।

"हम वहाँ रहते हैं, सड़क से परे, पेड़ों की झुरमुट के पास, छोटे से घर में--" मोहनी ने अपना घर दिखाते हुये कहा ।

"हां, आखिर प्रकृति के पास आना ही होता है शान्ति खोजते खोजते । संफलता तो एक प्रकार की अनन्त तृष्णा ही है, इसके होते न आराम है, न राहत ही। खैर, मैं जरा ज्यादा बोलता हूं, माफ कीजिये। अक्सर ऊंटपटांग बातें करता हू" ।

"नहीं तो, आप ठीक ही तो कह रहे हैं-" मोहनी ने इस तरह मुस्कराते हुये कहा, जैसे दिखाऊ रईस औरतें प्रायः करती हैं ।

आपके रिकाडों के लिये दुकानें छानता रहा। रिकार्ड भी न थे। सब बिक विका गये थे, और नये निकाले नहीं जा रहे हैं । न नये हैं न पुराने --राव कहते जाते थे।

बेनिगल ने माथा समेट कर भौहें सिकोड़ने की कोशिश की, पर वे हिली नहीं । बड़ी कठिनाई के साथ उन्होंने कहा, "न न ही ही, में, अ ब गा ता न हीं हूं" कहते कहते बेनिगल ने अपने बंगले की ओर सिर फेर लिया।

राव का चेहरा एकाएक तन सा गया । वह गंभीर हो गया । उसने देखा कि राव के मुख से थूक बह रहा था" । माफ कीजिये, मैं नहीं जानता था । माफ कर देंगे न ?

कभी भी बेगिनगल हंस मुख, खुश मिजाज आदमी न थे । और अब अगर कोई पुराना जान पहिचान का मिल जाता तो चेहरा लम्बासा कर लेते । फौरन उनकी मूड बदल जाती।

मोहनी खड़ी हो गई, और सड़क की ओर चलने लगी। श्री राव भी उनके साथ साथ चलने लगे।

"दवा दारु तो खैर हुई, अगर आज मैं जिन्दा हूं तो आपके पति के संगीत के कारण ही । सचमुच संगीत एक प्रकार की औषधि है । यह मनुष्य के मन को एक ऐसे स्तर पर ले जाती है, जहां बीमार अपनी बीमारी भूल जाता है, और इससे कितना सन्तोष मिलता है।

"हूं", बेनिगल ने सिर हिलाया ।

"मैं आपके संगीत का बड़ा शौकीन था-हूं" जब कभी आपके संगीत का कार्यक्रम होता मैं अवश्य सुनने जाता । मेरे पास आपके बहुत से रिकोर्ड थे । मैं जब बीमार था तो रोज उनको सुनता । मेरा अब भी यही विश्वास है कि आपके संगीत ने ही मुझे ठीक किया । इसलिये आप से स्वयं मिल कर अपनी कृतज्ञता जताना चाहता था।" श्री राव ने कंपती हुई आवाज में कहा।

श्री बेनिगल ने सिर हिला दिया।

"मगर संगीत के कलाकार को कहां से संतोष मिले श्रीमती मोहनी बिना पूछे न रह सकी।

"सं-संगीत से, और किससे--" श्री बेनिगल हकलाये ।

"मैने सोचा था कि आपसे ही आपका संगीत फिर सुनूंगा--" शायद राव कुछ और कहते अगर मोहनी उनको चुप रहने का इशारा न करती। श्री बेनिगल के छोटे से बंगले में सिर्फ तीन ही कमरे थे । दोनों तरफ खुले बड़े बराण्डे थे । और उनके पास तीन तरफ झाउ और काजू के पेड़ थे । एक तरफ गरजता सुमुद्र था । बेनिगल प्रायः बराण्डे में ही, एक आराम कुर्सी पर अपना वक्त काट देते थे । बैठे बैठे दूर कहीं देखा करते थे, शायद अतीत की ओर, अदृश्य स्मृतियों को कुरेदते से।

श्रीमती मोहनी, और राव अन्दर कमरे में गये । कमरा खाली सा था । सिर्फ एक मेज थी, और उस पर रिकार्डों का ढेर था । और उनसे सट कर एक रिकार्ड प्लेयर । "आप मेहरबानी करके कुछ रिकार्ड बजाइए न" राव ने प्रार्थना की।

"ओह, मोहनी को न सूझा कि क्या कहे ।" रिकार्डों पर मिट्टी की मोटी परत थी।

"लगता है, ये बजाये नहीं जाते है ।" राव ने कहा।

मोहनी दवी आवाज में कहने लगी, "वे अपना संगीत सुनना नहीं चाहते हैं। वे सोचते हैं कि उनका संगीत निरर्थक है, बिल्कुल बेजान । उसमें दिखावा अधिक है, वह दिव्य शक्ति नहीं, जिसका संगीत वाहन समझा जाता है, भले हो विशेषज्ञों की कुछ भी राय हो ?"

"मैं जब इतनी दूर से आया हूं, तो आप बिना उनका संगीत सुनवाए वापिस न भेजेंगी । उनके घर ही उनका संगीत सुन कर मुझे ऐसालगेगा जैसे उनके मुख से ही सुना हो । अभी उनका संगीत है, जिस पर कोई पक्षपात का प्रहार नहीं हो सकता, जो हमारे लेखों की तरह न सड़ेगा न गलेगा ।" राव, श्रीमती मोहनी को मना रहे थे।

"अच्छा, खैर, दरवाजा बन्द कर दीजिये । एक दो रिकोर्ड सुन लीजिये । मैं बाहर उनके साथ बैठी रहूंगी। श्रीमती मोहनी अन्दर रसोई में गईं । एक प्याले में दूध, तश्तरी में कुछ बिस्कुट, और फल लेकर उनके पास गईं।

"उनसे कहिए कि वह संगीत बन्द कर दें, मह अपनी ही कमियां नहीं सुन सकता । संगीत क्या है, "अहं" का चित्र है" श्री बेनिगल ने एक कागज पर घसीटा।

मोहनी कमरे में गई, और रिकोर्ड प्लेयर बन्द कर दिया। और जब श्री राव बराण्डे में आये, तो श्रीमती मोहनी ने उनके हाथ में एक चिट दे दिया, उस पर लिखा था :—

"आप एक गन्दे दिल का गन्दा संगीत सुन रहे थे, एक ऐसे दिल का जो ईर्ष्या और जलन के कारण काला था। संगीत सुनना है, तो सुन्दर का संगीत सुनिये। भगवान ने मुझे शायद संगीत की कला दी, और उनको संगीत का हृदय। संवेदना, अनुभूति की तीव्रता। उनके संगीत में उनके हृदय की तड़पन है। और उनका हृदय मेरे हृदय से कहीं अधिक स्वच्छ है। शुद्ध है। उनका संगीत उनके अन्तर का चित्र है। मेरा संगीत वह न था। सरगम का उगल देना संगीत नहीं होता। मेरा "अहं" उसमें था, और मेरा 'अंह' बहुत गन्दा था। संगीत 'अहं' का प्रदर्शन नहीं है, उसका समर्पण है। सुन्दर को सुनिये" राव ने उसे जोर से पढ़ा। श्री बेनिगल ने पीठ सीधी की, और लम्बी आह ली।

श्रीमती मोहिनी बरान्डे की ओर चली–यह दिखाने के लिये उस समय बेनिगल को एकान्त में छोड़ देना अच्छा था। और राव हाथ जोडे उसके पीछे चले गये।

श्री राव को श्री बेनिगल का संगीत तो बहुत प्रिय था, पर वे उनके जीवन के बारे में कम ही जानते थे, यद्यपि उन्होंने उनके बारे में वे सब अफवाहें सुनी थीं, जो प्रायः प्रसिद्ध व्यक्तियों के बारे में चल पड़ती हैं। श्री राव ने उनके जीवन के बारे में पूछ ताछ की। कुछ पढ़ा सुना।

उनको पता लगा कि श्री बेनिगल की, मोहिनी के अलावा एक और पत्नी थी। मोहिनी और बेनिगल का वृत्ति के सिलसिले में ही मिलन हुआ। वे संगीत के कलाकार और मोहिनी नृत्य की कलाकार। दोनों के कार्यक्रम तो अलग-अलग होते थे, पर दोनों सजातीय आत्माओं की तरह एक-दूसरे की ओर खिचने लगे।

श्री राव ने यह भी जाना कि सुन्दर, जिनका संगीत सुनने के लिए श्री बेनिगल ने आग्रहपूर्ण सुझाव किया था, उनकी जिन्दगी में इस तरह आये, मानों तिकोनी प्रेम कथा पूरी करनी हो। वे संगीत के फनकार और पारखी तो थे ही, इसके अलावा एक घनी, शालीन आभिजात्य परिवार के सदस्य भी थे। बहुत-सी सम्पत्ति के मालिक थे, वे मोहिनी पर मुग्ध थे। उनकी मदद से ही मोहिनी अपने क्षेत्र में जम सकी थीं। उनकी ही सहायता से वह नृत्य में इतनी बड़ी हस्ती बनी थीं।

श्री सुन्दर संगीत के कलाकार के तौर पर बेनिगल के प्रतिद्वन्दी भी थे। उन दोनों की गायन शैली एक जैसी थी। उनकी लोकप्रियता भी एक तरह के समाज में थी। वे दोनों एक दूसेरे से आगे बढ़ना चाहते थे। इसके लिए बेनिगल ने क्या नहीं किया, चुगलछोरी की, तिकड़मबाजी की, अखाड़ेबाजी की। उन पर कीचड़ उछाला चूंकि मोहिनी उन दोनों के बीच थी, इसलिये उनके पारस्परिक संबंध बड़े कड़वे थे। श्री सुन्दर ने अपना सर्वस्व मोहनी पर लगा दिया था।

उनके प्रेम की कोई सीमा न थी। मोहिनी भी उनके प्रेम का उत्तर प्रेम से दे रही थी। लेकिन आखिर उनके प्रतिद्वन्दी बेनीगल की हो गई। वे सुन्दर से अलग हो गई, और इस अलगाव के कारण श्री सुन्दर की हालत एकदम बिगड़ गई। वे प्रेम स्पर्धा में हार गये थे। वे अपने गाँव चले गये। अब भी वहीं हैं। अविवाहित हैं। कभी कभी अपने संगीत का रिकार्ड बनवाते हैं और उनके संगीत की श्रेष्ठता के बारे में विज्ञवर्गों में काफी चर्चा रहती है।

मोहिनी क्या उनके पास आयी कि श्री बेनिगल का व्यवहार इस तरह रहा जैसे वे कोई बड़े विजेता हों। वे अपने क्षेत्र में बहुत बड़े हो गये। उनकी खूब प्रशंसा हुई। खूब पैसा कमाया। वे धनी हो गये।

वे अपने क्षेत्र में बड़ी चोटी पर थे, और मोहिनी अपने ही क्षेत्र में। बहुत मशहूर। दोनों की बढ़िया जोड़ी थी। जैसे वे दो जुड़वां कलाओं के दो जुड़वे प्रतिनिधि हों। अभी चार पांच साल हुये थे कि बेनिगल के मुख को पक्षाघात हो गया। और उनकी आवाज जाती रही। और वह संगीत, जिसके भरोसे वे जीते थे, उससे वे वंचित हो गये। मधुर स्वर शान्त हो गया। तब वे दोनों समुद्र के तट के एकान्त में रहने आ गये।

श्री राव यह न सुलझा पा रहे थे कि आखिर जीत किसकी हुई? बेनिगल की या सुन्दर की। जब वे एक दिन श्री बेनिगल से मिलने गये तो ये प्रश्न ही उनके मन में बुलबुला रहे थे।

"क्या आपने सुन्दर का संगीत सुना?" श्री बेनिगल ने संकेत से पूछा। "हां, इनका संगीत सचमुच बहुत अच्छा है। स्वर्गिक है। बहुत ही उत्कृष्ट?"

पास की तिपाई पर कुछ कागज थे, और दो पेन भी। मोहिनी कहीं पिछवाडे में शाक सब्जी की क्यारियों की देख भाल कर रही थीं। श्री बेनिगल ने एक कागज पर लिखा। "क्या आप हमारी कहानी जानते हैं?"

"हां,"

"मुझे मोहिनी तो मिल गई, पर उस संगीत को खो बैठा, जिसे मैं मोहिनी से भी अधिक प्यार करता हूं। और सुन्दर मोहिनी खो बैठे, लेकिन उनको संगीत मिल गया। कौन जीता? कौन हारा? आखिर में, हर बात किसी न किसी तरह बराबर हो जाती है। मुझे नहीं मालूम" बेनिगल ने लिखा।

"ओह।"

"वह संगीत जिसमें पीड़ा नहीं है, दुख, क्लेष नहीं, जिसमें दुर्भाग्य के अनुभव नहीं है, वह केवल निष्प्राण स्वर सौध है। क्योंकि उसमें देवीय प्रेरणा नहीं है। जिसके बिना संगीत, संगीत ही नहीं है। मेरा संगीत ऐसा ही था। मैं मोहिनी को ले आया, और इस तरह मैंने सुन्दर को कष्ट दिया। उनको दुख दिया। उस दुख का उनमें उदात्तीकरण हुआ, वह दुख ही उनके संगीत की प्राण है। संगीत हृदय से आता है, और जब हृदय में दुख होता है, तो संगीत में जान आती है। मैं भी अब क्लेष झेल रहा हूं, पर मैं अपने क्लेष को, दर्द को, दुख को, अनुभूति को स्वर नहीं दे सकता।" श्री बेनिगल लिखते जाते थे।

"कितना बड़ा दुर्भाग्य है"

श्री बेनिगल के तिरछे ओठों पर मुस्कराहट ने बल खाया।

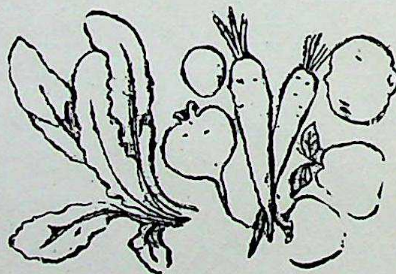
"हम संगीतज्ञ इस बात के पक्के होते हैं कि श्रुति ठीक हो। अगर एक स्वर गलत निकल जाता है, तो हम आग बबूला हो जाते हैं, जब कि हम हमेशा अपने से मेल बिना बिठाये ही गाते हैं ताकि सुनने वालों की वाह वाह मिले। हम संगीत के केवल प्रदर्शक हैं। मनोरंजन के विक्रेता हैं। पर जब हमारा अपने अन्तर से मेल बैठता है, एक प्रकार का समन्वय होता है तो संगीत के नये नये प्रतिरुप स्वत: उभरते हैं, हालांकि उनको हमेशा गाया नहीं जाता। गाया नहीं जा सकता। अगर आन्तरिक शान्ति हो तो मौन में भी संगीत है। संगीत मात्र मनोरंजन नहीं है, मनोन्नयन है?"

"परन्तु संगीत को घोटा नहीं जा सकता। चुप्पी में भी संगीत की गुन गुनाहट है। अब इसमें वह देवीय अनुकंपा है संकेत है, जो पहिले न थे और उसके कारण मैं कमीने तिकडमबाजी और अखाडे-बाजी से, ईर्ष्या, और जलन से उठ गया हूं, और शायद एक ऐसे आध्यात्मिक स्तर पर आ गया हूं, जब संगीत भी शान्त हो जाता है मेरा संगीत अन्तमुर्खी हो गया है, और मेरा "अहं"? ---इन बातों को कहा नहीं जा सकता, ये वे ही जानते हैं जो इसका अनुभव करते हैं।

इस बीच मोहिनी वहां आयीं। श्री राव ने उनसे पूछा "क्या आपको उन गुजरे दिनों की याद नहीं आती, जब आप भारत के नगर-नगर में शान के साथ जाते थे, और जगह-जगह आपका सम्मान होता था?"

"नहीं तो, अब हमें कहीं जाने की जरूरत नहीं है, वे तो अपनी मंजिल पर ही आ गये हैं, और शायद मैं भी आ गई हूं—सब कलायें वैयक्तिक परिपूर्ति के लिये ही हैं—आय के साधन नहीं हैं। हां, वे एक तरह के शानदार दिन थे, मगर अब ये शान्त वसन्ती दिन हैं। जब अन्तर में संगीत हो, तो वह न स्वरों में आता है, न मुद्राओं में ही।"

श्री बेनिगल ने सिर हिलाया, और श्री राव भी वहां की एकान्त शान्ति का, 'मुखर' संगीत का आनन्द लेते से लगते थे।



बाल गीत, जो लिखे नहीं गए

निरंकार देव सेवक

उपवन में जो फूल पौधों को पाल पोस और काट छांट कर खिलाये जाते हैं, उनसे वह जंगली फूल कम सुंदर नहीं होते जो बिना खाद-पानी के अपने-आप खिल जाया करते हैं। हमारे लोकगीत साहित्य में इधर-उधर बिखरे हुए कितने ही ऐसे बाल गीत मिलते हैं जिन्हें साज-संवार के साथ लिखने का प्रयास किसी ने नहीं किया था। वह कभी किसी अज्ञात काल में किसी अज्ञात बच्चे या बड़े के मुख से अनायास निकलकर बाल गीत बन गये थे और सैकड़ों वर्षों से अपने नैसर्गिक लालित्य से बच्चों का मनोरंजन करते आए हैं। आज की पत्र-पत्रिकाओं या पुस्तकों में प्रकाशित कराने के लिये सयास रचे गये, बाल गीत उनके नैसर्गिक लालित्य का मुकावला नहीं कर सकते। बच्चों की कोमल भावनाएं उन गीतों में जैसे उपयुक्त शब्दों में अभिव्यक्त मिलती हैं, वैसी पुस्तकों में प्रकाशित गीतों में कम ही मिलती हैं।

हिन्दी के यह अलिखित बाल गीत उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, राजस्थान, हरियाणा, दिल्ली, हिमाचल आदि हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों में युग-युग से बच्चों द्वारा गाये दुहराये जाते रहे हैं। ब्रज, अवधि, खड़ी बोली का साहित्य तो हिन्दी के अंतर्गत आता ही है, राजस्थानी, भोजपुरी बुंदेलखण्डी और मैथिली में भी बहुत से बाल गीत ऐसे हैं जिन्हें हिन्दी साहित्य के अंतर्गत लिया जा सकता है।

हिन्दी भाषा भाषी क्षेत्रों के निवासी सारे बच्चे लगभग एक से हैं। सबको जन्म से ही खुले मैदान, खेल, खलिहान, नदियां, पहाड़, आकाश, सूरज, चांद-सितारे आदि देखने को मिलते हैं। खुली धूप और निरभ्र आकाश की चांदनी में रहने वाले बच्चों के खेलों में भी बहुत कुछ समानता रहती है। बच्चों के पारिवारिक जीवन के स्नेह संबंध भी लगभग एक से होते हैं। होली, दशहरा, दीवाली, रक्षा बंधन आदि त्योहार भी सब जगह एक से मनाए जाते हैं। इसलिये कुछ क्षेत्रों की अपनी कुछ अलग विशेषताएं होते हुए भी लोक गीतों में मिलने वाले बाल गीत सब बच्चों के लिये एक से उपयोगी और मनोरंजक हो सकते हैं।

ब्रज भाषा क्षेत्र के बच्चों में टेसू, झांझी और चट्टा के गीत बहुत लोकप्रिय हैं। टेसू कौन थे, क्या थे, कब हुए? यह तो प्राचीन इतिहास के जानने वाले भी निश्चित नहीं कर पाए हैं। पर क्वार की दशमी से पूर्णमाशी तक बच्चे टेसू के गीतों को गाते पाए जाते हैं। वह बांस की खपच्चियों को कागज पन्नी से मढ़ एक मूंछोदार आदमी का मिट्टी का चेहरा उन पर रख कर टेसू बना लेते हैं। उसके एक हाथ में हुक्का और दूसरों में फूल होता है। और नाभिस्थल पर जलता हुआ दीपक रखने के लिये स्थान होता है। बच्चे घर-घर उस टेसू को सामने रखकर गीत गाया करते हैं। उन गीतों में बच्चों की कल्पना की उड़ान देखते ही बनती है। एक गीत में वह कहते हैं—

इमली की जड़ से निकरी पतंग
नौ सौ मोती, नौ सौ रंग।

घनी आबादी के किसी नगर में जब कहीं से कोई पतंग ठुमक ठुमक बढ़कर ऊपर आती है तो दूर से यह तो ज्ञात नहीं होता कि वह कहां से बढ़कर ऊपर आ रही है। पर उसे देखकर बच्चों को जो प्रसन्नता होती है उसी की अभिव्यक्ति इस गीत में है। उन्हें वह किसी इमली के पेड़ के नीचे से उड़ाई जा रही मालूम होती है। पतंग में अनेक रंग होते हैं। एक दो दस बीस नहीं, एक साथ नौ सौ रंगों की बात कह देना उनकी कल्पना शक्ति की तीव्र गति के अनुरूप ही है। पतंग के नीचे लटक रहे पन्नी के पुच्छल्ले से नौ सौ मोतियों की कल्पना भी अत्यंत स्वाभाविक है। इस गीत में आगे चलकर बच्चों की कल्पना अपनी तीव्र गति के कारण कहीं से कहीं पहुंच जाती है—

एक रंग मैंने मांग लिया
चढ़ घोड़े असवार किया।
दिल्ली जाय पुकारा है
मार सिकन्दर पहली चोट
चोट गई चूल्हे की ओट।
चूल्हे में मारो धक्का
जाय परो वा कलकत्ता
फिरंगी मेरो बच्चा
मैं बाको चच्चा।

अंतिम पंक्तियों में जो देश को गुलाम बनाए रखने वाले फिरंगी (अंग्रेजों) के प्रति वितृष्णा का भाव है वह समाज

के वातावरण में व्याप्त उस राष्ट्रीयता की भावना का परिचायक है जिससे स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में या उससे भी पूर्व बच्चे अप्रभावित न रह सके होंगे।

झांझी के गीत कुमारी लड़कियों के गाने के गीत हैं। वे मिट्टी के घड़े या हांडी में बहुत से छेद करके उसमें एक दीपक जला कर रख लेती हैं। उसे ही झांझी कहते हैं। वह उसे लिये हुये सामूहिक रूप से हास-परिहास करती हुई गाती फिरती हैं।

चट्टा के गीत विशेष रूप से भादो की चौथ या द्वादशी के दिन पढ़ने वाले बच्चों द्वारा गाये जाते हैं। झुंड के झुंड बच्चे घर-घर दरवाजों पर जाकर गीत सुना-सुनाकर बड़ों से पैसे या बताशे मांगते फिरते हैं। इन गीतों में बच्चों की विचित्र कल्पनाओं से ओत-प्रोत हास्य-व्यंग का खजाना भरा रहता है। एक छोटा सा गीत है—

एक नाऊ की नाउन खोटी
एक चना में सोरह रोटी
नाऊ गयो गूलर खान
पकरि लये चींटी के कान।
छोरि छोरि मेरे जिजमान
अब न आओं गूलर खान।

भावार्थ स्पष्ट है—एक नाई की पत्नी बड़ी खोटी अर्थात् चालाक या चतुर है। वह एक चने में सोलह रोटी बनाती है। नाई गूलर खाने चला गया। पेड़ पर उसे चींटियां चिपट गई। उसने चींटी के कान पकड़ लिये चींटी ने क्षमा मांगते हुए कहा हे यजमान मुझे छोड़ दे। मैं अब गूलर खाने नहीं आऊंगी।

इन गीतों में भावों का तर्क सम्मत तारतम्य देखना इनके सौन्दर्य को नष्ट करना है। एक दूसरे चट्टा गीत में एक सेठ की कैसी हंसी उड़ाई गई है—

एक चुही न मन में डरी
उछरि सेठ की धोती परी।
चूं चूं चूं चूं धोती करै
बनिया धोती पकरे फिरै।
जब बनिये ने दई दुहाई
घर तें दौड़ बनेनी आई।
....
भीर भई बनियन की भारी
....
सबने मिल पंचायत कीनी
आ चूही तू बाहर आ
घी शक्कर का भोग लगा। इत्यादि

प्रायः ऐसा भी होता है कि बच्चे इन गीतों को गाते हैं तो उनका कहीं अंत नहीं होता। वह एक के बाद दूसरी पंक्ति अपनी कल्पना से गढ़ गढ़ कर जोड़ते जाते हैं और जब तक उन्हें बड़े बूढ़ों से पैसे या बताशे नहीं मिल जाते वह घर के दरवाजे को छोड़ कर आगे नहीं बढ़ते।

अवधि और भोजपुरी लोकगीतों में भी अनेक ऐसे लोकप्रिय बाल गीत हैं जिनके रचनाकाल और लेखक के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। अवधि का यह बालगीत घर का कोई बड़ा बूढ़ा बच्चे को सुनाता है। वह शाम के समय घर के आँगन में चारपाई पर चित लेट कर अपने दोनों घुटनों को मोड़कर पंजों को ऊपर उठा लेता है। उन पर छोटे बच्चे को बैठा कर बार-बार पैरों के साथ बच्चे को ऊपर-नीचे झुलाता हुआ गाता है:—

खन्ता मन्ता थेई थै
एक कौड़िया पाई थै,
गंगा में बहाई थै,
गंगा मैया बालू दिहिन
ऊ बालू हम भुजवा क दीन
भुजवा हम्मै लाई दिहिस
ऊ लाई धस करवै दीन
धस करवा हम्मै धास दिहेस
ऊ धसिया हम गैया क दीन
गैया हम्मै दूध दिहिस
वहि दुधवा का खीर पकायऊं
....
चला भइया खाय ला
भइया मारेन दुइ लात।

गीत के अंत में पु लु लु लु लु... कह कर बच्चे को टांगों पर झुलाने वाला व्यक्ति अपने दोनों पैर ऊपर उठा देता है और बच्चा औंधे मुंह उसकी छाती पर आ गिरता है। दोनों हंसते-हंसते लोट-पोट हो जाते हैं।

भोजपुरी में भी इसी प्रकार का एक मनोरंजक बाल गीत है—

चांद मामू ओर आव बोर आव
नदिया किनारे आव
सोने की कटौरिया में
दूध भात ले ल आव
बऊआ के मुह में घुटुक।

आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी के मूर्धन्य कवि स्वर्गीय पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध ने कुछ कुछ इसी भाव को अपने निम्नलिखित बाल गीत में व्यक्त किया है:

चन्दा मामा दौड़े आओ
दूध कटोरा भर-भर लाओ,
उसे प्यार से मुझे पिलाओ
मुझ पर छिड़क चांदनी जाओ।
....
तू है मेरा चन्द खिलौना
मैं हूं तेरा छुन्ना मुन्ना।

खड़ी बोली हिन्दी में भी बहुत से बाल गीत ऐसे हैं जो अलिखित रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी गाये सुनाये जाकर बच्चों की जबान पर उतरते चले आए हैं । और जो बच्चों को आज के बड़ों द्वारा रटा रटा कर याद कराये जाने वाले लिखे लिखाये बाल गीतों से कहीं अधिक रोचक लगते हैं। उनके एक एक शब्द में बच्चों की भावनाएं ऐसी कूट कूट कर भरी हैं कि उनके रचनाकार की प्रतिभा पर आश्चर्य चकित रह जाना पड़ता है। एक ऐसे ही गीत की यह दो पंक्तियां बच्चों को गाते हुए किसने नहीं सुना होगा।

बरसो राम धड़ाके से।
बुढ़िया मर गई फ़ाके से।

यह दो पंक्तियां ही एक संपूर्ण बाल गीत हैं। मैदानों में कठिन गर्मी के बाद जब आकाश में बादलों का घिरना प्रारंभ ही होता है तब बच्चों को कितनी प्रसन्नता होती है। वह चिल्ला पड़ते हैं 'बरसो राम'। बादलों को 'राम' कहकर संबोधित करना उनकी अनोखी सूझ है। वह जानते हैं कि बादल को भी बनाने वाला राम है और उसकी कृपा के बिना वर्षा हो ही नहीं सकती। बादलों के बरसने को रिमझिम, झम-झम, टप-टप और बंगला में 'टापुर टुपुर' आदि शब्दों से व्यक्त किया गया है पर 'धड़ाके' शब्द में निधड़क होकर खूब जोर से बरसने का जो भाव है वह उनमें से किसी शब्द से व्यक्त नहीं होता । दूसरी पंक्ति में बादलों से इतनी जोर से बरसने का आग्रह करने का कारण भी बता दिया है। वर्षा न होने से गर्मी बहुत जोर की पड़ रही थी। पृथ्वी सूखी बंजर पड़ी थी नाज का दाना उग नहीं पाया इसलिये बुढ़िया फाके से मरी जा रही थी। बच्चों ने अपने भूख से व्याकुल होने की कोई बात नहीं कही। आकाल पड़ने पर जो सबसे दुर्बल होता है वही पहिले मरता है। या बूढ़ी माई के प्रति अधिक स्नेह भी उसकी भूख का वर्णन करने का कारण हो सकता है। हिंदी में इतना भाव पूर्ण कोई दूसरा बाल गीत नहीं मिलता।

इसी प्रकार के और भी बहुत से अलिखित बाल गीत हैं जो बच्चे खेल खेल में अक्सर गाते दुहराते पाये जाते हैं :

सूख सूख पट्टी
चंदन गट्टी
राजा आया
महल बनाया
झंडा गाड़ा
बजा नगाड़ा।

इस गीत को बच्चे तुकें जोड़ते हुए बढ़ाकर कहीं तक ले जाते हैं और जब समाप्त करना होता है तो कह देते हैं:

रानी गई रूठ
पट्टी गई सूख।

एक ऐसा ही छोटा सा गीत है—

दुन्दी लाल
चने की दाल
उड़ गई चुटिया नैनीताल
सर पर रह गए
बाल ही बाल।

इन सैकड़ों वर्षों से बच्चों के समाज में मौखिक रूप से प्रचलित बाल गीतों को संकलित करके अध्ययन किया जाए तो बाल मनोविज्ञान के बहुत से नये अध्याय खोलकर सामने लाये जा सकते हैं। और यदि यह भी पता लगाया जाए कि वह किस सामाजिक वातावरण में कब, क्यों और कैसे रचे गए थे तो उनका अध्ययन देश की सांस्कृतिक एकता की वृद्धि में बड़ा सहायक हो सकता है।



योग—एक उपचार विधि

मधुकर खेर

"योग सन्यासियों के लिए नहीं किन्तु उनके लिए है, जिनका व्यक्तित्व बिखर गया है। उनके लिए है जो जीवन में पराजित हो चुके हैं जो पलायन करना चाहते हैं तथा उनके लिए है, जिनका भोग से शरीर जर्जर हो गया है।" इन शब्दों में रायपुर में इसी माह हुए राष्ट्रीय योग सम्मेलन में योग विद्यालय मुंगेर (बिहार) तथा अंतर्राष्ट्रीय योग मित्र मण्डल के संस्थापक स्वामी सत्यानंद ने कहे।

उक्त राष्ट्रीय सम्मेलन में देश के विभिन्न राज्यों तथा क्षेत्रों के लगभग एक हजार प्रतिनिधियों के अतिरिक्त स्वामी सत्यानंद के अनेक विदेशी शिष्य भी सम्मिलित हुए थे।

सम्मेलन के समक्ष योग को एक सक्षम उपचार विधि तथा विश्व संस्कृति के रूप में स्वामी सन्यानंद तथा अनेक योगाचार्यों ने प्रस्तुत किया। योग सम्मेलन के विशाल पंडाल में भाषा, प्रदेश, जाति तथा सम्प्रदाय की न तो कहीं चर्चा ही दिखती थी और न ही कोई वक्ता अपने भाषणों अथवा प्रवचनों में भूलकर भी चर्चा करता था।

योग सम्मेलन में बताया गया कि संसार की जनसंख्या का 50 प्रतिशत से भी अधिक योग को अपना चुका है तथा पश्चिम के कई देशों में इसे एक शिक्षा पद्धति के रूप में अपनाया गया है। साम्यवादी रूस में योग के प्रयोग चले हैं तथा उसके द्वारा उत्पन्न मानसिक शक्तियों का गहरा अध्ययन प्रयोगों सहित किया जा रहा है। स्वामी सत्यानंद द्वारा यह मत व्यक्त किया गया कि चीन के लिए योग कोई नवीन वस्तु नहीं है तथा यदि उन्हें चीन यात्रा की अनुमति दी जावे तो वे उसे वहां एक मानवीय तथा वैज्ञानिक आंदोलन के रूप में स्थापित कर सकते हैं। वैसे सम्मेलन में कई वक्ताओं द्वारा यह कहा गया कि चीन की उपचार पद्धति एक्यूपंक्चर योग की प्राण विद्या के सिद्धान्तों पर ही आधारित है तथा प्राण विद्या का अस्तित्व प्राचीनकाल से रहा है।

पांच दिसीय सम्मेलन में अनेक वक्ताओं द्वारा विभिन्न रोगों के उपचार की चर्चा की गयी। अमेरिका के एक प्रयोग की चर्चा करते हुए बताया गया कि वहां कारावासों तथा पागलखानों में क्रमशः बंदियों तथा पागलों पर कुछ आसनों का प्रयोग कर आधुनिकतम यंत्रों द्वारा चिकित्सा शास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिकों द्वारा उनकी मानसिक तरंगों पर एक सामान्य व्यवहार का अध्ययन किया गया है इन प्रयोगों से ही स्पष्ट हुआ कि उनमे 15 दिनों में ही सुधार के लक्षण दिखने लगे।

शवासन तथा योग निद्रा द्वारा मानसिक तनाव, रक्तचाप तथा हृदयरोग को मिलनेवाली राहत तथा विभिन्न आसनों द्वारा विभिन्न रोगों की चिकित्सा पर वैज्ञानिक ढंग से अनेक वक्ताओं ने प्रकाश डाला। इंदौर के प्रख्यात डाक्टर आर० सी० वर्मा ने मानव शरीर पर बनाए गए विभिन्न वैज्ञानिक चार्टों के माध्यम से बताया कि योग मनुष्य को स्फूर्ति तथा शक्ति को उसके शरीर में ही संचित करता है। उसका अपव्यय नहीं होने देता। प्रोफेसर वर्मा के अनुसार प्राणायाम से मनुष्य में स्फूर्ति बढ़ती है तथा शवासन से शरीर का तापमान कम होता है।

इस दृष्टि से महाराष्ट्र में योग केन्द्र चलाने वाले योगाचार्य श्री के० वी० सहस्त्रबुद्धे ने एक नवीन प्रयोग की चर्चा की। बम्बई में कुछ संतानहीन माताओं को योग के प्रयोग से संतान प्राप्त हुई। श्री सहस्त्रबुद्धे ने कहा कि योग एक ओर जहां संयम की शिक्षा देता है जिसके द्वारा परिवार नियोजन किया जा सकता है, वहीं दूसरी ओर संतानहीन परिवार योग के द्वारा संतान प्राप्त भी कर सकते हैं।

योग को भारत सरकार द्वारा भी अब एक चिकित्सा विधि के रूप में मान्यता दी जा रही है तथा विभिन्न रोगों पर उसके प्रयोगों के लिए आर्थिक अनुदान भी दिया जाता है। पटना के चिकित्सा महाविद्यालय में स्वामी सत्यानंद के निर्देशन में हृदय रोग तथा हृदय से संबंधित अन्य रोगों पर प्रयोग चले हैं। सम्मेलन में स्वामी जी ने बताया कि उक्त कार्यक्रम के अन्तर्गत अनेकों हृदय रोगियों की सफल चिकित्सा की गयी। इसी भांति अपने प्रयोगों की चर्चा करते हुए योग केन्द्र गांधी ज्ञान मण्डल हैदराबाद के योगाचार्य दीक्षित लुल्लु ने बताया कि उनका 30 वर्ष पुराना एक्ज़ीमा 30 दिनों में ही योग के प्रयोग से ठीक हो गया।

राष्ट्रीय योग सम्मेलन में योग, छात्र तथा शिक्षा के संबंध में अनेक वक्ताओं ने अपने प्रयोगों की चर्चा की। योगाचार्य श्री दीक्षित लुल्लु द्वारा बताया गया कि उनके केन्द्र में अनेकों छात्रों ने उनके निर्देशन पर नेतिक्रिया का प्रयोग किया गया तथा इससे उनकी मानसिक प्रतिभा में वृद्धि हुई और परीक्षा में वे अच्छे अंक प्राप्त कर सके। योग विद्यालय मुंगेर के स्वामी शंकरानंद ने बिहार सरकार के निर्देश पर शैक्षणिक संस्थाओं में योग

शिक्षा का एक विस्तृत पाठ्यक्रम तैयार किया है जिसमें छात्रों की आयु का ध्यान रखते हुए विभिन्न आसन आदि सुझाये गए हैं। स्वामी शंकरानंद ने भी एक रोचक प्रयोग किया है। उनके द्वारा लगातार सात दिनों तक छात्रों को रेखागणित का एक प्रश्न समझाने का प्रत्यन किया गया किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। स्वामी शंकरानंद ने उन्हीं छात्रों द्वारा योगनिद्रा करवायी तथा उक्त प्रश्न का उत्तर समझाया गया। 50 प्रतिशत से भी अधिक छात्रों को इस विधि से उक्त प्रश्न भलीभांति समझ में आ गया।

उक्त सम्मेलन में विभिन्न वक्ताओं द्वारा योग का वैज्ञानिक पक्ष उपस्थित कर उसे एक प्रभावशाली उपचार विधि के रूप में प्रस्तुत करने में सफलता प्राप्त हुई है। सम्मेलन के साथ ही साथ रायपुर नगर में भी योग विद्यालय प्रारंभ किया गया जिसमें योग द्वारा अस्थमा के उपचार का प्रयोग प्रारंभ किया गया है।

जिन्दगी ग्रर मौत का संगम जहां

दीप की लौ तब वहां बुझ जायगी,
भोर से कर ले सुलह खुद तम जहां।

जिन्दगी संगीत का वह कंठ है
स्वर-निरन्तरता जिसे भाती रही
मौत रुकते कंठ का ही गीत वह
मूक हो वाणी जिसे गाती रही

स्वर तीर्थ खुद वाणी वहां कहलायगी
जिन्दगी ग्रर मौत का संगम जहां।

गीत, छाया, छन्द के सिंगार पर
भावना की धूप पड़कर जो बनी
प्रीत वह सुन्दर परी जिसके हृदय
पर बनी तसवीर घावों की घनी।

रागिनी जब कौन स्वर में गायगी
गीत की ही प्रीत से ग्रनबन जहां।

घाव वह क्रन्दन कि जिसका ग्रार्त्त स्वर
कान की ग्रांखों तमाशा ही रहा
चख वह गाथा बनी जो तृप्ति से
पर कथानक ग्रंत में प्यासा रहा।

जिन्दगी तो दर्द बनती जायगी
चख रुखे घाव फिर भी नम जहां।

तृप्ति वह थिरकन कि जो उठ कूल से
उर्मि को चुपचाप ग्राकर छू गई
प्यास वह रितु मांगने पर शीत जल
जो कि दे जाती निठुरतम लू नई।

रितु वहां रितुराज खुद कहलायगी
तृप्ति ज्यादा प्यास हो कुछ कम जहां।

राजेन्द्र धस्माना

हिमालय की पुकार

डा० शचीरानी गुर्टू

हिमालय ! जहां ऋषियों का आवास है। यहीं कृष्ण की वंशी की प्रतिध्वनि गूंज रही है। यहीं गौतम बुद्ध ने अपने उपदेश दिये थे। यहीं वेदों की रचना हुई थी। यहीं पाण्डव रहते थे। यहीं आर्यावर्त था और यहीं हिमालय की अमल धवल सुषमा का प्रसार।

हिमालय—भारत का मुकुट मणि !

हिमालय—मोक्ष का पुनीत प्रतीक !

उपर्युक्त उद्गार हैं—महान् रूसी कलाकार, कवि, लेखक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, पुरातत्वविद्, शिक्षाशास्त्री, तत्त्ववेत्ता तथा विश्व शान्ति एवं सांस्कृतिक समन्वय के अग्रदूत निकोलस रोरिक के जिन्हें हिमालय के हिमाच्छादित श्वेत किरीट, सूर्य के झलमल आलोक से थिरकते हिमानी रंगों, गगनचुम्बी श्रृंगों के खुले विस्तार, अनवरत गति से झरते रजत प्रपात और हिमाचल के जादू ने एक दिन बरबस मोह लिया था। धौलाधार का मंत्रमुग्ध करने वाला मुखर सौन्दर्य, सतरंगी प्रकाश-छाया की आंखमिचौनी सी खेलती लहरिल मादक मदहोशी, इन बिखरे सुनहरी सपनों की कांपती सी लुटती निधि, सन्ध्या व उषः वेला की इन्द्रधनुषी सुषमा में खोकर परिस्थिति, प्रभाव और परिदृश्य की चिरन्तन अनुभूति और उसका हर वातावरण-सापेक्ष मदिर भाव, सुरमित गन्ध और हर गति जो सायास नहीं मुक्त है और जिसका पारदर्शी रहस्य आत्मा से जा टकराता है—लगता है जैसे एक अनवरत उठती हुई राग और लय जो पकड़ में नहीं आती और किसी अजाने स्पर्श से खिल उठे फूल की तरह पावन है, कलाकार के अंतरंग सत्य की ऊष्मा से सांस—सांस में स्पन्दित होकर रंगों के तरल स्राव व रेखाओं के उभार को एक से अनेक और अनेक से समग्र अतिरेक तक विस्तार देती हुई एक विहंगम प्लावन में समाहित एक त्वरित आह्लाद की सृष्टि करती हुई सी प्रतीत होती है।

अपनी जन्म भूमि सेंट पीटर्सबर्ग से स्वीडन, डेनमार्क, पेरिस, फिनलैण्ड, इंगलैण्ड, अमेरिका आदि कतिपय देशों में एक जिज्ञासु यायावर की हैसियत से भ्रमण करते हुए वे सन् 1924 में एशियाई संस्कृति और अध्यात्म की खोज में भारत आए और हिमालय की क्रोड़ में ही उन्हें सत्य की प्रतीति हुई। हिमालय के अंतर्दर्शन ने उनकी संवेदनाओं को अनुप्राणित किया, उनकी सूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना को उभारा और उनके प्राणों में ऐसी शक्ति भर दी जो प्रकृति एवं मानव-मन के मार्मिक गूढ़ रहस्यों में अंतर्लय हो सकी। पाश्चात्य एवं प्राच्य कलारूपों में समन्वय स्थापित करने के लिए वे विभिन्नता में एकता की उपलब्धि साथ ही सृजनात्मक एवं आध्यात्मिक स्तर पर उन्हें एकमेक करने के इच्छुक थे।

9 अक्तूबर, 1874 को रोरिक का जन्म रूस में सेंट पीटर्सबर्ग के एक अभिजात्य परिवार में हुआ। पिता बैरिस्टर थे, पर मां की कलाभिरुचि विरासत में मिली जिसके बीजांकुर कालांतर में उनकी बहुमुखी प्रतिभा के साथ पल्लवित हुए। स्कूल के बाद सेंट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में ही इनकी उच्च शिक्षा सम्पन्न हुई। साथ ही साथ कला अकादमी, इतिहास एवं दर्शन के पाठ्यक्रमों, विधि संकाय तथा पुरातत्व संस्थान में भी ये अध्ययन करते रहे। बाद में आगे पढ़ने के लिए विदेश चले गए।

इनकी पत्नी हेलेना, जो एक सुप्रसिद्ध वास्तुकलाकार की पुत्री थी—सच्ची सहधर्मिणी के रूप में धर्म, दर्शन व मानवतावादी दिशा की ओर इन्हें उत्प्रेरित करती रही और इनकी दो संतति—ज्येष्ठ पुत्र जार्ज जो स्वयं एक महान् वैज्ञानिक और प्राच्य विद्या-वेत्ता है तथा दूसरा पुत्र—स्वेतोस्लाव जो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कलाकर है और अब भी कुल्लू घाटी में अपनी भारतीय पत्नी देविका रानी के साथ कला-साधना रत हैं, उन्हें सदैव सहयोग देते रहे।

रोरिक ऐक्य-साधक थे और विश्व भ्रमण से प्राप्त दृष्टि-विस्तार ने उन्हें युगीन समस्याओं को समझने की सामर्थ्य दी थी। 'रोरिक पैक्ट' एक ऐसा अंतर्राष्ट्रीय समझौता था जिसके अन्तर्गत परस्पर राजनयिक वैमनस्य और विनाशकारी युद्धों के आतंक से बहुमूल्य कला-थातियों तथा विज्ञान एवं शिक्षा संस्थाओं के संरक्षण की व्यवस्था कायम रह सके। विश्व के अधिकांश देशों ने इसकी अनिवार्यता स्वीकार की और इस संधि पर हस्ताक्षर किये।

एक विश्व नागरिक के रूप में रोरिक ने बड़े पैमाने पर भ्रमण किया। मध्य एशिया, मंगोलिया, चीन और तिब्बत में वे कई-कई बार गये। अमेरिका में 'मास्टर इंस्टीट्यूट आफ आर्ट्स' और 'इंटरनेशनल आर्ट सेंटर की स्थापना की, साथ ही रोरिक म्यूज़ियम के अवैतनिक अध्यक्ष भी वे नियुक्त हो गए। अपने अमेरिका प्रवास में वे विज्ञान और पुरातत्व के प्रोफेसर रहे। भारत लौटने पर उन्होंने पश्चिमी हिमालय की प्राकृतिक, वानस्पतिक तथा प्राणिजगत् सम्बन्धी खोजों में गहरी रुचि ली। रूस और मध्य एशिया में अनेक पुरातात्विक शोधों व भू-खनन सर्वेक्षणों में योगदान दिया। विश्व भर में उनकी इतनी मान्यता और प्रसिद्धि थी कि वे

कितनी ही अकादमियों तथा वैज्ञानिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक संस्थाओं के फैलो थे। कविता, नाटक, निबन्ध एवं लेखों में उनकी उर्वर कल्पना और अद्भुत चिन्तन के दर्शन होते हैं जिनमें कला, संस्कृति, दर्शन विषयों के अलावा पुरातत्व पर भी प्रचुर प्रकाश डाला गया है। समूचा रोरिक वाङ्मय लगभग 30 खण्डों में है।

रोरिक में कला एक स्वतन्त्र आस्था थी । वस्तुतः कलाकार को जिस ज्ञान, सौन्दर्य, जिज्ञासा एवं मानवीय गौरव के प्रति अपनी पहली ईमानदारी निभानी पड़ती है वही ऐसा लक्ष्य है जो परीक्षा की सच्ची कसौटी है। अनवरत अविच्छिन्न बहते समय के साथ स्पर्धारत दौड़ नहीं, वरन् लघु और सापेक्ष अहंकार की तृप्ति से ऊपर उठकर सृजन की साधना एक ऐसी जिजीविषा है जो अकूल और अछोर सृष्टि के रहस्यों को अपनी मुट्ठी में बांध सकती है। सम्पूर्ण चेतना से अनुभूत उसके लिए गहरी एवं व्यापक जीवन-दृष्टि चाहिए, न कि ऐसी सैद्धान्तिक दूरबीन जिसके द्वारा चीज़ों को दूर-पास करके देखा जाय। इसी कारण कदाचित् रूस की मार्क्सीय संस्कृति का यह श्रमण जीवन का सबसे बड़ा सत्य भारत की धरती में ढूंढ़ने निकल पड़ा और अनन्त आकाश में विजय यात्रा करके संसार के कोलाहल से परे हिमालय के हिमशिखरों में खो गया।

हिमालय के अनन्य प्रेमी, अपूर्व उपासक, प्रकृति के वरद पुत्र रोरिक ने कुल्लू के नग्गर नामक स्थान में अपना साधना-केन्द्र स्थापित किया। प्रकृति के साथ एकान्त एकालाप में उनके नेत्रों ने नए दृश्य देखे, कानों ने नई ध्वनियां सुनीं और उसके विविध आयामों में उन्होंने अपनी कला की नई भूमिका खोजी। उगते सूर्य के प्रथम स्पर्श से लज्जारुण लहरियों के अस्तव्यस्त नर्तन से शुभ्र, रक्त, नील, श्याम वर्ण रंग मिश्रित सुषमा में शराबोर और इस उपलब्धि के पूर्णतर उन्मेष से मोहमुग्ध उनकी दृष्टि न जाने कितना कुछ हृदय की गहराई से समेट लाई। अपने चारों और प्राकृतिक परिवेश की अनेक दृश्य छवियों को देखकर एक विचित्र सा आलोड़न उनके अन्तर में जगता और यूं हृदयावेगों का भाव-विन्यास उनके कैनवासों पर रूपायित होकर थिरक उठता। अपने इसी पार्वत्य प्रेम के कारण वे 'मास्टर आफ दि माउंटेन्स' कहलाये।

विराट् प्रकृति और वे स्वयं एक ही अनादि चैतन्य के अंश हैं—यह एहसास रोरिक को एक अनिर्वचनीय अनुभूति से ओतप्रोत कर देता। हिमालय का आकर्षण और प्रकृति की उपासना तथा उसके विभिन्न रूपान्तर व कण-कण, क्षण-क्षण की मुग्धकर मादक सौन्दर्य छवियों में पराचेतन शक्ति का आभास उनके लिए एक प्रकार से योग-साधना थी। अपनी इसी सहज निष्ठा के कारण उनका साधक मन सृजन में एकात्मय होकर रमा। दृश्यमान बिम्बों में अपनी भावनाओं को उद्भासित करने की उनकी तकनीक बेजोड़ थी। वे सिद्धान्ततः प्रतीकवादी तो नहीं थे, परन्तु भाव-संवेदना के व्यापक क्षितिज पर अद्भुत रहस्य की सम्मोहित मूर्च्छना में अनेक प्रतीकों की परिकल्पना भी उनकी कला में साकार हुई।

'हिमालय की महान् आत्मा', 'हिमकुमारी', 'हिमपर्वत पर सूर्यास्त, 'हिमदेवता' तथा अत्ताई से लेकर हिमालय पर्वत शृखलाओं के धूसर क्षितिज पर उषा एवं सन्ध्या की मनमोहक छवि की रंगीनियों एवं दृश्य भंगिमाओं के अलावा काश्मीर, लद्दाख, कंचनजंघा के चित्रण में उनकी आत्मा मुखरित हुई। उन्होंने लगभग सात हज़ार चित्रों का निर्माण किया जो भारत की विभिन्न गैलरियों एवं कला-संग्रहालयों में सुरक्षित है। तैल रंगों की तकनीक में सिद्धहस्त तो वे थे ही, भित्ति-चित्रण, पच्चीकारी और डिज़ाइन बनाने में भी उनका कोई सानी न था। मास्को के कज़ान रेलवे और स्मोलेंस्क के निकट तलाशकेनो गिर्जाघर में उन्होंने विशाल भित्तिचित्रों का निर्माण किया। वाग्नर, रिमस्की, कोरासकोव और बोरदां के आपेरा के लिए उन्होंने मंच सज्जा की तथा कतिपय नाट्य नृत्यों के आयोजन के अवसर पर उनके द्वारा सृष्ट डिज़ाइन 'क्लासिक' बन पड़े।

प्रकृति-प्रेम के कारण रोरिक में व्यक्तिगत परिधि से परे व्यापक मानववादी भावाकुलता जगी जिसमें अधीर हृदय का स्पन्दन है, सुन्दर भविष्य के सपनों की उत्फुल्लता है और तरंग-ताड़ित उथल-पुथल भरे मानव-मन की संतृप्ति। मनुष्य का मूल्य कहीं गिरता है तो सौन्दर्य-बोध ही मनुष्य जीवन के लिए संजीवनी मंत्र सिद्ध हो सकता है। कला के साथ-साथ मनुष्य की कल्पना ने न जाने कितनी उड़ानें भरी हैं। मनुष्य के मन से निकल कर गुहा-भिति पर जब मृग दौड़ने लगा तब मनुष्य की आत्मा ने भी उसके साथ कुलाचें भरी। आकाशचारी पंछियों के साथ वह ऊपर उड़ा तो धरती पर हरीतिमा का लहलहाता आंचल थामे अक्षत यौवना चिरसुन्दरी प्रकृति बाला के शिव-सुन्दर स्वरूप की कल्लोलमयी भावसरिता में भी उसने अवगाहन किया। रोरिक के शब्दों में—'हृदय से निस्सृत सृजनात्मक कला की किरण-ज्योति से आपके भीतर वह सृष्टा जाग जाता है जो चेतना की गहराई में निवास करता है। कला का असर उस गीत की तरह है जिसकी सुरम्य ध्वनि हमारे कानों में गूंजती रहती है। वह उस स्फटिक के टुकड़े की भांति है जिसे उठाकर देखें तो अनेक रूपों को देखकर हैरत होती है, पर वे समन्वयात्मक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। कलात्मक सृजन का भी यही मूल सिद्धान्त है।

रोरिक की कला भारत की अमूल्य धरोहर है जिसमें एक ओर पूर्व एवं पश्चिम के कलारूपों को जोड़ने वाले सामंजस्य सूत्र हैं तो दूसरी ओर भाव-साभ्य द्वारा गूढ़ आध्यात्मिक को कलात्मक स्वरूप प्रदान करने की चेष्टा। विश्व की समसामयिक कलाधाराओं के समानान्तर उनकी कला की विशेषता है 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' की उपलब्धि जिसकी अप्रतिम पावनता में अनन्त और अनादि की झलक मिलती है और प्रकृति व परमेश्वर के दर्शन भी होते हैं। वे साधक पहले थे और बाद में कलाकार । कला तो उनकी साधना प्रकट करने का मात्र माध्यम थी।

छपते छपते

कामायनी—अंग्रेजी काव्यानुवाद

हिन्दी साहित्य के अमर शिल्पी जयशंकर प्रसाद की महान कृति कामायनी के अंग्रेजी काव्यानुवाद का विमोचन माननीय शिक्षा मंत्री डा० प्रताप चन्द्र चन्द्र के कर कमलों से सम्पन्न हुआ। राष्ट्रीय संग्रहालय के सभागार में 5 अप्रैल, 1978 को आयोजित इस सुअवसर पर डा० चन्द्र ने कहा कि किसी भी कृति का अनुवाद करना अत्यन्त कठिन कार्य होता है फिर कामायनी जैसी गहन और गम्भीर कृति का अनुवाद, वह भी काव्यानुवाद तो और भी कठिन। पर अंग्रेजी के जाने माने कवि पत्रकार तथा कथाकार श्री मनोहर बन्धोपाध्याय ने इस महान कार्य को अत्यंत सफलतापूर्वक किया है। इसका अनुवाद अत्यंत सुन्दर बन पड़ा है। यह सराहनीय है। यह इनकी लग्न और निष्ठा का ही परिणाम है। इससे आगे उन्होंने अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहा यदि इसी तरह हमारे नवयुवक भारतीय भाषाओं की अमूल्य कई अन्य कृतियों का भी अंग्रेजी या अन्य विदेशी भाषाओं में अनुवाद कार्य करते तो यह देश व सम्पूर्ण मानवता के लिये बहुत ही बड़ा काम होता। इससे भारतीय समाज और संस्कृति को समझने में काफी मदद मिलती।

इतना ही नहीं माननीय शिक्षा मंत्री ने कामायनी को विश्व के पांच महा काव्यों में से एक बतलाते हुए इसके ऐतिहासिक व सांस्कृतिक महत्व की भी काफी चर्चा की। मनु भारतीय इतिहास के आदि पुरुष हैं। रामकृष्ण बौद्ध आदि भी इन्हीं की सन्तानें हैं। श्रीमद्भागवत में इन्हीं वैवस्वत मनु और श्रद्धा से माननीय सृष्टि का प्रारम्भ माना जाता है। महाप्रलय के बाद मनु की कहानी भारतीय साहित्य की एक अत्यन्त ही लोकप्रिय व सर्वमान्य कथा है। मनु तथा श्रद्धा के बाद ईडा भी पौराणिक पात्र है। संस्कृत में ईडा शब्द पृथ्वी अर्थात् बुद्धि वाणी आदि का पर्यायवाची है। अनुमान किया जाता है कि बुद्धि का विकास, राज्य स्थापना आदि ईडा के ही प्रभाव से मनु ने किया।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का वास्तविक आरम्भ प्रसाद की कृतियों के साथ होता है। कारण एक तो वे सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी थे दूसरा उनके समकालीन साहित्यकारों की रचनायें समय के साथ पुरानी पड़ आई हैं। जबकि प्रसाद की कृतियों का आज भी उतना ही महत्व है जितना कि रचना के समय। प्रसाद जी का जन्म सम्वत 1946 (ईश्वी सन् 1889) में सम्पन्न वैश्य परिवार में हुआ। विश्वास है कि उनका जन्म भगवान शंकर के वरदान से हुआ। इसीलिए उनका नाम जयशंकर प्रसाद रखा गया। बचपन में ही उनके पिता का देहावसान हो गया था। पारिवारिक परिस्थितियों वश उनका अध्ययन स्कूली दृष्टि से बहुत ही कम हुआ। घर पर ही आपने संस्कृत साहित्य का गहन अध्ययन किया। साहित्य प्रेमी परिवार में जन्मने के कारण आपमें साहित्य प्रेम बचपन से ही हो आया था। फिर पिता के बाद बड़े भाई की भी मृत्यु ने उन्हें कल्पना लोक से संघर्षमयी धर पर ला पटका। पर आप हिम्मत कहां हारने वाले थे। आपका जीवन मौन साधक सा रहा। साहित्यिक दल बंदियों से दूर ही रहना आपने अच्छा समझा। यही उनके लिये वरदान रहा। फिर आप केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता के हिमायती नहीं थे आप तो सांस्कृतिक जागरण भी साथ-साथ चाहते थे। आलोचक आपको रस और आनन्द के कवि मानते हैं।

•

इस अवसर पर हिन्दी के प्रतिष्ठित कवि गिरिजाकुमार माथुर ने श्री मनोहर बन्धोपाध्याय की लगन और निष्ठा के बारे में प्रकाश डालते हुए कहा कि इस कार्य को पूरा करने में बन्धोपाध्याय को पूरे दस वर्ष लगे। पहले पहल तो विश्वास भी नहीं हो पाता था कि यह सबसे संभव हो पायेगा? लगभग ऐसी ही बातें अंग्रेजी के लब्ध प्रतिष्ठित कवि और लेखक श्री केशव मलिक ने भी कही। उन्होंने तो यहाँ तक बताया कि बन्धोपाध्याय इस महान कृति का अनुवाद करते समय प्रसाद जी के घर तक गये। वहां से कई प्रेरक प्रसंगों की स्मृतियां अपने साथ सजोकर लाये। अंकुर प्रकाशन की ओर से श्रीमती शोभा मुखर्जी ने विमोचन समारोह में हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी, बंगला सहित कई अन्य भारतीय भाषाओं के उपस्थित लब्ध प्रतिष्ठित लेखकों और माननीय शिक्षा मंत्री डा० प्रताप चन्द्र चन्द्र आदि का आभार प्रकट करते हुए कहा कि आप सबके सहयोग से मुझे बल मिला है। मेरी योजना अन्य कई अमूल्य भारतीय कृतियों का अंग्रेजी में अनुवाद कराने की है।

कामायनी के अनुवाद कार्य की एक विशेषता यह भी है कि इस महान कृति का अनुवाद हिन्दी से हटकर बंगला भाषी श्री मनोहर बन्धोपाध्याय ने किया। आपका जन्म 1941 में राजशाही (वर्तमान बंगला देश) में हुआ। आप अंग्रेजी के कवि कथाकार पत्रकार तथा सफल आलोचक हैं।

कान्ता उप्रेती



पुस्तक परिचय

पुस्तक का नाम--'भेषज ज्ञान-दर्शन--प्राण व मन की चिकित्सा यजुर्वेद आधार से'

लेखक--डा० रामचन्द्र सिंह, सी-341, सरोजिनी नगर, नई दिल्ली

प्रकाशक--श्री भरत सिंह वैद्य, जि० मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

मूल्य--6 रुपये

लेखक एक बहुचर्चित होमियोपैथ डाक्टर है किन्तु उसने अपनी इस पुस्तक में आयुर्वेद चिकित्सा, प्राकृत चिकित्सा, होमियोपैथ तथा सिद्ध चिकित्सा पद्धतियों को लेकर एक नया दर्शन प्रस्तुत किया है। लेखक के दर्शन के अनुसार 'प्राण व मन से प्रत्येक रोग की चिकित्सा हो सकती है और प्रत्येक रोग का कारण भी मन और प्राण ही है।'

लेखक के अनुसार यजुर्वेद में प्रकृति के अटल व अनादि नियमों का, प्रकृति के पदार्थों के गुण कर्मस्वभाव का, उनके उपयोग के क्रियात्मक ज्ञान का वर्णन है। इस ग्रन्थ में चिकित्सा विज्ञान से संबंधित प्रकृति के अटल व अनादि नियमों का भी वर्णन है।

लेखक का नया दर्शन है: शरीर में जितनी चेष्टा और बल पराक्रम उत्पन्न होते हैं, वे सब पवन से होते हैं और पवन प्राण रूप और जल गन्धर्व सबको धारण करने वाले हैं। इस दर्शन में इस नियम से प्राण व मन (जीवन शक्ति) के गुण लक्षणों का बोध व रोगी के रोग व अरोग्यता मार्ग के लक्षणों का निर्णय इस प्रकार से कराया है: शरीर में हवा का प्रवेश, श्वांस गति चलने लगती है, उष्णता या गर्मी उत्पन्न होती है और इसमें मन अनुभूति प्रकाश मान और एक अंग में स्थिर रूप इनका, लक्षण प्राण व मन (जीवन शक्ति) का बन जाता है। यह लक्षण रोगी को कष्ट अनुभव कराने लगता है, तब यह प्राण व मन (जीवन शक्ति) का लक्षण रोगी का रोग में लक्षण कहा जाता है। जल गन्धर्व या मन अपनी स्वतः प्रकृति प्रदत्त सत्ता से रोगी के रोग के लक्षण को सूक्ष्म करता हुआ, अपने शीत गुण का एक लक्षण निर्माण करके रोगी को अरोग्यता मार्ग में प्रकाश करता है। श्वास की गति आधार व मानव की गति आधार एक लक्षण प्रकट होता है और कष्ट देता है तथा दूसरा इस कष्ट को सूक्ष्म करता प्रकाशित होता रोगी को रस्सी तुल्य बन्धन में बांध कर प्रकाश करता रहता है। प्रकृति का यह अटल नियम प्रत्येक मनुष्य में हर काल, हर स्थिति में देखा जा सकता है।

लेखक के मत के अनुसार जल व मिट्टी में रमण करती हुई विद्युत का रोगों में उपयोग करने के सिद्धान्त को, रोगी के रोग व आरोग्यता मार्ग के लक्षणों के आधार पर कराया गया है। जल व मिट्टी उपयोग की सीमा व शक्ति रोग दूर करने में कहां तक, और कहां नहीं, यह भी दर्शाया गया है। सर्वसाधारण इससे लाभान्वित हो सकते हैं।

लेखक ने अपनी पुस्तक में छापे की भूलों के लिए स्वयं ही भूमिका में क्षमा याचना की है।

लेखक ने एक बहुचर्चित होमियोपैथ होने के साथ साथ दवाई को खिलाने अथवा पिलाने के स्थान पर सुंघाने के नए नियम का अनुसंधान करके होमियोपैथ जगत में एक दिशा प्रस्तुत की है।

लेखक ने कहीं कहीं अनजाने में ही अंक विज्ञान का भी उल्लेख किया है।

आधुनिक विज्ञान की निश्चित भोजन तालिका के अनुसार किसी भी रोग में शक्ति कम न हो जाए, इसलिए भोजन में मीट का सूप, अण्डे, दूध और फल ही पर्याप्त मात्रा में दिए जाते हैं। किन्तु लेखक ने इसका विरोध किया है।

आधुनिक चिकित्सा पद्धति में मस्तिष्क की झिल्लियों में प्रदाह में पानी रीढ़ की हड्डी से निकाल कर सिर में पानी के दबाव को कम करने की कोशिश की जाती है। किन्तु लेखक ने यह सिद्ध किया है कि इससे बच्चे बहरे, अन्धे इत्यादि हो जाते हैं। लेखक ने इस पद्धति के बिना ही (जिसे लम्बर पंचर भी कहते हैं), टी० बी० एम० का सफल इलाज किया है।

वैसे इस लेखक और उसकी पुस्तक के साथ भी वही होने की सम्भावना है जो पं० शिव शर्मा जैसे आयुर्वेद के चिकित्सक के साथ हुआ। अर्थात् जब तक शर्मा जी ने अपनी बात विदेशों में और विदेशी भाषाओं में नहीं कही तब तक आयुर्वेद शास्त्र का मखौल भारत में उड़ाया जाता रहा। इस समय बम्बई नगरी और पाकिस्तान बनने से पहले करांची नगर के सुप्रसिद्ध वैद पं० प्रोफेसर कविराज होराम शर्मा वशिष्ठ का भी यही हाल है।

क्योंकि इस पुस्तक के लेखक के लिए अपनी बात अंग्रेजी में कहना आसान नहीं है और आम जनता के पास इस नए सिद्धान्त के परीक्षण के लिए समय व साधन नहीं हैं, इसलिए, इस पुस्तक पर विद्वान डाक्टर को खोज करने का पूरा मौका दिया जाना चाहिए। डा० सिंह का यह खोजपूर्ण कार्य प्रशंसनीय है। नई खोज में रुचि रखने वाले पाठकों को यह पुस्तक रुचिकर लगेगी, ऐसी आशा है।

शिवचरण लाल

पुस्तक का नाम--नीले आकाश के लिए

लेखक--नित्यानंद

प्रकाशक--सामयिक प्रकाशन, 3543 जटपाड़ा, दरियागंज नई दिल्ली-2

मूल्य--8.50 रुपये

महानगरों के जीवन में जहां इक छोटे से वर्ग के लिए दूसरों को ढ़केलते हुए, आपाधापी के बीच निरन्तर आगे बढ़ते चले जाने की अपार संभावनाएं होती हैं, वहीं अधिसंख्य व्यक्तियों के लिए महानगर मानो एक शापग्रस्त संसार होता है। नित्यानन्द के उपन्यास 'नीले आकाश के लिए' के पात्र इस शापग्रस्त संसार से आए हैं। इस प्रयोगात्मक उपन्यास में सीधे-सपाट अर्थ में कोई कहानी नहीं है, बल्कि एक वातावरण उभारने का प्रयत्न किया गया है जिसमें वह काफी सीमा तक सफल हुए हैं।

उपन्यास में एक सिक्ख परिवार है जो महानगर दिल्ली में रह रहा है। उस परिवार में परिवार नाम के सम्बन्ध कहने भर को रह गए हैं क्योंकि परिवार के सभी सदस्य एक दूसरे से कटे कटे से रहते हैं, वे काफी हद तक एक दूसरे से ऊबे हुए से हैं। लेकिन फिर भी वे साथ रहते हैं और यह साथ रहना ही उन्हें परिवार बनाए हुए है। सम्पूर्ण कहानी इसी तथाकथित परिवार के इर्द गिर्द घूमती है और इसी में सिक्ख बुजुर्ग, मां कुलवंती और बेटी प्रभा के जीवन्त चरित्र उभरते हैं जो हमें प्रभावित करते हैं और जिन्हें देखकर लगता है कि ये चरित्र तो हमारे आसपास के ही हैं या शायद हमारे अपने ही परिवार के हैं।

इसके साथ ही नित्यानन्द ने एक क्लब की अध्यक्षा और सेक्रेटरी के माध्यम से महानगर के उस वर्ग का भी चित्र खींचने का प्रयास किया है जो दूसरों को किसी भी सही-गलत तरीके से लूटने में लगा हुआ है, जो सम्पूर्ण आपाधापी के बीच निरन्तर आगे बढ़ता जा रहा है।

उपन्यास बहुत अधिक चमत्कृत नहीं करता लेकिन निश्चय ही वह अपने कथ्य और शैली या विषय-वस्तु और अभिव्यक्ति के ढंग में काफी नयापन लिए हुए है और आकार में लघु होने के कारण फालतू प्रसंगों और प्रकरणों का अनावश्यक प्रवेश उसमें नहीं हुआ है।

नित्यानंद ने इस उपन्यास में—जैसा कि हमने ऊपर कहा है—एक वातावरण का निर्माण करने की कोशिश की है और कुछ चरित्र उभारे हैं। यह वातावरण है मध्यवित्त परिवारों की फटेहाल जिन्दगी, आर्थिक मार, सामाजिक सम्बन्धों में एक तनाव, खिंचाव और रिश्तों की डोर का टूटना तथा परिवार के सदस्यों के बीच मात्र औपचारिक रिश्तों का निर्वाह। उपन्यास में जो चरित्र उभरे हैं, वे सबके सब शापग्रस्त से लगते हैं, मानों जिन्दगी की गाड़ी किसी तरह खींच रहे हों। यही इस उपन्यास की विशेषता है जिसमें आम आदमी की छोटी छोटी तकलीफों और खुशियों, कुंठाओं और वर्जनाओं को अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति दी गई है।

इस उपन्यास में लेखक ने अनेक समस्याओं को उठाया और उभारा है, अनेक प्रश्नों को प्रस्तुत किया है, लेकिन उसने इन समस्याओं और प्रश्नों का कोई समाजशास्त्रीय अथवा अर्थशास्त्रीय या दार्शनिक विवेचन नहीं किया है। यह उपन्यास की अपनी सीमा भी है और सफलता भी। सीमा इस कारण कि विवेचन के अभाव में उपन्यास समस्याओं और प्रश्नों को अनुत्तरित छोड़ देता है, सफलता इसलिए कि उपन्यासकार का काम समस्याओं और प्रश्नों का उत्तर देना या विवेचन करना नहीं है, वह एक तस्वीर पेश करता है, कुछ चरित्रों के माध्यम से प्रश्नों और समस्याओं को उठाता है और पाठक को झकझोरता है, बस। इस कार्य में नित्यानंद सफल हुए और यह सफलता 'नीले आकाश के लिए' उपन्यास को एक अच्छी सफल कृति का स्थान देती है।

प्रदीप पन्त

लेखक परिचय

1. पं० राम अवतार अभिलाषी,
अभिलाषी साहित्य कुंज,
बाजरान गली,
जीन्द-126101

2. डा० रमाकान्त शर्मा,
व्याख्याता,
हिन्दी विभाग,
राजकीय कालेज,
बाड़मेर (राजस्थान)

3. जगदीश भारती
मकान नं० 2117/4 हांसी,
हरियाणा

4. गोविन्द मिश्र,
84, रवीन्द्र नगर,
नई दिल्ली।

5. जीवन नायक
मुख्य सम्पादक,
केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय,
रामाकृष्णपुरम, नई दिल्ली

6. आरिगपूडि,
ए० रमेश चौधरी
ए०आरिगपूंडि चौधरी
138, शेनीय नगर,
मद्रास

7. निरंकार देव सेवक,
185, सिविल लाइन,
बरेली (उ० प्र०)

8. मधुकर खेर,
पत्रकार, बुढापारा,
रायपुर (म० प्र०)

9. राजेन्द्र धस्माना,
आई-356, सरोजिनी नगर,
नई दिल्ली।

10. कान्ता उप्रेती,
आई-78 सरोजिनी नगर,
नई दिल्ली

11. शिवचरण लाल,
365/से० III,
आर० के० पुरम,
नई दिल्ली

12. प्रदीप पंत,
सी-2/31
ईस्ट आफ कैलाश,
नई दिल्ली-110024

13. डा० शचीरानी गुर्टू,
49-बी०, हैवलॉक स्क्वेयर,
गोल मार्केट
नई दिल्ली

विशेष सूचना

1. यदि आप पत्रिका संस्कृति के ग्राहक हैं तो कृपया नये वर्ष (1979) के लिये वार्षिक चन्दा जल्द से जल्द भेजने की कृपा करें ।

2. यदि नहीं तो जल्द से जल्द इसके ग्राहक बनने की कृपा करें । इस पत्रिका का वार्षिक चन्दा केवल चार रुपये है ।

3. ग्राहकों स निवेदन है कि मंत्रालय से पत्र व्यवहार करते समय संदर्भ संख्या अवश्य दर्शायें । संदर्भ संख्या दर्शाने से पत्र व्यवहार में दोनों को सुविधा होगी ।

4. पत्रिका संस्कृति में प्रकाशित प्रत्येक रचना का पारिश्रमिक दिया जाता है । सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर उच्चकोटि की मौलिक रचनायें सादर आमन्त्रित हैं ।

सदस्यता फार्म

निदेशक (हिन्दी प्रकाशन)
शिक्षा, समाज कल्याण तथा संस्कृति मंत्रालय
(शिक्षा विभाग),
सी०-102, शास्त्री भवन,
नई दिल्ली ।

महोदय,

मैं श्री/श्रीमती/कुमारी .... वर्ष ....
के लिये संस्कृति का वार्षिक ग्राहक बनना चाहता/चाहती हूं । बार्षिक चन्दा (चार रुपए) मनीआर्डर द्वारा भेजा जा रहा है / नकद दिया जा रहा है । मेरा पता निम्नलिखित है ।

नाम तथा पता

एक प्रति का—एक रुपया ....

वार्षिक—चार रुपए ....

दिनांक ....

टिप्पणी :—यदि आप 'संस्कृति' पत्रिका के ग्राहक हैं और आपने अपना चन्दा नहीं भेजा है तो कृपया जल्द से जल्द चन्दा भेजने की कृपा करें ।

मन्त्रालय की ग्रन्य हिन्दी पत्रिका

शिक्षा विवेचन

●यह पत्रिका प्रत्येक वर्ष जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्तूबर में त्रैमासिक रूप में छापी जाती है।

●इस पत्रिका में, इस मन्त्रालय की अंग्रेजी की पत्रिका 'दि एजूकेशन क्वार्टरली' में छपे लेखों का हिन्दी अनुवाद छापा जाता है। इसमें शिक्षा सम्बन्धी विचारों, समस्याओं और सामाजिक विषयों की व्यवस्था होती है। पत्रिका में शैक्षिक रुचि के महत्वपूर्ण प्रश्नों और भारत तथा विदेशों में हो रही शैक्षिक और युवा कल्याण की गतिविधियों और प्रयोगों की जानकारी देने का प्रयास किया जाता है। लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के अपने होते हैं और यह आवश्यक नहीं कि वे सरकार के विचारों और दृष्टिकोण के अनुरूप हों।

●इस पत्रिका की बिक्री के संबंध में पूछ-ताछ और वार्षिक चन्दा व मनीआर्डर आदि प्रकाशन प्रबंधक, भारत सरकार, सिविल लाइन्स, दिल्ली-6 को भेजा जाना चाहिए। इसके लिए निदेशक (हिन्दी प्रकाशन), शिक्षा, समाज कल्याण तथा संस्कृति मंत्रालय, 102-सी० शास्त्री भवन, नई दिल्ली को भी लिखा जा सकता है।

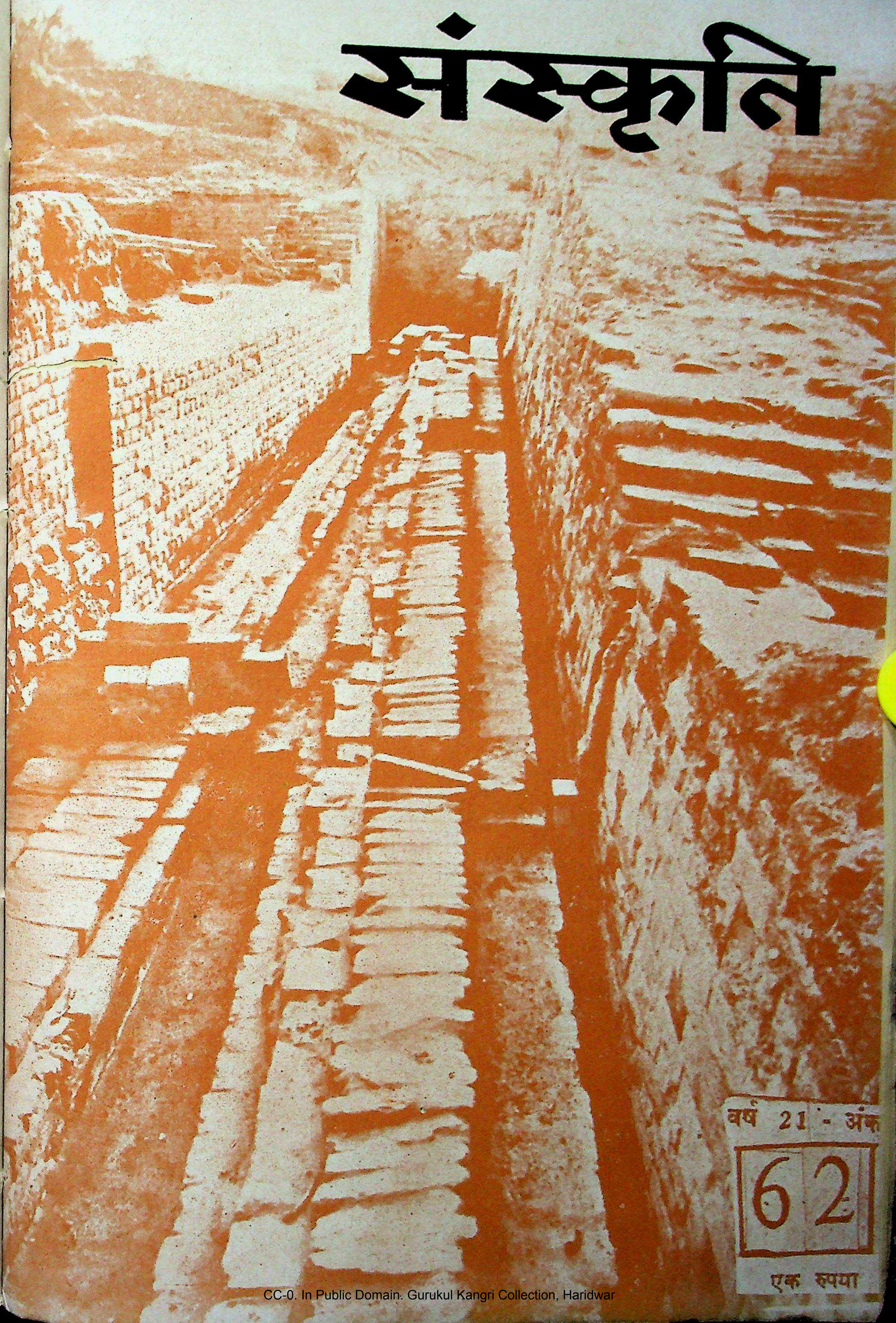
●विज्ञापनों आदि के बारे में जानकारी, विज्ञापन एजेन्ट, भारत सरकार प्रकाशन 5ए, 10 अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली से मिल सकती है।

●सभी लेखों आदि का कापीराइट शिक्षा, समाज कल्याण तथा संस्कृति मन्त्रालय के पास है। कोई भी लेख मन्त्रालय की पूर्व अनुमति के बिना नहीं छापा जाना चाहिए।

	भारत में	विदेशों में
मूल्य एक प्रति	4.50 रुपये	0.53 पौंड या 1 डालर 62 सैंट्स
वार्षिक चन्दा	18.00 रुपये	2.10 पौंड या 9 डालर 4 सैंट्स

रजिस्टर्ड संख्या 6724/59

प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, फरीदाबाद द्वारा मुद्रित, 1978


संस्कृति
वर्ष 21 - अंक
62
एक रुपया

संस्कृति—त्रैमासिक पत्रिका हेमन्त, ग्रीष्म, पावस, शरत् (जनवरी, अप्रैल, जुलाई व अक्तूबर) को प्रकाशित होती है। इसका प्रत्येक अंक विशेष रूप से सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर केन्द्रित होता है तथा इसके लेख विचारोत्तेजक, खोजपूर्ण तथा भावपूर्ण होते हैं। इसके लेखों में देश-विदेशों की सांस्कृतिक परियोजनाओं, कार्य-कलापों तथा प्रयोगों सम्बन्धी अधिकृत सूचना दी जाती है। इसकी सामग्री वस्तुनिष्ठ व पूर्णरूपेण निष्पक्ष होती है। साथ ही इसमें पुस्तकों की समीक्षा भी प्रकाशित की जाती है।

संस्कृति—के लिये लेख सम्पादक, 'संस्कृति', शिक्षा, समाज कल्याण और संस्कृति मंत्रालय, 102-सी० खंड, शास्त्री भवन, नई दिल्ली को भेजे जाएं।

संस्कृति—का वार्षिक चन्दा मनीआर्डर द्वारा निदेशक (हिन्दी प्रकाशन), शिक्षा, समाज कल्याण और संस्कृति मंत्रालय, 102-सी० खंड, शास्त्री भवन, नई दिल्ली के पास भेजा जाए। संस्कृति की प्रतियों के विषय में पूछताछ भी इसी पते पर की जाए।

संस्कृति—में मौलिक व अप्रकाशित लेख छपते हैं, जिनका कापीराइट शिक्षा, समाज कल्याण तथा संस्कृति मंत्रालय के पास होता है। इसमें प्रकाशित लेख सम्पादक की अनुमति पाये बिना अन्यत्र प्रकाशित नहीं किये जा सकते। लेखक यदि इसमें छपे अपने लेख को अन्यत्र छपाना चाहें तो उन्हें पूर्व अनुमति प्राप्त करनी चाहिए।

यह आवश्यक नहीं कि लेखक द्वारा प्रतिपादित विचार सरकार के दृष्टिकोण को ही व्यक्त करते हों।



संस्कृति

प्राच्या नव्या विलसतुतरां संस्कृतिः भारतीया

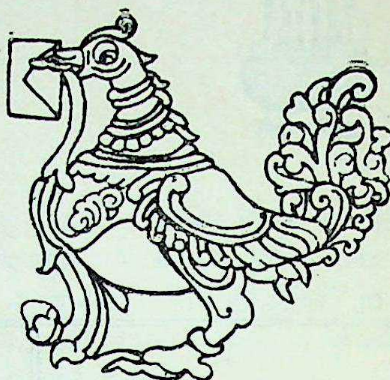
हमारा आगामी अंक

यह वर्ष (1979) अन्तर्राष्ट्रीय बालवर्ष के रूप में मनाया जा रहा है। इस अवसर पर हम भी संस्कृति का एक बाल विशेषांक प्रकाशित करने का विचार कर रहे हैं। सुविज्ञ लेखकों से हमारा आग्रह और अनुरोध है कि वे इस विषय पर अपनी रचनाएं भेजें। हम उनका स्वागत करेंगे। कविता, निबन्ध के अतिरिक्त बच्चों के लिए चुटकुले भी हम प्रकाशित करेंगे, आपकी गठरी में कुछ बंधे हों तो हमें दे दीजिए। आशा है आपके सहयोग से पाठकों को, विशेषकर बच्चों को हमारा यह अंक सरस लगेगा।

वर्ष 21 : अंक 1
(जनवरी-मार्च 1979)
वार्षिक चन्दा—चार रुपये

एक प्रति—एक रुपया

इस अंक में



पत्रावली

मैंने आपकी त्रैमासिक "संस्कृति" की एक प्रति मारिशस में देखी थी। देख कर प्रभावित हुआ था।

आरिगपूडि
138, शेनोय नगर
मद्रास-30

'संस्कृति' का मारिशस विशेषांक तथा एक और अंक प्राप्त हुए। दोनों अंकों की सारी सामग्री पठनीय लगी। मारिशस अंक के सब लेख पढ़ गया। कई लेखों से ऐसा लगता है कि कहीं दूर एक और भारत बसा हुआ है। काश! कि हमें भी वहां के निवासियों के साथ रहने बसने का अवसर मिल पाता। मारिशस के इतिहास, संस्कृति, कला इत्यादि के विषय में इतनी जानकारी एक साथ देकर आपने इस विशेषांक को बड़ा महत्वपूर्ण बना दिया है। कुछ लेख पढ़ते समय तो ऐसा लगा कि हम भी लेखक के साथ वहीं विचर रहे हैं। मारिशस के कई कवियों की कविताएं भी बड़ी भावपूर्ण और हृदय को छूने वाली हैं। इस अंक को निकालने के लिए आप सचमुच बधाई के पात्र हैं।

निरंकार देव सेवक
185, सिविल लाईन,
बरेली

संस्कृति का एक अंक यहां देखने को मिला। पढ़कर खुशी हुई। विशेषरूप से सुरेश पंत का लेख 'कोंकणी साहित्य' से जहां नई ज्ञानवर्द्धक सामग्री उपलब्ध हुई वहीं समसामयिक फिल्मी संस्कृति पर विभूभावन देवलिया का लेख "धार्मिक फिल्में" भी प्रेरक बन पड़ा है। सामग्री के श्रेष्ठ चयन के लिए बधाई।

पुष्पा पचौरी
887/3 पश्चिमी निमाड़ गंज
जबलपुर-2 (म० प्र०)

भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है, उत्कृष्टता है और है एक जीवन्तता। यही कारण है कि आज के क्षुब्ध वातावरण में इसका पुरातन एवं शाश्वत संदेश बड़ी उत्सुकता एवं तत्परता से ग्राह्य है।

इस दृष्टि से संस्कृति का प्रकाशन निस्संदेह अत्यंत उपयोगी है। सामग्री का चयन प्रशंसनीय है। इसकी मासिक आवृत्ति से कहीं अधिक लाभ का वितरण हो सकता है।

किसी भी निबन्ध के अन्त में जहां कहीं खाली स्थान रह जाता है, वहां यदि सूक्तियां या अलभ्य चित्रों को दे दिया जाया करे तो इससे एक तो सांस्कृतिक मूल्यों का व्यापक प्रसार हो पाएगा, दूसरे पाठक वृन्द के लिए संस्कृति विषयक अनमोल संग्रह सम्पादित हो पाएगा। इसमें **सत्य सनातन वाणी** नामक स्थायी स्तंभ भी उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

पं० रामअवतार अभिलाषी
अभिलाषी साहित्य कुंज
बाजरान गली, जीन्द-126102

सांस्कृतिक विचारों की प्रतिनिधि
त्रैमासिक पत्रिका

(ग्रीष्म, पावस, शरत् और हेमन्त में प्रकाशित)

नोट—पाठक अपनी प्रतिक्रिया, सुझाव भी भेज सकते हैं, हम उनका स्वागत करेंगे। संक्षिप्त में अपने रोचक और मौलिक विचार, संस्मरण, यात्रा वर्णन भेजिए जिसमें देश-विदेश की संस्कृति की झांकी मिलती है।

पत्र व्यवहार का पता

सम्पादक– 'संस्कृति'
शिक्षा, समाज कल्याण और संस्कृति मंत्रालय
102-सी, शास्त्री भवन
डा० राजेन्द्र प्रसाद मार्ग,
नई दिल्ली। टेलीफोन नं० 384151

सम्पादकीय

विश्व की प्राचीनतम तथा अत्यंत गौरवशाली संस्कृति होने के साथ-साथ भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है–अनेकता में एकता। सभ्यता के आदिकाल से ही हमारी संस्कृति में अनेकानेक तत्व आए, इसमें मिले तथा इसके साथ घुल मिल गए–'इसके' हो गए।

अपनी इसी विशेषता के कारण प्रायः भारतीय संस्कृति का रूप अस्पष्ट तथा धूमिल-सा प्रतीत होता है। बहुधा विदेशियों के मन में यह भ्रम होता है। कश्मीर से कन्या-कुमारी तक, गुजरात से असम तक विदेशी तथा देशी पर्यटक को न केवल अनेक दर्शनीय स्थलों की झांकी मिलती है बल्कि उसको इन स्थलों में एक ऐसी वैचारिक अथवा भावात्मक समानता मिलती है जिसकी तुलना विश्व की किसी भी संस्कृति से नहीं की जा सकती, जो अद्वितीय है, विलक्षण है।

हमारे धर्म, सभ्यता, दर्शन तथा संस्कृति की यह एकता सर्वथा वैचारिक है, भावात्मक है। इसका मूर्त रूप नहीं है: यह स्थूल दृष्टि से अगोचर पूर्णतया अनुभूति की वस्तु है और साथ में कोरी कल्पना की भी वस्तु नहीं है। जिस प्रकार 'सनातन' धर्म देश में व्याप्त विभिन्न धार्मिक विश्वासों, आचार-व्यवहार, सम्प्रदायों आदि के शुरू से आज तक का 'सनातन' रूप है उसी प्रकार भारतीय संस्कृति भी एक बहुदर्शी-विविध संस्कृति है जो बाहर से अनेक लगती हुई भी आधार में या अंदर से एक है—इसकी वैचारिक अथवा भावात्मक पृष्ठभूमि एक है।

भारतीय संस्कृति की इस सनातन तथा विश्वविदित विशेषता को दिखाने के लिए ही 'संस्कृति' के इस अंक में अनेक रचनाएं दी गई हैं। आशा है यह अंक भी पाठकों को रुचिकर लगेगा और वे अपनी बहुमूल्य प्रतिक्रिया व्यक्त करेंगे।

एक फागुनी गीत

पीली पुरवाई
महका गई गात
अरस के परस के
लाई सौगात
मन के सुगनवा से
बौली एक बात
ठुमको इतराओ
सजाओ साज
आजकल में होगी
एक नई रात
अनूठी उगेगी
जिसकी प्रात,
पराए भी आकर
थाम लेंगे हाथ
तन मन में नई सी
जगाएगा आस
बहेगी चहुं ओर
प्रीत की उजास
लाती उचारेगी
आया सखि फाग
पीली पुरवाई
महका गई गात

सीना अग्रवाल

वैदिक संस्कृति—एक विश्लेषण

शिव कुमार शास्त्री

वेद की संस्कृति के संबंध में यजुर्वेद 7/14 में "सा प्रथमा संस्कृति-विश्ववारा" कहा गया है। अर्थात् यह संस्कृति सब से प्रथम की है। इससे पहले और कोई संस्कृति थी ही नहीं और इसकी विशेषता यह है कि यह "विश्ववारा" समस्त संसार के द्वारा वरण करने योग्य है। संसार में व्यक्ति और समाज के जीवन यापन का वेद का एक विशेष दृष्टिकोण है और उसकी उपादेयता अब भी उसी प्रकार अक्षुण्ण है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में समस्त प्राणियों के सुख-दुख को अपने सुख-दुःख से तुलना करके उनके साथ व्यवहार करने का उपदेश है। "यस्मिन्तसर्वाणि भूतानि आत्मैवाभद्विजानतः" इसी की छाया गीता में 'आत्मवत सर्वभूतेषु' तथा 'पण्डिताः समदर्शिनः' में विद्यमान है।

झगड़े की वास्तविक जड़ विषमता है। जब हम अपने जीवन में दोहरे मानदण्ड अपनाते हैं, अपने लिए कुछ और तथा दूसरे के लिए कुछ और, बस वहां हम विवाद और संघर्ष को जन्म दे देते हैं। यदि 'आत्मनः प्रतिकलानि परेषान्न समाचरैत' (महाभारत) कि जिसे हम अपने लिए पसंद नहीं करते उसे दूसरे के साथ भी कभी नही करना चाहिए—का दृष्टिकोण रहे तो फिर संघर्ष का अवसर ही कहां है? इतना ही नहीं वेद में मानवता के उच्चतम धरातल पर, जिसे देवत्व ही कहा जा सकता है, व्यक्ति को रखकर उसे उपदेश दिया है कि तू अपनी इष्ट और प्रिय वस्तुओं का भी परित्याग दूसरे प्राणियों को सुख-सुविधा पहुंचाने के लिए कर' उस स्वार्थ त्याग में तुम्हें वह अलौकिक आनन्द प्राप्त होगा जो भोग में कभी प्राप्त नहीं हो सकता। यजुर्वेद में एक सम्पूर्ण अध्याय इस उपदेश से भरा हुआ है कि तुम्हारी सम्पूर्ण आयु और शरीर का प्रत्येक अंग 'यज्ञमय' व्यवहार करने वाला हो 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम' इसी बात का उपदेश गीता में इन शब्दों में दिया गया है कि, 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषेः। भुन्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्। अर्थात् उत्तम कोटि के व्यक्ति पहले दसरों को खिला कर उनसे बचा हुआ फिर स्वयं खाते हैं और सब पापों से छूट जाते हैं। और जिनके घर में केवल अपने लिए ही भोजन बनता है दूसरों का ध्यान नहीं करते वे खाना नहीं खाते अपितु पाप खाते हैं।

चारों वेदों में एक प्रश्न है और प्रश्न के शब्द ये हैं पृच्छामित्वा विश्वस्य भुवनस्य नाभिम्। अर्थात् वह कौनसी नाभि 'केन्द्र' (सेन्टर) है जिस पर यह विश्व टिका हुआ है अथवा वह कौनसी धुरी है जिस पर यह संसार चक्र घूम रहा है? इस प्रश्न का चारों वेदों में एक ही उत्तर है। 'अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः।' यह यज्ञ की भावना-त्यागपूर्वक भोग की भावना दूसरों को खिलाकर खाने की भावना, बस यही नाभि, केन्द्र (सेन्टर) है जिस पर यह दुनिया ठहरी हुई है। जहां त्याग का स्थान भोग, परोपकार का स्थान स्वार्थ ले लेता है वहीं से विनाश प्रारंभ हो जाता है। एक सम्मिलित परिवार में चार भाई अपनी-अपनी कमाई को दूसरे भाइयों की सुख सुविधा के लिए होमने को उद्यत हैं, वह परिवार सानंद फूलता फलता चला जाएगा और इसके विपरीत जब उन भाइयों के मन में, "मैं और मेरी पत्नी और बच्चे" का भाव जागृत होगा तो व्यवहार में असमानता आ जाएगी। इस स्थिति में परिवार में गतिरोध होगा और एक दिन सब भाई पृथक-पृथक अपनी दुनिया बसा लेंगे। इसी परिवार की बात को हम समाज पर घटा-देखें सकते हैं। शतपथ ब्राह्मण में यह बात एक कहानी के रूप में बहुत रोचक ढंग से समझाई गई है। कहानी इस प्रकार है। देव और राक्षस दोनों ही प्रजापति की संतान थे। किन्तु राक्षसों को सदा यह शिकायत रहती थी कि प्रजापति देवों को रियायत करते हैं और हमारी उपेक्षा करते हैं। प्रजापति का कहना था कि हमारे लिए तो तुम सब समान हो। देवों में कुछ व्यावहारिक गुण ऐसे हैं कि वे उनसे लाभ उठा लेते हैं और तुम अपने दुर्गुणों के कारण दुःखी रहते हो। प्रजापति ने अपनी बात को समझाने के लिए एक प्रयोग किया। दोनों के लिए एक भोज का प्रबंध किया और राक्षसों को पहले भोजन करने का अवसर दिया किन्तु एक विशेष बात यह कर दी कि सब राक्षसों के हाथ कोहनी पर से मुड़ने बंद हो गए। सीधे-सीधे ऊपर उठ सकते थे। सामने को जा सकते थे किन्तु मुड़ कर ग्रास तोड़ कर मुख की तरफ नहीं आ सकते थे। भोजन का समय निश्चित था। स्वादिष्ट और सुन्दर भोज्य पदार्थ सामने सजे थे। पर हाथ ग्रास तोड़कर मुह की ओर आता ही न था। प्रत्येक ने बहुत प्रयत्न किया। किन्तु सब व्यर्थ। समय समाप्त हो गया और राक्षसों को भोजनशाला से हटा दिया गया।

इसके बाद देवों को अवसर दिया गया और राक्षसों के समान इनके हाथों की भी वही दशा करदी। देवों ने जब यह देखा कि हाथ ग्रास लेकर अपने मुख की ओर तो नहीं मुड़ता

किन्तु सामने वाले व्यक्ति के मुख की ओर तो बिना कठिनाई के जा सकता है। बस एक दूसरे ने एक दूसरे को खिलाना प्रारंभ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि समय से पहले सब खाकर निवृत्त हो गए और इस उत्तम भोज के लिए प्रजापति का धन्यवाद किया। प्रजापति ने राक्षसों को कहा कि बस यह अंतर है तुममें और देवों में। इस त्यागवृत्ति के कारण देव फूलते फलते हैं और सुखी रहते हैं। तुम लोग स्वार्थों के कारण एक दूसरे की टांग खींचते हो और दुखी रहते हो।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैदिक संस्कृति यज्ञमय जीवन अर्थात् त्यागपूर्वक भोग (तेन त्यक्तेन भुंजीथाः) (यजुर्वेद) का संदेश संसार को देती है। यह बहुत महत्व की बात है और यही एक मात्र मार्ग है जो संसार को अशान्ति और विनाश से बचा सकता है।

पाश्चात्य संस्कृति में भोग की प्रधानता मुख्य रूप से वर्तमान विक्षोभ और खींचातानी के लिए उत्तरदायी है।

संक्षेप से वैदिक संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृति की तुलना निम्न प्रकार से की जा सकती है। पाश्चात्य संस्कृति का ध्येय भोग है। वैदिक संस्कृति का ध्येय त्याग है। भोग का अनिवार्य परिणाम द्वेष होता है। द्वेश का दुख और दुख का अशान्ति। उधर त्याग का अनिवार्य परिणाम होता है प्रेम, प्रेम का सुख और सुख का शान्ति। भोगी मनुष्य भोगासक्त होता है, आसक्ति को विरोधी वस्तुओं से द्वेश होगा। जहां द्वेष है वहां दुख अवश्यम्भावी है और जहां दुःख है वहां अशान्ति रहती है। इसी प्रकार दूसरी ओर जहां त्याग होता है वहां प्रेम अवश्य होता है। प्रेम की अधिष्ठान भूमि है त्याग और प्रेम की विनाशक भूमि है—स्वार्थ। यह तथ्य है जहां प्रेम है वहां सुख है। जहां लक्ष्य त्याग होता है—वहां जीवन में कर्त्तव्य पालन की प्रधानता होती है और जहां ध्येय भोग होता है वहां भोग प्राप्ति के अधिकार की।

इस समय संसार में संघर्ष को जन्म देने वाली यह भोगवृत्ति ही है। इस अशान्ति को दूर करने का एक मात्र उपाय वैदिक संस्कृति है। यही मार्ग महात्मा गांधी जी का था। स्वतंत्रता के बाद भारत को अपना पुनर्निर्माण अपनी संस्कृति के आधार पर करना चाहिए था। किन्तु अंग्रेजी की कुशिक्षा के परिणामस्वरूप पथभ्रष्ट होकर वह भी उसी दलदल में जा फंसा। यहां भी रात-दिन अधिकार प्राप्ति का संघर्ष है। भोगों के अभाव का रोना है। सब से अधिक वेतन पाने वाले जीवन बीमा निगम और बैंकों के कर्मचारी भी स्ट्राइक कर रहे हैं। कोई यह नहीं सोचता कि दूसरों को तो वह भी उपलब्ध नहीं है जो हमें मिलता है। पहले अधिकार हमारी अपेक्षा अभावग्रसितों का है—जिनके लिए रोटी और कपड़े तक की समस्या है।

साधन कितने ही बढ़ जावें, जब तक दृष्टिकोण नहीं बदलेगा—अशान्ति बनी रहेगी। सब भोग भोगने पर भी जब ययाति को तृप्ति नहीं हुई तो महाभारत में व्यास महर्षि ने ययाति के मुख से बड़े पते की बात कहलवाई है।

यत्र पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्य पशवं स्त्रियः।

नालमेकेन तत् सर्वामिति मत्वा शम् व्रजेत।

अर्थात् पृथ्वी पर चावल, जौं, सोना, पशु और स्त्रियां जितनी भी छोटी से लेकर बड़ी तक उपभोग की वस्तुएं हैं वे सब यदि मनुष्य असंग्रत हो जाए तो एक के लिए भी पर्याप्त नहीं हो सकती। अतः विषयः वासना पर विजय प्राप्त करके ही मनुष्य शान्ति प्राप्त कर सकता है।

वेद के आधार पर जीवन के इस रहस्य को भारत के ऋषि और महर्षियों ने जाना था और यही एक मात्र शान्ति का मार्ग है दूसरा नहीं।

योरुप के एक शान्ति सम्मेलन के अध्यक्षपद से भाषण देते हुए एक महिला मिस जटस्कू ने भारत की संस्कृति के रहस्य को समझकर अपने श्रोताओं का पथ प्रदर्शन करते हुए कहा था—

"O ye assembled scholars of the earth, if you desire to keep the atmosphere of the world quiet and calm go to the saints in caves and forests of India: sit at their feet and learn divine wisdom from their holy lips and then propagate it in Europe and America".

अर्थात् ओ भूमण्डल के एकत्रित विद्वानो यदि तुम संसार के वायु मण्डल को शान्त तथा सुखदायक बनाना चाहते हो तो भारत के संतों के पास गुफा और जंगलों में जाओ। उनके चरणों में बैठ कर उनसे वेद ज्ञान को सीखो और उस उपदेश का योरुप और अमरीका में प्रचार करके शान्ति का राज्य स्थापित करो।

अतः भारत को सुखी तथा समृद्ध बनाने के लिए हमें अपनी इस अमूल्य निधि को जानकर उस पर आचरण करना चाहिए। तभी हम स्वाधीनता का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं।

"सिन्धु घाटी की सभ्यता"

रजनी

भारतीय संस्कृति अत्यन्त प्राचीन है। भारतीय संस्कृति के इतिहास का अवलोकन करने पर हमें इस संस्कृति के बारे में ज्ञानोदय होता है। आधुनिक मानव हर प्राचीन चीज को देखने और जानने के लिये उत्सुक रहता है। अपनी इसी मानवीय विचारधारा से वशीभूत होकर भारतीय विज्ञों ने सिन्धु घाटी के उजाड़ और रेगिस्तानी इलाके के बारे में जानकारी प्राप्त करनी चाही। इस प्रदेश की खुदाई का कार्य तत्कालीन पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष सर जान मार्शल और उनके सहयोगी स्व० राखालदास बनर्जी व दयाराम सहानी आदि के निरीक्षण में सम्पन्न हुआ।

सिन्धु घाटी में विशाल खेड़े पाए गए हैं। जिन्हें प्रकृति ने अपनी परिवर्तनशीलता के कारण मिट्टी की कई तहों से ढक दिया था। इस खुदाई के दौरान मिट्टी की कई तहों को हटाने के बाद ही सिन्धु घाटी के दर्शन हुए हैं। अभी तक 40 खेड़ों की खुदाई की जा चुकी है। वह सभ्यता पश्चिम में काठियावाड़ और उत्तर में मकरान से हिमालय तक फैली हुई है। इस खुदाई में दो बड़े नगरों के अवशेष मिले हैं जिनके नाम हड़प्पा व मोहनजोदड़ों है।

इन नगरों के अवशेषों से पता चलता है कि सिन्धु घाटी में एक अत्यन्त समुन्नत सभ्यता विकसित हुई थी। आज की तरह यह घाटी रेगिस्तानी व उजाड़ नहीं थी बल्कि यह भी हरी-भरी थी, तथा यह वनों, नदियों और हरे-भरे मैदानों से परिपूर्ण थी। इस सभ्यता का विकास किस प्रकार हुआ इस सम्बध में विद्वान एकमत नहीं हैं। कुछ प्रमाणों से ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में कुछ कृषि प्रधान समुदाय रहते थे। मगर ऐसा लगता है कि शहरी सभ्यता यहां अकस्मात ही विकसित हो गई थी। इससे कुछ इतिहासकारों का मत है कि इस सभ्यता के निर्माता कुछ विदेशी लोग थे, जिन्हें इस प्रदेश में आने से पूर्व ही शहरी संस्कृति का पर्याप्त ज्ञान था। जिसके आधार पर ही उन्होंने सिन्धु घाटी में एक विकसित समाज की संरचना की।

हड़प्पा और मोहनजोदड़ों नगर सुव्यवस्थित योजना के अनुसार ही बनाए गए थे। यहां की आबादी काफी सघन थी। यहाँ पर सीधी व चौड़ी सड़कें थी। इन सड़कों के किनारे पक्की ईंटों के मकान निर्मित किए गए थे। मोहनजोदड़ों में जल निकासी की शानदार व्यवस्था थी। इसी नगर में एक बड़ा तालाब मिला है जिसके पानी तक पहुंचने के लिय सिढ़ियां बनी हुई हैं। लोथल नगर में एक शानदार इमारत मिली है। कुछ पुरातत्व विदों के अनुसार यह एक बन्दरगाह है, जो इस बात की ओर संकेत करता है कि लोथल एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र रहा होगा, जहां विदेशी नावें भी आती होंगी।

सिन्धु घाटी में अधिकतर लोग खेती करते थे, उनकी खेती से जौ, गेहूं, मटर, खजूर व कपास की पैदावार होती थी। साधारणतया जौ, गेहूं, मटर व खजूर ही उनके भोज्य पदार्थ थे। क्योंकि यहां बहुतायत में खजूर की गुठलियां पाई गई हैं। वे भोजन के लिये मछलियों का शिकार भी करते थे। वे पशुओं में गाय, भैंस, कुत्ता, हाथी, ऊंट, बकरा व सूअर पालते थे। उन्हें वस्त्र बुनने सूत कातने की कला का भी ज्ञान था। वे अपने शरीर के कमर से नीचे के भाग को कपड़े से ढके रहते थे। शेष शरीर निवस्त्र होता था। पुरुष प्रायः दाढ़ी रखते थे। ये लोग चीते, गैंड़े व जंगली सुअरों तथा बारहसिंगे का तीरकमान से शिकार करते थे। शेर का शिकार और तीतर बटेर की लड़ाई कराने के वे विशेष शौकीन थे। शिकार के साथ ही वे पशुओं को पालते भी थे। उस समय के मनुष्य व पशुओं को जल व चारे की कमी नहीं थी। वे श्रृंगार व स्नान के अत्यन्त शौकीन थे। यहां भारी संख्या में है मिट्टी के खिलौने मिले हैं, जिनमें से अधिकांशतः मिट्टी की बैलगाड़ियां हैं। कुछ खिलौने ऐसे भी हैं जिनके सिर व हाथ पैर अलग हो जाते हैं तथा उनके नीचे पहिए लगे हुए हैं। इससे पता चलता है कि सिन्धुघाटी में बच्चे खिलौने के आनन्द से परिचित थे।

यहां नर्तकियों की मूर्तियां भी मिली हैं जिससे यहां के लोगों की नृत्य और गान की अभिरुचि का पता चलता है। मोहनजोदड़ों व हड़प्पा नगरों से प्राप्त मूर्तियां, आभूषण तथा तांबे और मिट्टी के बर्तनों से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वे कारीगरी व कला कौशल में अपनी समकालीन सभी जातियों से अग्रगण्य थे।

जानवरों की बहुतायत इस बात का संकेत करती है कि यहां जंगल बहुत थे व जल की कमी नहीं थी। इन लोगों ने पत्थर व जस्ते से मनुष्य की मूर्तियां गढ़ी थी। यहां के स्त्री व पुरुष सोने, चांदी, हीरे व जवाहरात के अलकार पहनते थे। वे कातने, बुनने, मिट्टी के बर्तनों पर पालिश करने तथा दूर-दराज देशों से व्यापारिक संबंध स्थापित करने में संसार की तत्कालीन सभ्य जातियों में सर्वाधिक आगे थे।

हड़प्पा में मिले मिट्टी के बर्तन चाक पर बनाए गए थे। मिट्टी के बर्तनों के नमूने उस समय के कुम्हारों की उच्च कोटि की कलात्मक उपलब्धियों को बताते हैं। रूप और आकार की दृष्टि से इन बर्तनों की विविधता आश्चर्यजनक हैं। यहां बहुत बड़े घड़े मिले हैं जिनकी गर्दन पतली है तथा वे लाल रंग के हैं तथा उन पर काले रंग से चित्रकारी की गई है। हड़प्पा में पाए गए मिट्टी के बर्तनों की कुछ विशेषताएं हैं। इन पर अंकित चित्रकारी सरल नहीं है। इन पर वृत्त, त्रिभुज बृक्ष और बेलों के उपयोग से अनेक चित्र बड़ी कुशलतापूर्वक बनाए गए हैं।

यहां से तांबे का बना हुआ कुल्हाड़ा व आरी भी मिली है। कुल्हाड़े की आकृति आज जैसी कुल्हाड़ी की तरह ही है। आरी का हत्था लकड़ी का है तथा इसमें दांते भी बने हैं। यहां पत्थर काटने की छेनियां भी मिली हैं। अतः पत्थर काटने का शिल्प यहां अपनी उन्नत अवस्था में था। मछली पकड़ने के कांसे और तांबे की अनेक मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं। इससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि यहां बढ़ई का काम अच्छी तरह होता होगा।

मिट्टी की बनी हुई अनेक स्त्री मर्तियां मिली हैं जो कि भट्टी में पकाई हुई हैं। ये प्रायः नग्न दशा में हैं सिर्फ कमर से नीचे एक कपड़ा बधा है। इनके ऊपर कई आभूषण हैं। सिर पर पंख के आकार की टोपी है जिसके दोनों ओर दो दीपक हैं। अतः ये मूर्तियां पूजा के काम ही आती होंगी। मोहनजोदड़ों के अवशेषों में सूती कपड़ा चांदी के कलश के साथ चिपका हुआ मिला, यह कपड़ा खादी जैसा है। अतः अनुमान लगाया गया है कि यहां सूती कपड़ा तैयार होता था। यहां पर गोदामों के अवशेष बाकी हैं। सम्भवतः ग्रामों से लाया गया माल यहां एकत्र किया जाता था। यहां से हाथी दांत के टुकड़े व उनसे बना हुआ एक सुन्दर फूलदान मिला है जोकि उस समय हाथी के अस्तित्व को बताता है।

हड़प्पा व मोहनजोदड़ों से बहुत से आभूषण प्राप्त हुए हैं, जो तांबे और चांदी के बर्तनों में सजे हुए हैं। ये आभूषण मकानों के फर्शों के नीचे गडे हुए मिले हैं जिन्हें शायद सुरक्षा की भावना से वहां गाड़ा गया होगा। इनमें से कुछ गहने चांदी के हैं व कुछ मिट्टी तथा हड्डी से बने हुए हैं। हड़प्पा के खंडरों में कांसे का बना हुआ इक्का बरामद हुआ है। हडप्पा व चन्दूदड़ों दो पृथक नगर हैं दोनों नगरों में एक जैसे इक्कों का मिलना व बहुतायत में बैलगाड़ी की मूर्तियों के मिलने से अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय यातायात व व्यापार के लिए इक्कों व बैलगाड़ियों का प्रयोग होता होगा। यहां से पत्थर के बने हुए बाट भी मिले हैं जिनकी आकृति चौकोर व घनाकार है। यहां से धातुओं के बने तराजुओं के टुकड़े भी मिले हैं।

हड़प्पा में जो मुहरें मिली हैं वे वहां की संस्कृति की विशिष्ट प्रतीक ह। कुछ मुहरें चिकनी मिट्टी की चोकोर टिकियां हैं उन पर खुदाई की गई है। उनके ऊपर सांड, गैंडा, चीता, हाथी व मगर जैसे जानवरों की आकृतियां बड़ी स्पष्ट व सुन्दर बनी हुई हैं।

चन्दूदड़ों में एक मिट्टी की दवात भी मिली है जिससे पता चलता है कि वे लोग लेखों को उत्कीर्ण ही नहीं करते थे बल्कि वास्तविक रूप में प्रकट भी करते थे। मुहरों पर भी अभिलेख अंकित हैं लेकिन उन्हें अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। जानवरों की आकृतियों तथा उनके सूक्ष्म अंगों को जिस कुशलतापूर्वक इन मुहरों पर अंकित किया गया है वह निस्संदेह प्रशंसा के योग्य हैं।

मेसोपोटामिया में विभिन्न वस्तुएं जैसे माला के दाने, एक पिन पर बना स्वर्णिम बंदर और कुछ मुहरें मिली हैं। ये वस्तुएं मेसोपोटामियां तथा सिन्धु प्रदेश के बीच व्यापार की ओर संकेत करती हैं। अनुसन्धानकर्ताओं ने अनुमान लगाया है कि हड़प्पा के व्यापारी मिट्टी के बर्तन अनाज, सूती कपड़े, 'मसाले, पत्थर के बने हुए माला के दाने, मोती और सुर्मा भारत से ले जाते थे तथा धातुओं से बने हुए माल भारत में लाते थे।

इस अन्वेषण में हमें बड़े महल नहीं मिले हैं। अतः अनुमान लगाया गया है कि यहाँ शासन राजा द्वारा नहीं अपितु कुछ महत्वपूर्ण व्यक्तियों द्वारा चलाया जाता था। इन लोगों के धर्म के बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है। बहुत सी मुहरों पर कुब्ज वाले सांड की आकृति है अनुमानतः वे लोग इसे पवित्र समझते थे। कुछ मुहरों पर देवता की आकृति बनी है जिसे शिव का प्रारम्भिक रूप माना गया है। मनुष्य की छोटी आकृतियां व देवी की आकृतियां भी मिली हैं। विद्वानों का विश्वास है कि उस समय मातृदेवी की पूजा की जाती थी। वहां लोगों के अस्थिपंजर भी मिले हैं जिनसे अनुमान लगाया गया है कि यहां पर विभिन्न-जाति के लोग रहते थे। विद्वानों ने इनकी चार नस्ल बताई हैं। आस्ट्रेलोयड, भूमध्य सागरीय मंगोलियान, व अलपाइन। सबसे ज्यादा भूमध्य सागरीय नस्ल के अस्थिरपंजर प्राप्त हुए हैं।

इतनी उन्नत व विकसित संस्कृति का अंत लगभग 1500 ई० पू० में हो गया था। इसके पतन का मुख्य कारण प्राकृतिक प्रकोप बताया गया है। सिन्धु घाटी की भव्य सभ्यता के स्थान पर अब टीले मात्र ही रह गये हैं। इस संस्कृति का अध्ययन करने से लगता है कि भारतीय अब अपनी प्राचीन शैली व सुव्यवस्थित योजनानुसार नगर निर्माण करना लगभग भूलते जा रहे हैं। सिन्धु घाटी की सभ्यता से परिचित होने पर भारतीय संस्कृति में अनेक परिवर्तन हुए हैं तथा इससे भारतीय जनता वास्तव में लाभान्वित हुई है। भारतीय संस्कृति के इतिहास में सिन्धु घाटी की सभ्यता का काल सचमुच एक अत्यन्त विकसित काल था जिसने भारतीय संस्कृति के पिछले जीवन में अपनी विशेषताओं के कारण चार चांद लगा दिए थे।

भारतीय संतों एवं सूफियों का मानवता, एकता और संस्कृति में योगदान

रामशरण मिश्र शास्त्री

भारत में प्राचीन युग समाप्त हुआ, तभी से संत परम्परा का सूत्रपात हुआ—ऐसा इतिहास से विदित होता है। हमारा देश बहुत बड़ा है और इसका इतिहास भी बहुत पुराना है। प्राग्-ऐतिहासिक काल से ही यहां के निवासी दुनियां के साथ संपर्क में रहते रहे हैं और आचार-विचार में भी इनका उनसे आदान-प्रदान होता रहा है। भारतीय जनता की अनेक भावनाओं पर शताब्दियों से ही समय-समय पर आती रहने वाली विविध जातियों ने बहुत पहले से ही अपना न्यूनाधिक प्रभाव डाला और इस देश की बौध्द काल की संस्कृति ने भी उनकी विचार-धारा और भावनाओं में अनेक परिवर्तन ला दिए। इसके अतिरिक्त हर्षवर्धन-काल के अनन्तर उत्पन्न हुई राजनीतिक हलचलों के कारण उनकी सामाजिक दशा भी क्रमशः परिवर्तित होने लगी। और परम्परागत संस्कृति का पूर्ववत संभालना किंचित कठिन हो गया और इस प्रकार संस्कृति की विभिन्न विषमताओं का सामना करना पड़ा। यहां तक कि भारतीय दार्शनिक अपने प्रमुख मान्य ग्रन्थों को नये ढंग से समझाने के लिये विभिन्न भाष्यों एवं टीकाओं का निर्माण करने लगे। जब देश में मुस्लिम लोगों का धर्म सम्बन्धी प्रचार आरम्भ हुआ, तो भारतीय सन्तों को समाज और संस्कृति के संघर्ष में आमूलचूल परिवर्तन लाने की समस्या का सामना करना पड़ा।

भारतीय सन्तों ने अपनी अटपटी वाणी द्वारा जनता की चेतना को जागृत कर भारतीय संस्कृति के विकास में उस समय पूर्ण योग दिया, जब इस्लाम का प्रचार भारत में मुस्लिम-काल में जोरों पर था। इन सन्तों में गुरू नानकदेव, कबीर, तुलसीदास, सूरदास एवं रविदास का नाम उल्लेखनीय है। इस्लाम धर्म के अनुयायियों की प्रकृति हमारे देश के मूल लोगों से कुछ भिन्न थी, क्योंकि वे लोग दृढ़ साम्प्रदायिक भावनाओं द्वारा अनुप्राणित थे। यही कारण था कि मुस्लिम सम्पर्क में आने पर भारतीय समाज को उनकी कई बातों द्वारा आप से आप प्रभावित हो जाना पड़ा। अक्सर ऐसी बातें उनकी झकझोर दिया करती थीं। उनकी एकेश्वर की भावना, सामाजिक भेदभाव विहीनता एवं मजहबी समानता की विशेषताओं ने भारत के दलित और पिछड़े हुए वर्गों में एक नवीन आशा का संचार कर दिया और उनके मन में नवीन जागरण का भाव उठने लगा. प्रतिक्रिया स्वरूप देश के उच्च वर्गीय लोगों को भी नियन्त्रण के नियम बहुत कुछ ढीले करने पड़े; जिनमें भारतीय सन्तों ने पूर्ण हाथ बटाया। फलस्वरूप भारतीय समाज की सामूहिक मनोवृत्ति का झुकाव क्रमशः लोकोन्मुख होकर आधुनिकता का रूप लेने लगा। फिर देश में भक्ति साधना का आन्दोलन चला, जिसमें सभी वर्गों के लोग स्वभावतः योग देने लगे।

सूफियों का प्रवेश इस्लाम के साथ साथ देश में हुआ क्योंकि यह सम्प्रदाय इस्लाम धर्म का एक अंग था। हमारे भारतीय सन्तों का दृष्टिकोण बड़ा व्यापक रहा है। उन्होंने अपनी विचारधारा में ईश्वरत्व की एक मात्र सत्ता को सूफियों के अनुकूल बताया और उनकी विचार-भावनाओं को भारतीयता में आत्मसात कर लिया। सूफी प्रचारकों ने भी भारत में अपने दृष्टिकोण को अधिक व्यापक बनाने के लिये बौद्ध और हिन्दू मान्यताओं का समावेश कर लिया। उनके प्रचार की आकर्षक शैली की वजह से सूफी सम्प्रदाय लोकप्रिय होता गया। वस्तुतः भारतीय इस्लाम धर्म का आधुनिक रूप अधिकतर सूफी सन्तों की देन है। दार्शनिकों का गुरू देव तुल्य होता है और सूफियों ने भी अपने धर्मायपदेशक पीर में मानवत्व के साथ साथ देवत्व की भावना का समावेश कर लिया था। भारतीय योगियों के हठ योग, सूफियों के प्रेम योग और वैष्णवों के भक्तियोग जैसी साधनाओं के महत्व को एक समान माना गया है। इस प्रकार भारतीय जनता में समत्व की भावना जागी।

भारतीय सन्त और महात्माओं ने एक ओर जहां अद्वैतवाद के आधार पर एक सच्चे एवं स्वाभाविक साम्यवाद का प्रचार किया, वहां दूसरी ओर सूफियों की विचारधारा एवं साधना का प्रभाव, दक्षिणी और पूर्वी भारत पर कम नहीं पड़ा। स्वामी रामानुजाचार्य की प्रवृत्ति विषयक भावना के मूलस्रोत को विद्वान 'इस्लाम' शब्द के आत्म समर्पण का द्योतक मानते हैं। इसी प्रकार लिंगायत शैवों के जगद्‌गुरू सूचक शब्द को "अल्लामा अल्ला" का साम्य बताते हैं। वस्तुतः शैव और वैष्णव सम्प्रदायों की संकीर्णता का परित्याग सूफियों के प्रभाव से ही हुआ, जिसे संत तुलसीदास ने अपने रामचरित मानस में प्रतिपादित किया है। सूफियों ने इस देश में हमारी सभी बातों को समझने की चेष्टा की और उन्होंने ईरानी संस्कार और हिन्दू संस्कारों को समान बता कर भारतीयों की भक्ति-पद्धति को किसी न किसी

रूप में अपनाया क्योंकि भारतीय संतों ने सत्य के पूर्णरूप को स्वीकार किया है और संसार की विभिन्न अनेकताओं में भी उन्हें सदा एकता का ही आभास होता रहा है। फलस्वरूप उन्होंने 'दर्शन' की दृष्टि से अद्वैतवाद में आस्था रखी और धर्म-सिद्धान्तों के अनुसार प्रचलित सम्प्रदायों में समन्वय लाने की चेष्टा की। उन्होंने मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया; जिससे सभी भारतीय सम्प्रदाय उनसे प्रभावित हुए; उनके इस प्रयत्न को संसार के कल्याण की दृष्टि से महत्वपूर्ण कहा जा सकता है; जिसके प्रतीक इस युग के महात्मा गांधी रहे हैं।

वस्तुतः भारतीय सन्तों ने संसार के प्राणियों में सुख और शांति लाने का प्रयत्न किया और अपने उपदेशों को अनुभव की कसौटी पर कस कर सर्व साधारण के लिये सुलभ बना दिया। यद्यपि संत जन स्वयं अधिक शिक्षित नहीं थे परन्तु अपनी साधना और सहजभाव से सुख व शान्ति के मौलिक सिद्धान्त उन्होंने लोगों को समझाए। जो बातें पुराने वैदिक साहित्य, प्राचीन पौराणिक संस्कृति की अपरिचित सी जान पड़ती थी, वे सभी बातें सन्तों की वाणियों में बोधगम्य बन गई और धीरे-धीरे भारत में ऐसे सन्त साहित्य का निर्माण हो गया जो अपने विषय की गम्भीरता में किसी साहित्य से कम न रहा। इस प्रकार सन्तों ने भारतीय संस्कृति के विकास में अनेक प्रकार से सहयोग प्रदान किया।

संत कबीर को सन्त परम्परा का प्रवर्तक कहा जाता है उनका आध्यात्मिक जीवन किसी आर्थिक एवं सामाजिक आधार पर कोई भेदभाव लाने के लिये नहीं था। वह अपनी जीवन साधना एवं आत्म-उपलब्धि को प्रायः जीवन मुक्त का अनुभव कहा करते थे। भारतीय संस्कृति के दृष्टिकोण से यह भावना कोई नवीन बात नहीं थी। प्राचीन काल से ही उपनिषदों द्वारा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन होता आया था। सन्त-परम्परा का आरम्भ होने से पहले स्वामी शंकराचार्य ने इसका निरूपण केवलाद्वैत की धारणा "ब्रह्मसत्यं" के साथ किया है और भारतीय दर्शनों में अद्वैतवाद को बहुत पीछे तक महत्व मिलता रहा है, किन्तु बाद में सन्तों की भावना "वसुधैव कुटुम्बकम्" वाली बनी और उन्होंने सर्व साधारण को विश्व बन्धुत्व का पाठ पढ़ाया। यहां तक हम कह सकते हैं कि संतों से भारतीय साहित्य, संगीत एवं ललित कलाएं उपेक्षणीय नहीं रही है। हिन्दी भाषा में सन्तों का पर्याप्त साहित्य मिलता है। सूफी सन्तों ने प्रेमगाथा साहित्य का निर्माण किया है। मलिक मोहम्मद जायसी की 'पद्मावत' व 'अखरावट" जैसी बेजोड़ रचनाएं इसी सम्बन्ध में लिखी हुई हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय संगीत की परम्परा में सूफियों ने गजल, ख्याल, कव्वाली और अन्य प्रकार की तर्जें लिखी हैं। यह भारत के लिए गौरव की बात है।

वास्तव में इस बीसवीं शताब्दी में भी हमें भारतीय संतों और मुस्लिम सूफियों के साहित्य का मनन करने से जीवन के मर्म-धर्म एवं संस्कृति को समझने में बड़ी मदद मिलती है। संतों की वाणी और उनका साहित्य किसी देश या काल की सीमा से आबद्ध नहीं होता, वह सारी मानव जाति के कल्याण के लिए और सब काल के लिए होता है। हम जितना ही सन्तों की वाणियों का मन्थन करेंगे उतने ही मूल्यवान रत्न हमें हाथ में लगेंगे।



मध्यकालीन पुनर्जागरण पर इस्लाम और सूफी धर्म-साधना का प्रभाव

डा० रमाकान्त शर्मा

इस्लाम तथा सूफी संतों का भारत में आगमन एक ऐतिहासिक घटना है। इस धर्म और संस्कृति ने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से कुछ सीमा तक भारतीय कवियों तथा उनकी धर्म चेतना को अवश्य ही प्रभावित किया है। हिन्दू और मुस्लिम दोनों जातियों ने एक दूसरे से बहुत कुछ सीखा और दोनों के सम्मिश्रण के फलस्वरूप एक नई सभ्यता एवं संस्कृति प्रकाश म आ गई, जिसे इतिहास में इण्डो-मुस्लिम संस्कृति कहा जाता है। सूफी सन्त हृदय की शुद्धता, बाह्याचरण की पवित्रता, ईश्वर के प्रति अपार श्रद्धा, पारस्परिक सहानुभूति, विश्वभ्रातृत्व, एवं विश्व प्रेम की ओर सबका ध्यान आकर्षित करते थे और उन्हें अपने मत की मुख्य देन बतलाते हुए उसे स्वीकार कर लेने का आग्रह भी करते थे। इस प्रेम तत्व और मतवालेजन से भारतीय सन्त भक्त भी प्रभावित हुए। यद्यपि, मधुराभक्ति हमारे यहां उससे पूर्व भी विद्यमान थी, किन्तु सूफियों के 'प्रेम तत्व' ने भारतीय समाज को बहुत प्रभावित किया। मुस्लिम धर्म 'इस्लाम' तथा सूफियों के प्रभाव की व्यापकता बताते हुए प्रो० ताराचन्द ने यह स्वीकार किया है कि इस्लाम का प्रभाव न केवल हिन्दू धर्म और कला पर ही पड़ा, वरन साहित्य और विज्ञान भी उक्त प्रभाव से अछूते नहीं रह सके।

सूफी कवियों ने प्रेम और सहृदयता का सहारा लेकर हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों को बहुत निकट लाने में सफलता प्राप्त की। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि दो भिन्न संस्कृतियों को निकट लाने का जितना कार्य सूफियों ने किया उतना ही हिन्दू भक्तों ने भी किया था। इनके सामूहिक प्रयास से दोनों संस्कृतियां मतभेद को काफी भुला सकीं। मुसलमानों के भारत आगमन ने मध्यकाल के हिन्दू समाज में व्याप्त छूआछूत, ऊंच-नीच के भेदभाव को बहुत सीमा तक कम कर दिया। मध्यकालीन भारतीय युग-पुनर्जागरण में मुसलमानों और सूफी सन्तों की इसे सबसे बड़ी देन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसी तथ्य पर प्रकाश डालते हुए डा० मलिक मोहम्मद लिखते हैं—"कर्मफल या कर्म-सिद्धान्त के अन्धविश्वास के कारण जन्म से नीच समझी जाने वाली जातियों में उत्कट विद्रोह का भाव अभी आया नहीं था। परन्तु मुसलमानों के संसर्ग ने उन्हें जागृत कर दिया और उन्हें अपनी स्थिति की वास्तविकता का परिज्ञान होने लगा। मुसलमान-मुसलमान में कोई भेद-भाव न था। उनमें न कोई नीच था न ऊंच। मुसलमान होने पर छोटे से छोटा व्यक्ति अपने आपको सामाजिक दृष्टि में किसी भी दूसरे मुसलमान के बराबर समझ सकता था। अहले-इस्लाम होने के कारण वे सब बराबर थे। पर हिन्दू-धर्म में यह सम्भव नहीं था।

सूफी सन्तों के प्रयास तथा मुसलमान जाति के साथ एक लम्बे समय तक रहने के कारण अछूतों को भी हिन्दू समाज में चाहे समानता का स्तर प्राप्त नहीं हुआ हो, परन्तु भगवान की भक्ति करने के लिये पूरा-पूरा अवसर दिया जाने लगा। अनेक मध्यकालीन हिन्दू सन्तों ने मुसलमानों और नीच समझी जाने वाली अनेक जातियों के लोगों को अपना शिष्यत्व प्रदान किया कविवर रामधारी सिंह दिनकर ने मध्यकालीन पुनर्जागरण में सूफी सन्तों और इस्लाम धर्म की देन को स्पष्ट करते हुए ठीक ही लिखा है कि यदि इस्लाम के भीतर समानतावाला सिद्धान्त प्रबल नहीं होता, यदि सूफियों और हिन्दू भक्तों के बीच सतसंगति का सम्बन्ध नहीं होता और यदि समाज के हर तबके में नये जागरण की गूंज, नहीं उठी होती, तो वैष्णव आचार्य सामाजिक आचारों में उदारता दिखाने को तैयार होते या नहीं यह कहना कठिन है। हां, इस तथ्य को स्वीकार करने में हमें किंचित संकोच नहीं होगा कि रामानुजाचार्य तक भक्ति आन्दोलन पर इस्लाम का रंच भर भी प्रभाव नहीं पड़ा था। इस्लाम का प्रभाव उस पर तब पड़ने लगा, जब भक्ति आन्दोलन उत्तर भारत में पहुंचा जहां मुसलमानों की संख्या बहुत काफी थी, जहां स्थान-स्थान पर सूफियों का निवास था और जहां के हिन्दू मुसलमानों के रीति-रिवाज और सामाजिक आचारों से थोड़ा बहुत प्रभावित होने लगे थे। इधर डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी सूफी लोगों को ठीक एकेश्वरवादी नहीं मानते। उनके अनुसार "सूफियों का विश्वास बहुत कुछ इस देश के विशिष्ट द्वैतवादी दार्शनिकों की भांति है। विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिकों का व्यावहारिक धर्म भी भक्ति ही है और इन साधकों का व्यावहारिक धर्म भी भक्ति ही है। निस्संदेह इन साधकों की मधुर भक्ति-भावना ने हमारे देश के सन्तों को भी प्रभावित किया है और उन्होंने भी इस देश से बहुत कुछ ग्रहण किया है।"

इस्लाम के प्रभाव का आरम्भ

जहां तक इस्लाम और भारत के प्रथम सम्पर्क का प्रश्न है, हम यह कह सकते हैं कि इस्लाम और भारत का सम्पर्क सबसे पहले अरब सागर के व्यापारिक मार्गों द्वारा हुआ। लंका, मालाबार और काठियावाड़ के समुद्र-तटों पर मुसलमान व्यापारी आने-जाने और बसने लगे। 637 ई० में अरबों का एक जहाजी बेड़ा बम्बई के निकट थाना में उतरा। इसके बाद भड़ौंच, दाबुल और कैलाल में और बेड़े आये। 712 ई० में मुहम्मद-बिन कासिम ने सिन्ध विजय की, और फिर मुसलमानों ने मुल्तान पर कब्जा किया। सिन्ध के मुस्लिम शासन में हिन्दुओं को अपने धर्म के अनुसार आचरण करने की स्वतंत्रता थी। इस प्रकार खम्बात और गुजरात के हिन्दू शासक इस्लाम का आदर करते थे। धीरे-धीरे तुर्क मुसलमान और मुगलों का सम्पर्क भारत से होता रहा। भारत में इस्लाम के योग को समझने के लिये चार प्रकार के मुसलमानों का अध्ययन आवश्यक है :—(1) प्रशासक, दरबारी और राजकीय कर्मचारी (2) मुल्ला, मौलवी, विद्वान और साहित्यिक (3) सूफी सन्त, महात्मा और सन्यासी और (4) साधारण जनता, कारीगर, दस्तकार आदि।

प्रशासक और दरबारी वर्ग सामान्यतः धर्म को केवल सत्ता हथियाने का साधन समझते थे। यह वर्ग शक्ति-संचय में जुटा रहता था। मुल्ला-मौलवी धर्म के कट्टर थे। अत हिन्दू-समाज से विलगाव की भावना रखना स्वाभाविक था। हां, कुछ साहित्यकारों, सन्तों और साधारण जनता में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति की निकटता का अनुभव किया जा सकता है। इनमें उतनी कट्टरता नहीं थी। साधारण मुस्लिम-समाज ने हिन्दुओं के धार्मिक आचारों, पूजा-पाठ तथा आचरण के तौर तरीकों को किसी हद तक स्वीकार किया था। ध्यान देने की बात यह है कि धार्मिक मान्यताओं के अलावा सामाजिक अवस्था में भी भारत के मुसलमान हिन्दुओं के समान ही जातियों में बंटे थे, करीब करीब हर व्यवसाय एक जाति बन गया था, और लोग अपनी-अपनी जाति में ही रोटी-बेटी का रिश्ता रखते थे। इन थोड़े से तथ्यों से स्पष्ट है कि छोटे श्रेणी के कारोबारी मुसलमान हिन्दुओं से मेल-मिलाप में आपत्ति नहीं रखते थे। किन्तु, ऐसा होते हुए भी हिन्दू और मुसलमान में पूरी तरह एका नहीं हो सका। वे अपने अपने रीति-रिवाजों से इस तरह बंधे रहे कि उनमें पूरी तरह भावनाओं का सामन्जस्य नहीं हो पाया।

हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति की समन्वयपरक चेष्टाएं:

मध्ययुगीन पुनर्जागरण के समय सूफीमत में समन्वय की प्रवृत्ति प्रमुख रूप से रही। इस दृष्टि से कादिर और शत्तारी सूफी तथा उत्तर प्रदेश के समन्वय मार्गी सूफियों का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। डा० बुधप्रकाश ने हिन्दुओं और मुसलमानों के समान आचार पर प्रकाश डालते हुए ठीक ही लिखा है कि उक्त महात्माओं के प्रयत्नों से हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के काफी निकट आये। बहुत से मुसलमान मुसीबतों से बचने के लिये मूर्तियों और मज़ारों की मिन्नतें करने लगे। चेचक से बचने के लिये प्रायः सभी शीतला पर चढ़ावा चढ़ाते और हिन्दुओं जैसी रस्में अदा करते थे। खासतौर से दीवाली पर ईद की तरह ही मुसलमान खुशियां मनाते और बहन-बेटियों के पास भेंट भेजते थे। इस अवसर पर बरतनों को रंग कर उनमें लाल चावल भरकर भेजने का रिवाज था। औरतें पीरों और बीबियों की मिन्नतें करतीं और उनके नाम के उपवास करती थीं। ये सब तथ्य शेखसिहमद सरहिन्दी की "मक्तूबात' से प्रकट होते हैं। धीरे-धीरे धर्मग्रन्थों के अनुवाद, लोक भाषाओं की साहित्य में श्रीवृद्धि, स्थापत्य-कला में आपसी शैलियों का समन्वय तथा चित्रकला के क्षेत्र में आपसी योगदान होने लगा। हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही ज्योतिष विद्या के सूत्रों और भविष्यवाणियों में विश्वास करते थे। साथ ही उस युग के धार्मिक आन्दोलनों के उदार विचारों का प्रचार सन्त-उपदेशकों का एक समूह 'जनता की समझ में आ जाने वाली' भाषा में कर रहा था। इन बातों से प्रोत्साहन पाकर जनता की प्रतिभा बहुमुखी होकर प्रस्फुटित हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकाल में मुसलमानों का प्रभाव हिन्दुओं पर तथा हिन्दुओं का प्रभाव मुसलमानों पर काफी हद तक पड़ा। किन्तु, इतिहासकारों का एक वर्ग ऐसा भी है जिसका मत है कि मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव इतने व्यापक रूप से हिन्दुओं पर कभी नहीं पड़ा।

डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव लिखते हैं कि इन दो शक्तिशाली धर्मों, संस्कृतियों के संघर्ष ने मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति पर कोई वास्तविक रचनात्मक प्रभाव नहीं डाला, जबकि अंग्रेजों और पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क ने 19 वीं सदी के सांस्कृतिक पुनरुत्थान को जन्म दिया। हिन्दू और मुस्लिम दोनों सभ्यताओं के सदियों के सम्पर्क से परस्पर जो भी प्रभाव पड़ा यह केवल इस संयोग की बात है कि वे एक देश में इतने समय तक साथ-साथ रहते रहे। वैसे हिन्दू मुसलमानों में स्वतः आपसी लाभ के लिये एक दूसरे से कुछ सीखने की कोई उत्सुकता नहीं थी। भारत के मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलनों का जन्म हिन्दू-धर्म और इस्लाम के परस्पर सम्पर्क से नहीं हुआ था। इतना सब कुछ लिखने के बाद इन्होंने हिन्दू-समाज जिन-जिन क्षेत्रों में मुसलमानों से प्रभावित हुआ उनका वर्णन बड़े ही रोचक ढंग से किया है। उनके अनुसार सामाजिक जीवन और मनोरंजन, भारतीय ललित कला तथा स्थापत्यकला, युद्ध-प्रणाली, चित्रकला, उत्थानकला आदि क्षेत्रों पर मुसलमानों का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। इधर मुसलमान लोग भी हिन्दुओं के सामाजिक संगठन, सभ्यता और संस्कृति से काफी प्रभावित हुए थे।

डा० आशीर्वादीलाल इस तथ्य पर विशद रूप से प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि जो हिन्दू मुसलमान हो गये थे, वे भी अपनी हिन्दू परम्पराओं को पूरा-पूरा नहीं भुला सके। सन्तों और दरगाहों की पूजा करना हिन्दुओं के स्थानीय और जातीय देवी-देवताओं की पूजा करने का ही दूसरा रूप था, जिसे ये नये मुसलमान तुरन्त ही नहीं छोड़ सके थे। मुसलमानी त्यौहार भी भारत के हिन्दुओं के त्यौहारों की तरह ठाट-बाट से मनाये जाने लगे शबे बरात का त्यौहार शिवरात्रि के हिन्दू त्यौहार की तरह रात्रि भर जागरण करके शोरगुल के साथ मनाया जाने लगा। मुसलमानों में अकीका और बिस्मिल्लाह के उत्सव हिन्दुओं के मुण्डन और विद्यारंभ संस्कारों जैसे मनाये जाने लगे। इसी तरह हिन्दुओं के विवाहों के संस्कारों ने मुसलमानी

निकाहों को प्रभावित किया और मुसलमानों ने वधू-शृंगार करने की प्रथा विशेष रूप से अपना ली। हफ्त-ओ-नू हिन्दू-वधू के सोलह शृंगार का ही दूसरा नाम है। हिन्दू जाति व्यवस्था भी जनवादी मुस्लिम समाज को प्रभावित किये बिना न रही। दिल्ली-सल्तनत काल के प्रारम्भिक दिनों में ही तुर्क, पठान सैयद और एक शेख तक "अपनी से नीची जाति या चारों धात अथवा कौमों से बाहर, यहां तक कि अपनी निजी कौम से भी बाहर, विवाह सम्बन्ध करने की बात नहीं सोच सकता था।" मुसलमानों ने भी हिन्दुओं के कुछ कीमती वस्त्रों जैसे पाग और चीर आदि को पहिनना शुरु कर दिया था। यहां तक कि मुसलमान सुल्तान भी हिन्दू छत्र और अन्य राजकीय चिह्न धारण करने लगे थे। अपने-अपने आहार और शृंगार सज्जा में भी मुसलमान हिन्दुओं से बड़े प्रभावित हुए थे। पान खाना उनमें बड़ा ही जनप्रिय हो उठा था। हिन्दू पकवान, मिष्ठान और खूब पकी हुई मिर्च मसाले युक्त भोजन की वस्तुएं उन्हें अब अच्छी लगने लगी थीं और उन्होंने हिन्दू पाक कला की बहुत सी बातों को अपना लिया था। इस्लाम में अंगूठियां, हार, कानों के आभूषण आदि पहिनना वर्जित था, पर भारतीय धनी मुसलमान इन्हें धारण करने लगे थे। मुसलमानों की धार्मिक विचारधारा और रीति-रिवाजों पर भी हिन्दू धर्म का कुछ सीमित सा प्रभाव पड़ा था। हिन्दी साहित्य के प्रेम काव्य की रचना पर मुसलमानी संस्कृति का प्रभाव विशेषरूप से पड़ा है। हमें इस तथ्य को भी स्वीकार करना होगा कि प्रेमकाव्य की रचना विशेषकर मुसलमानों के कोमल हृदय की अभिव्यक्ति है।

मुस्लिम शासकों में कुछ ऐसे शासक भी थे, जो हिन्दू धर्म के प्रति उदार ही नहीं, वरन उस पर आस्था भी रखते थे। जहां वे एक ओर इस्लाम के अन्तर्गत सूफी धर्म के प्रचार की भावना में विश्वास मानते थे वहां दूसरी ओर वे हिन्दुओं के धार्मिक आदर्शों को भी सौजन्य की दृष्टि से देखते थे। प्रेम काव्य की रचना में इसी भावना का आधार है। भारत में सूफी धर्म साधना के व्यापक प्रभाव के कारणों का उल्लेख करते हुए डा० रामकुमार वर्मा ने ठीक ही लिखा है कि भारत में सूफी सम्प्रदाय का स्वागत इसलिए विशेष रूप से हुआ है कि उसमें वेदान्त की पृष्ठभूमि है और अपने मूल रूप में सूफी सम्प्रदाय वेदान्त का रूपान्तर मात्र है। अरब और भारत के जो सम्बन्ध प्राचीन काल से चले आते हैं, उनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वेदान्त की विचारधारा अरबी में अवश्य रूपान्तरित हुई होगी और सूफी धर्म ने निर्माण में वेदान्त की चिन्तन शैली का आश्रय अवश्य ग्रहण किया होगा। दूसरा कारण यह था कि सूफी सम्प्रदाय ने अपने द्वार सभी जाति के लोगों के लिये खोल रखे थे। वर्ण-भेद और वर्ग भेद के समस्त भावों के पर्याय उनके सात्विक जीवन की श्रेष्ठता ही उनके महान व्यक्तित्व का मापदंड था। यहां तक कि इस्लाम के न्यायाधीश भी उन्हें शेख, मलिक, मोमिन, खलीफा आदि की उपाधियों से अलंकृत करते थे। सात्विक जीवन की समस्त सुविधाओं से भरपूर क्या सूफीमत में दीक्षित हो जाने का यह प्रलोभन अस्पृश्य और घृणा से देखी जाने वाली जातियों के लिये कम था? फल भी यही हुआ कि हजारों और लाखों की संख्या में हिन्दू धर्म के विविध वर्णों के असंतुष्ट सदस्य सूफी सन्तों के चमत्कारों से प्रभावित होकर और उनकी सात्विकता और सहिष्णुता से आकर्षित होकर इस्लाम धर्म के अंतर्गत सूफी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए और भारत में मुसलमानों की संख्या बरसात की बढ़ी हुई नदी की भांति बढ़ती ही गई। और यह सत्य है कि भक्ति आन्दोलन व सूफी सन्तों के कारण दोनों धर्मों में समन्वय की भावना उत्पन्न हुई। प्रमाण के लिये हम 'अल्लोपनिषद' को भी ले सकते हैं। इसकी रचना हिन्दुओं ने की थी और इसमें अल्लाह को विष्णुरूप तथा मुहम्मद को महात्मा बुद्ध का अवतार बताया गया था। अतः स्पष्ट है कि भक्ति आन्दोलन के उपरोक्त दोनों धर्मावलम्बी एक दूसरे के समीप आते चले गये और उन दोनों की संस्कृति व सभ्यता भी विभिन्न क्षेत्रों में प्रभावित हुई।

हिन्दी साहित्य पर प्रभाव का प्रश्न

जहां तक हिन्दी साहित्य पर मुस्लिम प्रभाव का प्रश्न है हम यह कह सकते हैं कि आरम्भ में हिन्दू साहित्य पर मुस्लिम प्रभाव नाम मात्र का था। लगभग तीनसौ वर्ष तक हिन्दुओं ने फारसी और अरबी भाषा के अध्ययन की ओर ध्यान नहीं दिया परन्तु फारसी के राजभाषा होने के कारण भारत में धीरे धीरे इसका प्रचलन हुआ। राजभाषा के कारण सारा सरकारी काम काज फारसी में ही होता था। अतः जो हिन्दू सरकारी नौकरी के इच्छुक होते थे वे फारसी सीखने लगे। इस कारण हिन्दी पर फारसी भाषा का प्रभाव पड़ने लगा। सिकन्दर लोदी के शासन में कुछ ब्राह्मणों ने फारसी का अध्ययन आरम्भ किया। परन्तु सिकन्दर लोदी के शासनकाल में भी हिन्दू व मुसलमानों में विशेष साहित्यिक समन्वय नहीं हुआ। फीरोज तुगलक ने हिन्दी व संस्कृत के अपभ्रंश शब्दों का अनुवाद फारसी में करवाया। परन्तु उसने लिपि फारसी ही रखी। इस कारण भी दोनों भाषाओं में समन्वय न हो सका। अकबर के शासनकाल ने इस क्षेत्र में अपूर्व सहयोग दिया। उसके काल में हिन्दी के कवियों ने इस्लामी भावना को स्थान देना आरम्भ किया। हिन्दू सहर्ष फारसी सीखने लगे और इसका परिणाम यह हुआ कि शाहजहां के स्वर्णकाल में हिन्दू स्वतंत्र रूप से फारसी भाषा में अपनी रचनाएं करने लगे। शाहजहां के शासन काल में सर्व प्रथम चन्द्रभान ने फारसी में रचना करनी प्रारम्भ की। इसके उपरान्त जब भारत में सूफी मत का दिनों दिन प्रसार होने लगा तो इस मत के प्रभाव से भी हिन्दुओं ने फारसी सीखना आरम्भ किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि फारसी भाषा मुगलकाल तक उन्नत अवस्था में रही। काव्य रचना तथा इतिहास ग्रन्थ दोनों इसी भाषा में लिखे जा रहे थे। मुसलमान सन्तों की जीवनियां भी फारसी में लिखी जाने लगीं। परन्तु तत्कालीन फारसी कविताओं में प्रेम का अधिक वर्णन होता था जो प्रायः सांसारिक प्रेम से आध्यात्मिक प्रेम की ओर संकेत करता था। इन कविताओं में मौलिकता का अभाव था।

हिन्दू मुस्लिम सभ्यता के आपसी सम्पर्क की सबसे बड़ी उपलब्धि उर्दू भाषा का आविर्भाव थी। वैसे तो मुसलमान लोग

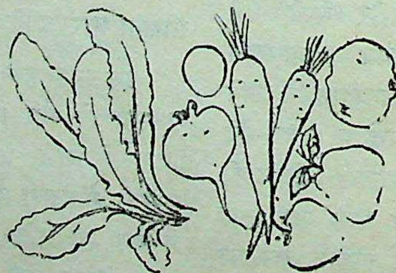
अपने दैनिक जीवन में अरबी व फारसी का ही प्रयोग करते थे, परन्तु जब हिन्दू, मुस्लिम शासकों के दरबार में आने जाने लगे तो पारस्परिक संवाद के लिये दूसरी भाषा की आवश्यकता हुई। अतः मुस्लिम भाषाओं व भारतीय भाषाओं के सम्मिश्रण से एक नवीन भाषा का प्रादुर्भाव हुआ—जिसे "उर्दू" के नाम से जाना जाता है। वैसे यह हिन्दी की शैली मात्र है। राजकीय सेना में हिन्दू व मुसलमान समान रूप से भर्ती किये जाने लगे थे, इनको भी आपसी वार्तालाप के लिये उर्दू का प्रयोग करना पड़ा। इस कारण भी उर्दू का प्रचलन हुआ और आरम्भ में इसे 'छावनी भाषा' के नाम से पुकारा जाने लगा। इस भाषा की लिपि फारसी है तथा इसमें खड़ी बोली के शब्दों का व्यापक प्रयोग है। हिन्दी और उर्दू की व्याकरण भी एक ही है।

भाषा के अतिरिक्त मुस्लिम सम्पर्क से भारतीय साहित्य में अनेक विशेषताओं का आविर्भाव हुआ। सूफी विचारधारा से प्रेरणा लेकर विरहानुभूति की अभिव्यक्ति में तीव्रता आ गई तथा अलौकिता को प्राधानता दी जाने लगी। सूफियों की 'इश्क हकीकी' से काव्य में रहस्यवादी चेतना जाग्रत हुई। ध्यान देने की बात है कि केवल भारतीय साहित्य ही मुस्लिम साहित्य और विचारधारा से प्रभावित नहीं हुआ वरन् मुस्लिम साहित्य भी भारतीय साहित्य से बहुत कुछ प्रभावित हुआ। आरम्भ में तो मुसलमान भारतीय साहित्य से अप्रभावित ही रहे क्योंकि वे भारतीय भाषाओं में अभिरुचि नहीं रखते थे। परन्तु जब वे स्थायी रूप से बस गये तथा हिन्दुओं के सम्पर्क में अधिकाधिक आने लगे तब उनकी अभिरुचि भारतीय भाषाओं के प्रति जाग्रत होने लगी। उन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी का अध्ययन करना आरम्भ किया। इन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने के साथ साथ उन्होंने इन भाषाओं में स्वतंत्र रूप से साहित्य का निर्माण भी किया। रहीम, अमीर खुसरो व मुहम्मद जायसी आज भी हिन्दी साहित्य में अमर हैं। रहीम के दोहे हिन्दी साहित्य में अपना विशेष महत्व रखते हैं। अमीर खुसरो अपनी पहेलियों और मुकरियों के लिये विख्यात हैं। जायसी ने 'पदमावत' नामक काव्य लिखकर हिन्दू मुस्लिम समन्वय का अच्छा प्रयास किया है। मुगलशासकों के संरक्षण में अनेक हिन्दी-संस्कृत ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद हुआ। इससे यह स्पष्ट है कि मुगल शासक भी हिन्दी व संस्कृत से प्रभावित थे।

सामान्य भक्ति मार्ग का उदय

अन्ततः हिन्दू मुस्लिम संस्कृति में से किसने किसको अधिक प्रभावित किया। इस विषय में डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव द्वारा उद्धृत टीट्स के इस कथन का उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि सब कुछ कहने के पश्चात् भी इसमें तनिक ही संदेह रह जाता है कि हिन्दू धर्म ने, जो कि अभी अपने सुस्थिर मार्ग पर आश्चर्यजनक सन्तोष और विश्वास से बढ़ता जाता है: इस्लाम पर, अपने ऊपर इस्लाम के प्रभाव की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभाव डाला है। किन्तु पण्डित प्रवर रामचन्द्र शुक्ल ने जिस 'सामान्य भक्तिमार्ग' का उल्लेख किया है, उसका श्रेय निश्चित रूप से हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के समन्वयात्मक रूप को मिलता है। उन्होंने ठीक ही लिखा है कि "इस्लाम के प्रारम्भिक काल में ही भारत का सिन्ध प्रदेश ऐसे सूफियों का अड्डा रहा जो यहां के वैदांतियों और साधकों के सत्संग से अपने मार्ग की पुष्टि करते रहे। अतः मुसलमानों का साम्राज्य स्थापित हो जाने पर हिन्दुओं और मुसलमानों के समागम से दोनों के लिये जो एक 'सामान्य भक्तिमार्ग आविर्भूत हुआ वह अद्वैती रहस्यवाद को लेकर, जिसमें वेदांत और सूफीमत दोनों का मेल था। पहले पहल नामदेव ने फिर रामानन्द के शिष्य कबीर ने जनता के बीच इस 'सामान्य भक्तिमार्ग' की अटपटी बाणी सुनाई। नानक, दादू आदि कई साधक इस नये मार्ग के अनुगामी हुए और 'निर्गुण संतमत' चल पड़ा।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय 'निर्गुण सन्तमत' को जन्म देने में भारतीय वेदान्ती विचारधारा तथा सूफी रहस्यभावना व प्रेम तत्व अपना विशेष रूप से उल्लेखनीय स्थान रखते हैं।



प्राकृतिक सौन्दर्य, शिल्पकला में सर्वश्रेष्ठ धार्मिक एवं शीतल पहाड़ी स्थल

राजस्थान का गौरव—माउण्ट आबू

भूरचन्द जैन

आबू राजस्थान प्रदेश का एक मात्र पहाड़ी शीतल, दर्शनीय एवं पाषाणकला कृतियों के लिए विख्यात केन्द्र है। ग्रीष्मकाल में प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लूटने के लिये देश-विदेशों के हजारों सैलानी, भ्रमणकारी, पर्यटक यहां आया करते हैं। वहां धार्मिक दृष्टिकोण से भी यात्रियों के आने का तांता सदा बना रहता है। आबू भारत के अटल पहरेदार हिमालय एवं नीलगिरी के दक्षिण पश्चिमी शृंखला में स्थित है। इस पर्वत की सबसे ऊंची चोटी गुरुशिखर है, जिसकी ऊंचाई समुद्रतल से 5653 फुट है और सबसे कम ऊंचाई यहां की नक्की झील की है, जो 3790 फुट पर स्थित है।

राजस्थान के इस पहाड़ी स्थल को स्वर्ग की उपमा प्रदान की गई है। वास्तव में यदि यहां के प्राकृतिक सौन्दर्य, शिल्पकला, दर्शनीय स्थानों, ऐतिहासिक स्मारकों, नदी-नालों, पशु-पक्षियों, के आवभाव, ऋषि मुनियों की गुफाओं, पेड़ पौधों की सुगन्ध एक ऐसा वातावरण प्रस्तुत करती हैं कि यह स्वर्ग की कल्पना के बराबर ही है। आबू ऋषि मुनियों की तपो भूमि के लिये विख्यात है, जिनकी गुफायें आज भी उनकी स्मृतियों को ताजा करती हैं। यहां का प्रसिद्ध देलवाड़ा का जैन मन्दिर प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ के निवास के लिये इतना भले ही विख्यात न रहा हो परन्तु शिल्पकला के लिये आज भारत में ही नहीं, विदेशों में भी ख्याति प्राप्त किये हुए है। यहां की नक्की झील का प्राकृतिक सौन्दर्य और उसकी सैर का आनन्द, गुरुशिखर की यात्रा, अर्बूदादेवी के दर्शन, रसिया बालम और कुंआरी कन्या की प्रेम कहानी, मन्दाकिनी कुण्ड की गाथा अचलेवर के जैन मन्दिरों की छवि, रघुनाथ जी की आराधना, सूर्यास्त की झलक, गौमुख की शीतल, मधुर जलधारा, भग्नावशष के रूप में महाराणा कुम्भा का किला, सिरोही के महाराजा मानसिंह की स्मृति चिन्ह समाधि, टांडरांक अनेकों गुफाय, कुण्ड, आश्रमों की रचनाए देखने योग्य है। इन सबकी बदौलत आज राजस्थान का सिरमौर तीथ स्थान एव दर्शनीय स्थल आबू इतनी ख्याति लिय हुए है।

आबू की उत्पत्ति के सम्बन्ध म कई किंवदन्तियों का उल्लख सुनने को आता है। इस पहाड़ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक पौराणिक उल्लख इस प्रकार मिलता है कि यहां पर देवी देवताओं का वास था, ऋषि मुनियों की तपोभूमि थी लेकिन इसकी भमि सीधी और सपाट थी जिसके बीच मे एक गहरा गड्ढा था, जिसको झुककर देखने वाला भी चकरा जाया करता था। इसी भूमि पर वशिष्ठ मुनि तपस्या किया करते थे और उनकी कामधेनू गाय चरती फिरती इसके अन्दर गिर गई। जिसको निकालने के लिये ऋषि मुनियों को बड़ी ही परेशानी हुई सभी ने मिलकर सरस्वती नदी से प्रार्थना की और उसका तल प्रवाह इस गढ़े की ओर बड्ढ़ा और गढ़ा पानी से भर गया। गाय तैर कर अपने आप बाहर आ गई। इसकी एक अन्य दन्तकथा के अनुसार गाय कामधेनु होने के कारण गढ़े में गिरने पर अपने आप दुहने लगी एवं गड्ढा दूध से भर गया और गाय स्वतः ही तैर कर पार हो गई लेकिन इस गड्ढे को सदा के लिए मिटाने हेतु हिमालय पर्वत से वशिष्ठ मुनि ने प्रार्थना की। हिमालय ने अपने लंगड़े पुत्र नन्दीवर्धन को इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये भेजा। नन्दीवर्धन ने अर्बुदा नामक नाग की मदद से गहरे गढ़े में प्रवेश कर इसको पाटने का कार्य सम्पन्न किया। जिसके कारण इस पर्वत का नामकरण नन्दीवर्धन एवं अर्बदाचल विख्यात हुआ।

यह स्थल ऋषि मुनियों और देवताओं का निवास स्थान और तपोभूमि अर्बदाचल होने से पूर्व भी होना बताया जाता है। इसका विश्व-विख्यात इतिहास भी है। यहां पर एतिहासिक युग एवं यातनाओं से भी अनेकों गाथाएं है। वहां अग्निकुलीय राजपूतों की उत्पत्ति का गौरव भी इसी स्थान को प्राप्त है। अंग्रेजी शासन से यह स्थान विशेष रूप से प्रकाश एवं विकास की ओर अग्रसर हुआ।

आबू की ख्याति केवल शीतल पहाड़ी स्थल होने के कारण ही नहीं है। अपितु इसकी ख्याति का मुख्य कारण देलवाड़ा जैन मन्दिरों की शिल्पकला की सुन्दरता है। ये मन्दिर आबू से डेढ़ मील दूर स्थित हैं। इन मन्दिरों के निर्माण पर करोड़ों रुपयों की धनराशि व्यय की गई थी। विमलशाह का विमलवसहि पर तो अठारह करोड़ तरेपन लाख रुपये खर्च हुए थे। इस मन्दिर का निर्माण हेतु तत्कालीन सामन्त धुन्धुराज से जमीन प्राप्त करने के लिए जमीन पर सोने की मोहरें बिछा कर जमीन की खरीद की गई थी, इस मन्दिर का निर्माण वि० सं० 1088 ई० सं० 1031 म करवाया गया था। ठीक इससे 200 वर्ष बाद वि० सं० 1287 ई० सं० 1231 में वस्तुपाल-तेजपाल दोनों भाईयों ने लूणवसहि जैन मन्दिर का निर्माण करवाया था। जन मन्दिरों की पाषाणकला

के सौन्दर्य और उसकी बारीकी की कल्पना करना भी मुश्किल है। प्रत्येक भाग को ऐतिहासिक कथाओं, प्रसंगों, गौरव-गाथाओं को लेकर मूर्तिबद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। धार्मिक घटनाओं को भी पाषाण का मूर्ति रूप दिया गया है। शिल्पकला को दर्शक घन्टों टकटकी लगाये देखता ही रह जाता है। यहां पर सैकड़ों मूर्तियां हैं, वहां कलाकृतियों से सुसज्जित स्तम्भ, झरोखें, तोरण, पायदान, द्वार आदि भी कम नहीं हैं। श्री ऋषभदेव एवं श्री नेमिनाथ तीर्थन्करों के मन्दिर को देखकर प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टाड ने भी अपने कण्ठ से इसकी प्रशंसा की है और कहा है कि ऐसी अद्भुत पाषाण-कला कृतियों को उतारना भी आसान नहीं है।

देलवाड़ा के जैन मन्दिरों की शिल्पकला जितनी विख्यात है उतना ही आबू भी प्रसिद्ध होता जाता है। यहां प्राकृतिक सौन्दर्य के लिये नक्की झील की झलक भी कम नहीं है। जिसको देवताओं और ऋषि मुनियों ने मिलकर बिना किसी औजार के अपने नाखूनों से खोदा था। इस कारण इसको नखी झील के नाम से पुकारा जाता था परन्तु धीरे धीरे इसका नामकरण नखी से बदलता हुआ नक्की झील में बदल गया। यह झील आबू का हृदय है, श्रृंगार है जिसके प्राकृतिक दृश्यों को निहारने के लिये दर्शक घण्टों उसके किनारे खड़े रहते हैं। झील के अन्दर लगा जैट फव्वारा सबको स्वतः ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। झील के अन्दर जल के बीच में कई विश्राम स्थलों का निर्माण भी किया गया है। इनकी सजावट केवल आकर्षण ही उत्पन्न नहीं करती है अपितु वहां पहुंचने के लिये जनसाधारण को लालायित भी करती है। झील के चारों तरफ पक्की सड़क का निर्माण किया हुआ है और किनारों पर रोशनी की सुव्यवस्था से रात्रि म झील का जल चमक उठता है। झील में प्राकृतिक आनन्द लूटने के लिये नौका विहार का भी प्रबन्ध स्थानीय नगरपालिका की ओर से किया गया है। इसके जल में नहाने से धार्मिक पवित्रता भी मानी जाती है। जहां हजारों की तादाद में स्त्री पुरुष नहाकर अपनी यात्रा को सफल मानते हैं। इस प्रकार धार्मिक महत्व को ध्यान में रखते हुए स्त्री पुरुषों के लिये अलग अलग स्थान घाटों का निर्माण किया गया है। झील के किनारे पर उसके चारों तरफ देवस्थानों के भव्य मन्दिर, सुन्दर विश्रामगृहों, सरकारी एवं गैर सरकारी निवास स्थानों, गांधी वाटिका आदि कई दर्शनीय स्थान भी आये हुए ह।

नक्की झील के किनारे पर धार्मिक एवं आधुनिक शिल्पकला को लिये श्री रघुनाथजी का मन्दिर भी दर्शकों एवं तीर्थ यात्रियों के लिये भी आकर्षण बना हुआ है। इस मन्दिर के अन्दर भगवान श्याम रंग की मूर्ति दर्शनीय और सभा मंडप की पाषाणकला कृतियां देखने योग्य हैं। मन्दिर के निर्माण के बारे में बताया जाता है कि यहां पर श्री संकल्प ऋषि धर्म की आराधना कर रहे थे, वृद्ध होने के कारण वे अपने निवास स्थान अयोध्या जाकर भगवान के दर्शन करने के लिये लाचार थे। इस भावना के कारण वे बहुत दुःखी होने लगे, भगवान ने भक्त के प्रेम को ध्यान में रखते हुए इसी स्थान पर दर्शन दिये और भक्त की मनोकामना के अनुसार मूर्ति रूप में यहां स्थापित हुए। आज भी श्री रघुनाथ की मूर्ति के समक्ष दर्शक जब खड़ा होता है तो साक्षात् भगवान के दर्शन का लाभ उठाता है। मन्दिर में यात्रियों, दर्शकों के ठहरने, खाने पीने आदि के साथ साथ ज्ञानोपार्जन हेतु पुस्तकालय की भी व्यवस्था की हुई है। मन्दिर के आसपास राम झरोखा, चम्पा गुफा, हस्ती गुफा, गोरक्षिणी गुफा, राम कुण्ड, टांवर रांक आदि भी देखने योग्य स्थान है। श्री रघुनाथ जी का मन्दिर धार्मिक एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से सर्वोत्तम केन्द्र बिन्दु बना हुआ है।

आबू का सूर्यास्त जगत विख्यात है। जिसको देखने के लिये हजारों की तादाद में जनमानस सूर्य के समक्ष आंखे लगाये रहता है। यह स्थान आबू से डेढ़ मील पक्की सड़क से जुड़ा हुआ है। सूर्यास्त को देखने के लिये सुन्दर ढंग की सीढ़ियों, चौराहों, चबूतरों आदि का निर्माण किया गया है। सूर्यास्त के समय यहां का वातावरण बिल्कुल शान्त रहता है। देखने वालों की आंखे सूर्य की तरफ लगी रहती हैं। सूर्य धीरे धीरे बादलों की ओट में रंगीन ललाई को चीरता हुआ चमकती थाली की भांति नीचे की ओर ढलता हुआ अचानक आंखों से ओझल हो जाता है। उस समय ऐसा लगता है कि सूर्य पृथ्वी की गोद में समा गया हो, जहां न तो किसी की आड़ है न कोई पहाड़ ही। सीधी सपाट भूमि ही है। सूर्यास्त का ऐसा सुन्दर प्राकृतिक दृश्य और स्थल देश में तो क्या विदेशों में भी कहीं पर दखने को नहीं मिलता है। इसे दखने के लिए विदेशियों का भी तांता लगा रहता है। इस स्थान को "सनसैट पांइट" के नाम से पुकारा जाता है। जिसकी ऊंचाई समुद्रतल से 3880 फीट है। इसके समीप ही देवआंगन, करोड़ी धज, अशोकवाटिका नेहरु पार्क मैयर लेक दर्शनीय स्थान भी आए हुए हैं। वन विभाग की तरफ से बनी नर्सरी भी देखने योग्य है।

आबू की बस्ती से उपरी भाग में अंबुदा देवी का प्राचीन एवं प्रसिद्ध मन्दिर है। मन्दिर भारी चट्टानों के नीचे आया हुआ है। मन्दिर का मुख्य द्वार इतना छोटा और संकरा है कि दर्शक को अन्दर प्रवेश करते समय बैठ कर जाना पड़ता है। आबू की इस आराधना देवी को लोग विशेष रूप से कुल-देवी के रूप में मानते हैं। इसी प्रकार वशिष्ठ मुनि के आश्रम के प्रति यहां के लोगों के दिल में सबसे अधिक प्रेम रहता है। जो आबू से 4 मील दूर अपनी अनोखी अदा लिए हुए है। इस आश्रम में पहुंचने से पूर्व करीब 700 सीढ़ियों को पार करना पड़ता है। सीढ़ियों के समाप्त होते ही गोमुखी जलकुण्ड के दर्शन होते हैं। जिसकी स्वादिष्ट जलधारा निरन्तर संगमरमर के बने गोमुख से निकलती दिखाई देती है। इसी महर्षि वशिष्ठ जी के आश्रम के अन्दर भगवान राम और लक्ष्मण की प्रतिमाओं के साथ अनेकों देवी देवताओं की भी सुन्दर प्रतिमाएं विराजमान की हुई हैं। यदि पहाड़ की चट्टानों और उसके दुर्गम भागों की ओर ध्यान दिया जाय तो ऐसे प्रयास वास्तव में दैवी सहयोग ही कहा जा सकता है। यहां पर

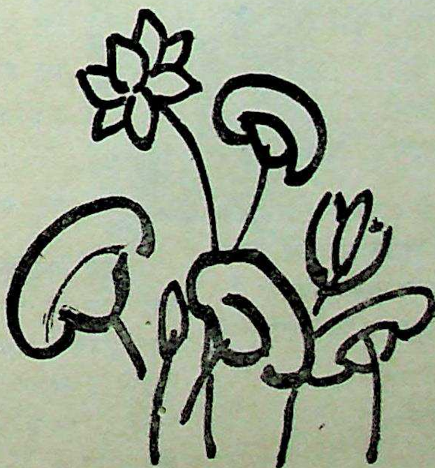
धारावर्ष परमार राजा का स्मारक व पातालेश्वर महादेव का मन्दिर भी देखने योग्य है। प्रतिवर्ष आषाढ़ पूर्णिमा को बहुत बड़ा मेला भी लगता है। वशिष्ठ आश्रम के पास ही अग्नि कुण्ड है जहां पर राजपूतों की उत्पत्ति होना कहा जाता है। व्यास तीर्थ, नाग तीर्थ, गौतम आश्रम और हनुमान आश्रम भी यहां के देखने योग्य स्थान हैं।

शिल्पकला की सुन्दरता, प्राकृतिक सौन्दर्य की नक्की झील, विश्व विख्यात सूर्यास्त के दृश्य, ऐतिहासिक आश्रमों की गाथाओं के साथ ही साथ आबू के रसिया बालम की अमर प्रेम गाथा की कहानी भी प्रसिद्ध है। इस कथा के स्मृति चिह्न आज भी देलवाड़ा जैन मन्दिर से कुछ दूरी पर खण्डहरों के बीच जहां हिन्दुओं के अनेक मन्दिर होने बताए जाते हैं, आज भी दृष्टि-गोचर होते हैं। जिसे माताजी—कुंवारी कन्या के मन्दिर से पहचाना जाता है। जिसमें कुंआरी कन्या और रसिया बालम-सन्यासी बालिमकी की मूर्तियां मौजूद हैं। सन्यासी, आबू की राजकन्या कुंवारी कन्या पर मोहित हो गया। वह इससे शादी करना चाहता था। परन्तु कन्या की माता इस सम्बन्ध से नाराज थी। सन्यासी के अति आग्रह से तंग आकर एक शर्त पर उसकी शादी तय करने का प्रस्ताव कन्या की माता ने रखा कि संध्याकाल से प्रातःकाल तक मुर्गा बोलने तक इस पहाड़ से नीचे तक रास्ता बना दो, तो शादी सम्भव हो सकती है। सन्यासी के ओजस्वी तप से यह कार्य सफल हो गया। जब इसकी जानकारी कन्या की माता को लगी तो उसने मुर्गे-मुर्गी की नकली आवाज प्रात-काल होने से पूर्व कर दी। सन्यासी बेचारा हताश हो गया परन्तु जब उसको इस छल का पता लगा तो उसने कन्या पक्ष के सभी लोगों को श्राप देकर मूर्तिबद्ध कर दिया और स्वयं ने विष का प्याला पीकर अपनी जीवन लीला भी समाप्त कर ली। ये चिह्न आज भी मन्दिर में मूर्तिरूप लिये हुए हैं।

आबू के इन गौरवों के अतिरिक्त अचलगढ़ का जैन तीर्थ स्थान भी अपनी अनोखी मर्यादा रखता है। यहां का चौमुखी दो मंजिला जैन मन्दिर जिसकी प्रतिमाओं को किसी भी द्वार से निहारा जाय तो सभी प्रतिमाएं एक समान दिखाई देती हैं। मन्दिर में कई मूर्तियों के साथ 14 धातु की जैन प्रतिमाएं भी विराजमान की हुई हैं। जिसका वजन 1444 मन है और सबसे भारी प्रतिमा का वजन 120 मन है। यह जैन तीर्थ स्थान पहाड़ी की ऊंचाई पर आया हुआ है। जिसके पास में राजा गोपीचन्द की गुफा, महाराणा कुम्भा का प्राचीन किला और सावन भादों तालाब आये हुए हैं। अचलगढ़ की तलहटी में मन्दाकिनी कुण्ड आया हुआ है जो अब जीर्णशीर्ण हालत में है परन्तु कभी यह भी घी-घृत से भरा रहता, ऐसा बताया जाता है। घी को चुपके से पीने के लिए राक्षस भैंसों का रूप धारण करके आया करते थे। परमार राजा आदिपाल ने अपने एक ही बाण से तीनों भैंसों को मार दिया था। प्रतिमाएं अब भी कुण्ड के एक किनारे पर मौन खड़ी दर्शकों एवं आगन्तुकों का ध्यान अपनी ओर स्वतः ही खींच लेती हैं। जिसके आसपास में भतृहरि की गुफा, रेवती कुण्ड, श्री शान्तिनाथ का जैन मन्दिर भृगु आश्रम, श्री महादेव का मन्दिर एवं अन्य ऐतिहासिक एवं धार्मिक स्थान आये हुए हैं।

आबू की सबसे ऊंची चोटी गुरु शिखर है जो समुद्रतल से 5653 फुट पर आई हुई है। जो आबू की अन्य पहाड़ी चोटियों से 400 फुट की अधिक ऊंचाई पर है, जिस पर भगवान दत्तात्रेय निवास करते थे, जिनके चरणचिह्न एक छोटे मन्दिर में विराजमान हैं।

दर्शनीय, धार्मिक एवं प्राकृतिक सौन्दर्य के अतिरिक्त पर्यटकों, सैलानियों, भ्रमणकारियों, यात्रियों, दर्शनार्थियों के आवागमन के उत्तम साधनों और निवास के लिये आवासग्रहों का भी आबू में उचित प्रबन्ध किया हुआ है। यहां पर आने का सबसे उत्तम समय मार्च से जून तक और अक्तूबर से नवम्बर के बीच का है। आने वाला आगन्तुक यहां की निराली छवि, प्राकृतिक कौतूहल, झील और झरनों की कलकल, पाषाणों पर की गई पाषाणकला को निहारने के पश्चात् कभी नहीं भूल सकता कि आबू राजस्थान का स्वर्ग का गौरव लिये हुए है।



'उत्तरांचल लोकगीतों में पहाड़ों की सुंदरता'

ताजवर सिंह रावत

पहाड़ साहस धैर्य एवं गंभीरता के प्रतीक समझे जाते रहे हैं प्रकृति प्रेमी वर्ड्स वर्थ पहाड़ों को 'आकांक्षाओं' की संज्ञा देते थे पहाड़ों में चलकर जितना ही ऊपर देखों उतना ही मन विह्वल होता जाता है और उसकी हर एक चोटी पर चढ़ने के लिए मन उतावला हो जाता है। मेरे अपने पहाड़ों पर रहने के जो अनुभव रहे हैं उनके अनुसार मैं यह कह सकता हूं कि पहाड़ 'सुन्दरता' के प्रतीक हैं। पहाड़ी लोकगीतों में बहुत ही सुन्दरता के साथ इसका उल्लेख मिला है। पहाड़ों को यहां की बोली में 'धार या डांडा' की संज्ञा दी जाती है।

(1) मेरो हिमवंत देश गढ़वाल प्यारो
साजि जालो साज--
हरी भरी डांडि मेरी दूध को सी गाज
मेरा हिमवंत देश गढ़वाल प्यारो।

प्रस्तुत लोकगीत में जब गढ़वाल में बर्फ गिरती है और कोहरा घना छाने लगता है और हरी भरी पहाड़ियों पर कोहरा अपना नर्तन करता चला जाता है, तब गढ़वाल एक हिमदेश की याद दिलाता है। पहाड़ों से घिरे इस देश को सबसे पहले प्यारा बतलाया गया है। बर्फीला मौसम मन में एक अजीब गुदगुदी पैदा कर देता है।

(2) तू होली वीरा ऊंचि निसि डाडयू मां घसियारी का वेश मां
खुद मां तेरी रुणू छौं सी पापी पर देश मां।

फौज में भर्ती होकर जब गढ़वाली जवान अपनी नवविवाहिता पत्नी वीरा को घर में अकेली छोड़कर चला जाता है तब केवल पत्रों के माध्यम से वह अपना दर्द व्यक्त करता है कि तुम छोटी बड़ी पहाड़ियों पर घास काट रही होगी मैं परदेश में तुम्हें काफी याद करता हूं।

(3) ऊंचि ऊंचि डाडयूं तुम निसि ह्वावा
मी थैं कि मां कु मुल्क देखण द्यावा।

पहाड़ों में नवजात वधू जब सुसराल में रहती है तब मायके की याद करती है। विरहजन्य वेदना में पीड़ित वह ऊंचे ऊंचे पहाड़ों के लिए झुकने को कहती है ताकि उसे अपना मायका दिखाई दे। प्रस्तुत लोक गीत में पहाड़ों की अपरिमित सुन्दरता का वर्णन है जो करुणा से भरपूर है।

(4) मां मेरी शादी निकऊनी पहाड़ मां
पहाड़ी लोग खराब रंदिना।

मैदानों में बसे लोग जब पहाड़ों में जाते हैं तो उनकी लड़कियां अपनी मां से कहती हैं कि हमारी शादी पहाड़ों में न की जाए यहां के लोग बड़े कठोर होते हैं। पहाड़ों में चलते-चलते हम थक जाएंगे और वहां काम नहीं कर पाएंगी।

(5) हिलास न बास
हिसांस न बास
हरी भरी डांडयू मां हिलांस न बास

बरसात के मौसम में पहाड़ों में एक प्यारा पक्षी बहुत अच्छे गीत गाता है। जब घसियारिनें घास काटती हैं तो 'हिलांस पक्षी को गाना गाने के लिए मना करती हैं। हरी भरी घास की पहाड़ियों में हिलांस तुम गाना न गाओ। इस करुणाजनक समय में घसियारिने मायके एवं रिश्तेदारों को याद करती हैं जिसे वे लम्बे सुरों में गाती हैं:

(6) कनि बजलि मुरली वीणा उचि निसि डांडयूं मां
याद आली मैता की वीणा हरि भरी सारयूं मां।

इस गीत में गायक ऊंची-नीची पहाड़ियों के बीच में बांसुरी की तान की शोभा का वर्णन कर रहा है। बांसुरी के बजते ही मायके की याद आती है। जब गढ़वाल और कुमांयू के हरे भरे खेत लहलाते हैं और चारों तरफ हरियाली छा जाती है तब बांसुरी के सुर में जो मांधुर्य होता वह पुलकित किए बिना नहीं रहता। ग्वाले और चरवाहे अपना अपना आनंद लेते हैं।

(7) चल बसंती डांडा ज्योंला दुफरा घमा घम
तेरा हाथ की चूड़ि बसंती बाजलि छमा छम
डांड की हवा बाल उड़ाती
तू हिटली धमाधम
चल बसंती डांडा जयोंला दुफरा घमा घम

नव विवाहित पति अपनी पत्नी बसंती को कहता है कि चलो पास की पहाड़ी से होकर चलेंगे। तुम भरी दोपहरी में भी ठुमक ठुमक चलोगी जो मुझे अत्यन्त प्रिय लगेगा। हवा तुम्हारे बालों को उड़ायेगी-मगर फिर भी तुम निरंतर चलती रहोगी। बसंती चाहे भरी दुपहरी हो परन्तु तुम्हें चलना ही होगा।

(8) हरी भरी डांड्यूं मां हे कुयेड़ी ना लौगी तू
उंचि निसि डांड्यू मां हे हिलांस ना वासि तू
आलों तिवार मां पकाली भात--
सूनी सी लगदि या जुनली रात
स्वामी मेरा कश्मीर घाट्यूं मां है कुयेड़ी ना लौगी तू

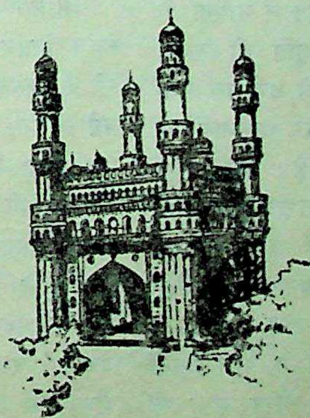
प्रस्तुत पहाड़ी गीत में पत्नी अपने पति को याद करती है। बरसात में जब चारों तरफ पहाड़ी में कोहरा छा जाता है तब पत्नी पति की याद में रोती है और कोहरे को पहाड़ियों पर छाने से मना करती है। क्योंकि इससे उसका मन व्याकुल होता है। वह अपने पति, जो कश्मीर की घाटियों में रहता है--कोहरे को इन घाटियों में भी न छाने को कहती है क्योंकि वे पति भी मेरी याद में रोयेंगे। अतः कोहरे तुम इन पहाड़ियों से होकर न गुजरो तो अच्छा है।

(9) उड़ उड़ कागा तू मैत जयादि
मेरी मां को रेबार लयादि
डांडा की हवा रुकि किलै छै
धार मकै डाली तू सूकि किलै छै।

मायके की याद ने नव विवाहित युवती अपनी मां को याद करती है कौवे को त्यौंहार के अवसर पर अपने मायके जाने को कहती है। वह कहती है कि मेरी मां के समाचार लेते आना। पहाड़ी से चलने वाली ठंडी हवा तुम रुक क्यों गई और पास की पहाड़ी के सुंदर पेड़ तुम सूख क्यों गए। तुम्हीं पर मेरा सहारा रहता था। अब वह भी नहीं है।

फूल फूला नीला पीला
औ सखी डांडा का।
दूर जाला लोग प्यारा
हवा खाला डांडा की
फूल फूला नील पीला
याद आली मैता की
औ सखी--पीला पीला।

पहाड़ों में वसंतागमन पर पहाड़ियों पर तरह तरह के रंग-बिरंगे फूल फूलने लगते हैं। जब घसियारिनें इन पहाड़ियों पर घास काटने जाती हैं तो समूह के साथ इस गीत को मदहोश होकर गाती हैं। इस गीत में पहाड़ी युवतियां अपने पतियों को याद करती हैं एवं मायके को भी। क्योंकि पहाड़ियों में नीले पीले फूल, फूल रहे होते हैं और गांव में यह मौसम बड़ा करुणाजनक होता है। समय सुहावना व लुभावना होता है जिसमें गांव के लोग अक्सर लोकगीत गाते हैं।]



कूर्माचल का जाग्रत लोक देवता 'ग्वल्ल'

सुधीर शाह

इक्कीसवीं शदी के इस सभ्यतापूर्ण दौड़ में जबकि नये मूल्य स्थापित हो रहे हैं, मान्यताएं शीघ्रता से परिवर्तित हो रही हैं, आयाम-प्रतिमानों के संघर्षों का सूक्ष्म विश्लेषण किया जा रहा है, परम्परा और रुढ़ियां मात्र 'मिथक' बनकर रह गई हैं, विकास का प्रभाव युग-धर्मी हो-वेश-परिवेश समाज व्यवहार व्यवस्था-संस्कृति आदि प्रमुख निवेशों को निरंतर उलट फेर कर रहे हैं, परन्तु मूलतः धर्मप्राण पार्वत्य अंचल का संस्कारी हृदय अभी पूर्णतः नहीं बदल पाया-जिसका शाश्वत एवं प्रत्यक्ष रूप अल्मोड़ा से सात कि० मी० दूर स्थित चितई नामक गोल्ल् देवता क प्रांगण में जुटी हुई एकरस भीड़ से सहज ही लग जाता है। स्थानीय लोक देवता के इस दरबार (मंदिर) में वर्ष भर पर्वतीय जनता जो सुदूरस्थ गम्य-अगम्य स्थलों में स्थित होते हुए भी दर्शन करने के लिए अत्यन्त भक्तिभाव से --

"हे ग्वल्ल ।
जे करियै
भल् करियै
तेर दरबार में ऐ रयूं
मेटनै रयूंल
जै गोलू डॉना--जै हो. . . . ।"

[अर्थात शिखर (डॉन) में स्थित गोलू देवता, जो भी करना अच्छा करना, तेरे देव दरबार में आया हूं दर्शन देना, हे देवता] की गुहार लगाता हुआ जिस भक्ति मन से भावना से विशिष्ठ मान्यताओं को संजोये। जीवन लक्ष्य पूर्ति की कल्पना का परिचय प्रस्तुत करता है उसमें कूर्माचल के धर्मभिरू धर्म-प्राण प्रकृत मानस का संयत औदार्य एवं धार्मिक धारणाओं को अभिव्यक्ति का स्पर्श झलकता दिखाई देता है। यही कारण है कि महानगर के प्रवासी पर्वतीय से लेकर उत्तराखंड का ग्राम निवासी 20वीं शदी के इस अन्तिम चरण में आज भी वर्ष भर में भेटनें' (दर्शन लालसा) की उत्कट कामना मन म लिए हर संभव प्रयत्न से एक न एक बार अपने मन-बुद्धि एवं आस्था से इस लोक देवता के अपरिमित सच्ची शक्ति से, धूम गंधियों एवं मांगलोच्चारिक वाद्यों के बीच में नत शरीर स्वत् जुड़े हाथ लेकर ईष्ट देव की तल्लीनता में अपने को श्रद्धास्पद पाता है।

पार्वत्य धर्म-संस्कृति में लोक देवता : लोक संस्कृति, धर्म एवं लोक देवताओं के स्वरूप निर्धारण करने में हिमालय का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। हिमालय देवी-देवताओं तपी साधकों की साधना स्थली ही नहीं क्रीड़ा भूमि रही है। कुंमाऊं इसी हिमालय का हृदय प्रान्त है। जिसके महत्व के संदर्भ में शेरिंग ने 'Western Tibbat & British Borderland में कहा है कि "एक हिन्दू के लिए कुमाउं का वही महत्व है जो एक ईसाई के लिए फिलिस्तीन का।" वैदिक युग से ही हिमालय को संस्कृति और धर्म का प्रतिमान आंका गया है।

प्रचलित धर्मों की मान्यता दो रूपों से स्पष्ट होती है-- प्रथम जन जीवन का एक अंश हिन्दू धर्म के उच्चस्थ देवी देव-ताओं से जुड़ा हुआ है तो दूसरा सामान्य वर्ग देवी-देवताओं के अभिद्येप लोक रूपों से जुड़ा हुआ है, जिसमें क्षेत्रीय देवता-कुल देवता ग्राम देवता नाग देवता, भूमि देवता--नौल (नोले) देवता--बंण (बन) देवता--परवत देवता छेतर (खेत, देवता आदि आदि हैं। इनमें से कुछ अलौकिक एवं असाधारण वीर पात्र हैं। शैव एवं शाक्त धर्म की प्रधानता होने के कारण उन्हीं के उपरूपों को कर्माचल में सर्वाधिक पूजा जाता है जैसे--भोला नाथ ज्यू, गंगनाथ ज्यूं, चौमू, सथ्यनाथ, गोरखनाथ, घण्टाकर्ण, एड़ी, सैमदयो, द्योमिहणे नरसिंह, बकाण, हरू, भूमिया, क्षेत्रपाल, कलविष्ट, मसाण आदि-आदि। ग्वाल-गोरियां देवता शिव के उपरोक्त उपरूपों में से सर्वाधिक प्रतिष्ठित मान्य एवं जन-जीवन के अधिक निकट होने के कारण पूजे जाते हैं।

सामान्यतः जनमानस का एक अलग लोक धर्म रहा है। सहज नियम बंधों को लिए हुए उसके अपने देवी देवता रहे हैं जिसकी उपासना वह अपने तरीके से करता आया है। वर्ग विशेष, क्षेत्र विशेष एवं जाति विशेष के ये देवी देवता एक सीमा में ही परिबद्ध रहे-इसमें सन्देह नहीं, परन्तु कुछ अपवाद भी मिलते हैं। जैसे गोल्ल देवता जाति-क्षेत्र वर्ग से सीमा रहित होकर देश काल की परिधि को लांघ अत्यधिक ख्याति से विहार, राजस्थान और मध्यप्रदेश तक पूजे जाते हैं। महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन ने 'कुमाऊं' में इस गोल्ल देवता पर टिप्पणी करते हुए लिखा है--"ग्वल्ल यद्यपि कुमाऊं में पूज्य हैं किन्तु गोरियां के नाम से यह उत्तर विहार तक पूजा जाता है। संभव है यह मूलतः आर्य भिन्न जातियों का कोई बहुत बड़ा देवता हो जिसकी कथा का विकास स्थान के वातावरण के अनुसार होता रहा ह।

कर्माचल में लोक देवता की उपासना लोक रक्षक के रूप में ही आंकी गई है। यह जनमानस की धार्मिक दृष्टि,

वैचारिक अभिव्यक्ति सहज आस्थाओं की अपनी विशिष्ट मान्यता है। यह लोक देवता वे होते हैं जिनसे या तो यह भयभीत रहते हैं या जिनके वीरत्व, शौर्यपूर्ण जीवन से ये प्रभावित रहते हैं। ये लोक देवता दो प्रकार के होते हैं। प्रथम श्रेणी में सच्चे सदाचारी देवता हैं। दूसरी श्रेणी भयभीत त्रस्त व हावी हो जाने वाले अवैदिक देवी देवताओं की है। जिनकी पूजा भय अथवा संरक्षण की कामना के कारण की जाती है। कमोवेश कुमाऊं का सरल ग्रामीण जन दूसरी श्रेणी के लोक देवताओं से अधिक प्रभावित रहा है इन सभी लोक देवताओं से कोई न कोई दन्त कथा जुड़ी हुई होती है जो इनके असाधारण शक्तियों एवं अलौकिक गुणों से सम्बंधित रहती हैं।

दन्त कथा——लोक देवता गोलू की : कुमाऊं के लोक-देवता ग्वल्ल के संबंध में जो दंत कथा प्रचलित है लगभग उसी से मिलती जुलती कथाएं राजस्थान बिहार और मध्य-प्रदेश के लोक कथा काव्य साहित्य में भी मिलती हैं। व्यापकता की दृष्टि से यह तथ्य और भी महत्वपूर्ण है कि गोल्ल देवता को ख्याति की दृष्टि से अन्यत्र भी विशुद्ध लोक प्रियता प्राप्त हुई ।

गोल्ल-ग्वाल्ल-गोला-गोलू-गोरिया को कथा इस प्रकार आती है :

चम्फावत के एक कत्यूरीराजा झालाराव सात रानियों के होने पर भी निःसन्तान एवं दुखी थे। इनका समय ई० 902 के आसपास का है। एक बार शिकार खेलने के लिये ये जंगल गये दोपहर प्यास से भटकते हुए ये काली नदी के तट पर एक आश्रम में पहुंचे। वहां एक सुन्दर तपस्वीनी जिसने लड़ते हुए दो भैंसों के सींगों को पकड़ कर अलग-अलग कर दिया था, की वीरता पर मुग्ध हो इन्होंने विवाह कर लिया। उसका नाम काली था। विवाह के पश्चात राजा झालाराव उसे राजधानी ले आए। गर्भवती होने पर राजा की सातों रानियों काली रानी से द्वेष रखने लगीं और रात दिन इसी चिंता में घुलने लगीं कि कैसे इसके गर्भ को नष्ट किया जाय। इस कुविचार से संतान उत्पन्न होते ही सातों रानियों ने काली रानी की आंखों में पट्टी बांधकर राजा से कह दिया कि "गर्भ से कद्दू पैदा हुआ है"। और नजवात शिशु को मारने के लिए अनेक उपाय किये गये। बिच्छु घास में फेंका गया, बाईस गाड़ी बांसों के नीचे पटका, हाथी के पैरों तले डाला गया, बकरे के गाठे में बन्द किया गया, नमक के भंडार में डाला गया आदि-आदि। सभी युक्तियां असफल होने पर रानियों ने उसे एक लोहे के पिंजड़े में बंद करके गौरी गंगा में बहा दिया। पिंजड़ा बहता हुआ एक मछुए के हाथ आया। उसने उस नवजात को जीवितावस्था में पाकर अपनी निःसन्तान पत्नी को सौंप दिया।

गौरी नदी में मिलने के कारण मछुवे ने उसका नाम गोरिल्ला रखा जो धीरे-धीरे गोल्ल-वल्ल-ग्वाल-गोलू-गोला और गोरिया कहा जाने लगा। धीरे-धीरे बढ़ता हुआ जंगल में निर्द्वन्द गोरिला निर्भीक, बलवान व शिकार में कुशल हो गया। एक दिन काठ के घोड़े पर चढ़कर शिकार खेलते हुए राजा झालाराव के उद्यान में पहुंचा। जहां सातों रानियां पनघट में पानी भर रही थी। उसने रानियों के सब स्वर्ण कलश तोड़ते हुए कहा——"पहले मेरा घोड़ा पानी पियेगा।" रानियों ने क्रोध एवं आश्चर्य से प्रतिवाद करते हुए उत्तर दिया कि "क्या तुझे अपनी जान प्यारी नहीं है। कहीं काठ का घोड़ा पानी पीता है? इस पर गोरिया ने क्रोधित होकर कहा——"झालाराव की रानियो। जब स्त्री के गर्भ से कद्दू पैदा हो सकता है तो काठ का घोड़ा पानी क्यों नहीं पी सकता?" रानियां अपने पूर्व गुप्त कृत्यों को इस बालक के मुंह से सुनकर मुर्छा गई। क्षण भर में ही इस अवतारी बालक का रहस्य राजा झालाराव तक जा पहुंचा। भयभीत रानियों का रहस्य सत्य प्रतीत होने पर राजा ने सभी रानियों को गर्म तेल की कड़ाही में जिन्दा ही भून दिया और काली रानी के पुत्र गोल्ला का राजतिलक करवाया। राज्यभिषेक के बाद कत्यूरी राजाओं के दंड विधान को इस क्रूर परम्परा को, राज्य की सुव्यवस्था एवं शांति के लिए अपने राज्य काल में, संपूर्ण राज्य के अत्याचारियों, डाकुओं, चोरों एवं दुष्टों को गोल्ला ने भी जिन्दा ही गर्म तेल की कड़ाही में जब-तब भूना।

अपने ही जीवन काल में गोल्ला पूर्व जन्म की बातों को जानने के कारण अवतार रूप में ख्याति पाने लगा। उसने अनेक वीरता पूर्ण कार्य किये। तंत्र-मंत्र को शक्तियों से युक्त होकर बैंताली घाट में भंयकर मगर को नाथा डोटी गढ़ के मणकुवा मेट्याल को पराजित किया, मुगल सेना से माता कानर का भवन बचाया आदि-आदि। इसके वीरत्व पूर्ण अलौकिक कार्यों की प्रशंसा लोक शैली में इस प्रकार गाई गई:——

"बैताल घाट में फाव मारी हैछ
सात दिन, सात रात
बैताली घाट में है गे नकुवों का पता
नि मिलन
अठू रात में नकुवो का पता मिलो
रे तो छि ए तू गोरिया नकूं में
सवार बणी वेर
चौबट चौखाल में ल्याछै चौवाट चौखाल में
चार फांक बणै बैर, चार .वसा हूं फैंकों——स्वील

मणकुवा डोट्याल छ जैकि बार हाताकि सभा बैठि रे
सभा बैठी रे
पांच पात को बीड़ा खण्ड दबाया
धरमानी खाड़ो हाथ भर हीहा
मार-मार वेग वेग कनै डोटागडा में न्हैगो . . . ."

अपने इस चारित्रिक भूमिका के कारण गोल्ला अपने जीवन काल में ही पूजा जाने लगा था और मृत्यु के वाद यह कूर्मांचल का

सर्वप्रिय लोक देवता हो गया। मुख्यतः यह लोक विश्वास का देवता माना जाता था जो अन्याय का प्रतिकार, असत्य के प्रति जागरण, अत्याचार के प्रतिकूल समभाव, पीड़ित जनों की मनौतियां प्रार्थना आदि सुनता था और कूर्माचल जन जीवन में इस गोल्ल देवता की मान्यता यहां तक रही कि किसी के बीमार पड़ने पर देवता को नचाना, बीमारी का कारण जान भेंट पूजा देकर दूर करने का प्रयत्न एवं संरक्षण देने की परंपरा अडिग विश्वास धर सिद्ध माने जाने लगी।

चितई गोल्ल का दरबार और जागर : गोल्ल देवता का सबसे प्रसिद्ध मंदिर अलमोड़ा से 7 कि० मी० दूर चितई नामक गांव में स्थित एक डान (शिखर) में वृक्षों की हरितिमा के मध्य अपनी सुरम्यता, अलौकिकता एवं प्राचीनता के कारण अगाध श्रद्धा एवं आकर्षण का केन्द्र है। जाग्रत देवता होने के कारण कूर्माचल में स्थान-स्थान पर इनके थांण (मंदिर स्थल) बने हुए हैं। प्रसिद्ध मंदिर ये हैं—प्रमुख मंदिर चितई के अलावा बौरारों पट्टी में "चौड़" ऊंचा कोट के पास बसौट गांव में, मल्ला पट्टी के कुमौड़ गांव, हैडिया गांव में नैनीताल में घोड़ाखाल के पास मल्ला डोटो में, काली कुमाऊं में, कत्यूर में, गागर गोल में, धनिया कोट, मांज कोट, बुधला कोट, छखाता, रानी बाग आदि आदि स्थानों पर गोल्ल देवता के सुन्दर मंदिर बने हुए हैं। इन मंदिरों के ऊपर चीरें फहराई जाती हैं। वर्ष भर इन मंदिरों में श्रद्धालुओं की भीड़ रहती है, परन्तु नव-रात्रियों के अवसर पर इन मंदिरों में विशेषकर चितई मंदिर में अपार 'हिलधारी' (अपार भीड़) लगा रहता है। भक्तजन दूरस्थ अंचलों से एवं प्रवासी कुमाऊंनी इस अवसर पर इन भूतांगी' (भूत के अंग अर्थात् शिवगण) देवता को बलि देकर मनौति मांगता है।

कर्माचल में गोल्ल देवता के जागर का बड़ा महत्व है। लोग इन्हें घर-घर में पूजते हैं, विशेषकर ग्राम्य मानस में गोल्ल को इष्ट देवता के रूप में प्रतिष्ठा एवं मान्यता बहुत अधिक है। लोक गायकों ने लोक शैली में (बोली) न्याय के इस अभिशप्त देवता के चरित्र को सहैज अभिव्यक्ति दी है। जैसे कि—रण क्षेत्र में शत्रुओं से लड़ता हुआ राजा हरुहीत घायल हो मूर्छित पड़ा है। स्वप्न में इस घटना को देखकर उसकी मां ने अपने ईष्ट गोरिया (गोल्ल) का स्मरण किया और अपने बेटे हरुहीत की रक्षा की प्रार्थना की। गोल्ल देवता के प्रार्थना से युद्ध क्षेत्र में मूर्छित हरुहीत जागकर पुनः युद्ध के लिए तत्पर हो उठा—लोक शैली की एक बानगी में—

"आंख खुला महेड़ि का स्वैण आयो याद
आपणा गोरिया कणि मारि हाली धाद
महेड़ि लै घरारो जब गोरिया को ध्यान
आंख खुला हरुआ का हिरद में ज्ञान" (हरुहीत)

20वीं शती के इस 'स्काईसेक्रेपरों' युग में लोक देवताओं में अभीष्ट माने जाने वाले गोल्ल देवता पर धर्मभीरू पर्वतीय जनमानस की आज भी श्रद्धा एवं आस्था बनी हुई है। दृढ़ मान्यताओं एवं अटूट आस्था का यह अंधविश्वास 1962 के चीनी आक्रमण पर देश की रक्षा के लिए अपने भूतांगी गोल्ल देवता गुहार लगाते हुए कहता है—

"गोरिया राजा तू दूदाधारी
तिहांति कौनि छां न्यायँकारी
हम त तिकांणि जाणुला जब
चीनियों कणि मार ले जब"

[न्याय करने वाले हे गोल्ल तू दूध की लाज रखने वाला है पर तुझे हम तभी न्यायकारी समझेंगे जब तू अन्याय के प्रतीक चीनियों को मार भगाएगा]

उत्तराखंड में धर्म के विकास एवं स्वरूप को समझने के लिए देवी देवताओं के इन उपरूपों की प्रतिष्ठा एवं मान्यता की एक ऐतिहासिक कल्पना प्रधान पृष्ठ भूमि रही है। लोक धर्म के इन रूढ़ियों एवं लोक विश्वासों से ही 5000 वर्ष पूर्व धर्म संस्कृति की सुदीर्घ परम्परा सहज समन्वयता के साथ अक्षुण्ण भागीरथी के रूप में प्रवाहित होती आयी है और रहेगी।

(परमेश्वरी भवन)
अलमोड़ा (उ० प्र०)

'लोक गीत और जन चेतना'

नंदल हितैषी

लोक-गीत धरती के पौधे हैं, जिनका अपने संदर्भों में विकास होना रहता है, उसमें अपने पर्यावरण के अनुसार उलट-फेर और परिवर्तन होते रहते हैं, ठीक वैसे ही जैसे मानव की जीवन प्रक्रिया। परम्परागत और विरासत में मिले इन लोक-गीतों का प्रसार-प्रचार स्वाभाविक गीत से होता रहता है। आज के लोक-गीतों का सिनेमाई पैटर्न भी युग से अप्रभावित नहीं।

'जन-चेतना' का शाब्दिक अर्थ, जनता की ही चेतना कहा जायेगा। इस चेतना को किसी 'वाद' के तहत नहीं स्वीकारना चाहिए। मानव की यह ऐसी मानसिक चेतना है जो सभ्यता और शिक्षा के साथ पल्लवित और फैलती है। विकास के हर सौपानों पर जन चेतना किन्हीं अंशों में रही जरूर होगी।

वस्तुतः लोक साहित्य में मात्र शाब्दिक अर्थ ही अपेक्षित नहीं। कारण लोक गीतों में सभ्यता का लिपा-पुता रूप ही नहीं मिला, मानव के सहज क्रिया-कलाप स्वाभाविक एवं वास्तविक गीत से उभरते हैं। सुख-दुख की अनुभूतियां, राग-द्वेष, हास-विलास रीति-रिवाज सभी कुछ तो है यहां। यहां घुटन है तो उल्लास भी, मस्ती है तो रोदन भी, सोहर है तो मृत्यु भी।

जन चेतना का सीधा सम्बन्ध समाज से है, इसी नाते परिवार और समूचे राष्ट्र से है।

लोक गीतों का विश्लेषण करके पूरी की पूरी संस्कृति-सभ्यता तथा संदर्भ विशेष की व्यवस्था को स्पष्ट किया जा सकता है, जीवन का ऐसा कोई भी पहलू नहीं, जिसे इन गीतों ने उजागर न किया हो। 'चाहे शेक्सपीयर से पूछो, चाहे शिलर से और चाहे कवि रवीन्द्र से---यही कहेंगे, लोक-गीत ही हमारा गुरु है।'···

* * *

देवेन्द्र सत्यार्थी की इस युक्ति में पूरी-पूरी सत्यता है–'लोक गीत खेत के पास पला है और गीत के विकास में धरती की कोख धन्य हुई है'।

लोक गीत जीवन के अभिन्न अंग हैं। भले ही आज के इस मशीनी युग में उन्हें गंवारु गीतों की संज्ञा दी हो, परन्तु वास्तविकता तो यही है उधर मांस पिण्ड ने गर्भाशय में हरकत शुरु की और इधर लोक-गीतों से उसका वार्तालाप भी चलने लगा। यही है चेतना की कोमल शुरुआत।

यह कहने की आवश्यकता नहीं भारतीय जनता आज भी अधिकाधिक गांवों में बसती है और यहीं से पनपती है–उसकी चेतना, उसका प्रथम भ्रण।

(प्रकृति प्रागण में मानव जीवन का सरलतम उतार चढ़ाव लोक गीतों को मुख्य भूमिका रही।)

मेरी अपनी उक्त मान्यता 'परी, की मान्यता के प्रतिकूल है कि लोक गीत मानव जीवन का उल्लासमय संगीत है।·····

* * *

योरोप भ्रमण के समय, वहां के देहातों में रास्ता चलते हुए लोगों से टैगोर ने पूछा था 'तुम ईसाई हो' लोगों ने टैगोर को बात नहीं समझी। उन्होंने फिर पूछा 'तुम ईसा क्राइस्ट को जानते हो'?

—'वह क्या कोई कुली है'?—लोगों ने उत्तर दिया। अपने धर्म और संस्कृति के प्रति यह अज्ञानता उस देश की साधारण जनता की है जो आज विश्व में अपनी सभ्यता का ढिंढोरा पीट रही है। इसके विपरीत भारत के अनपढ़ और साधारण से भी साधारण व्यक्ति अपनी संस्कृति के प्रति जागरुक और चेतनशील हैं।

संस्कृत साहित्य के अनेक कवियों ने लोक गीतों के गाये जाने का वर्णन अपनी कृतियों में किया है जिसका क्षेत्र, पुत्र जन्म, विवाह, तथा यज्ञादि तक ही सीमित न हो कर श्रम, मजदूरी, वृक्ष नदी-नाले पहाड़ सभी पर व्यापक दृष्टि डाली गई है। जहां एक संगठन की भावना है, एक दूसरे के अस्तित्व की पहचान है और सबसे बड़ी बात एक दूसरे के प्रति चेतना का व्यक्तित्व है। जिसके पीछे 'सभी सुखी हों' एक भरपूर समाजवादी परम्परा का श्रीगणेश है, मानवता का उद्घोष है।

जन चेतना इससे अछूती नहीं। एक साथ सब की मंगलकामना निश्चय ही व्यक्तिगत चेतना से भी आगे, एक सामूहिक चेतना है।

* * *

कौन कहता है भारतीय कन्यायें शादी ब्याह के मसले में खामोश रहती हैं। पिता या ब्राह्मण ही उनका भाग्य विधाता होता है। जिस खूंटे पर चाहे बांध दें उसे। आइये लोक गीतों की तरफ, कन्या गीत की ओट से पिता से निवेदन कर रही है, निश्चय ही उसमें चेतना है और इसी के साथ चेतनशील है, कन्याओं की पूरी टोली। अपनी बात तो वह कहेगी ही, भले ही आप उस तह तक पहुंचें न पहुंचें।

कालो मत हेरो बाबा। कुल जो लजावैं,
गोरो मत हेरो बाबा। अंग पसीजैं।
लाम्बो मत हेरो बाबा। साबुत फल तोड़ैं,
ओछो मत हेरो बाबा। बावन्यू बतावैं,
—(राजस्थानी लोग गीत से)

टोना-टोटका भी लोक गीतों के ही अंग हैं, जो भी हैं अपने वास्तविक रूप में, कहीं कोई बनावट या पर्दादि नहीं। लोक गीत अपने जीवन और कथ्य के प्रति ईमानदार हैं।

लड़की नहीं चाहती, उसका होने वाला पति पराई नारी के सम्पर्क में रहे और इधर छूटती जाये उसकी जिन्दगी, घुटते जाये उसके अरमान। कुण्ठित हो जायें उसकी सगरी अनुभूतियां। परिवार और समाज कुछ व्यवस्थायें प्रतिपादित करता है। जीवनगत कुछ सीमायें निर्धारित करता है जिससे समूची व्यवस्था टूटने न पाये, लोग सचेत रहें, चेतनाशील रहें।

'माई रे। मैं करिहौं टोना।
कौवा के जीभ, कबूतर के डखना,
उड़तै चिरैया के नैनवा ———
पांव के बांधे, पांव ना उठे है
चढ़ै ना पराई सेज रे ————
हाथ के बांधे, हाथ ना उठे हैं
छुवैं ना पराई देह रे :........

नवेली दुल्हन में चेतना है, अपने प्रति अपने लोगों के प्रति, इसी नाते परिवार के प्रति, समाज के प्रति। वह नहीं चाहती उसके जीवन में बराबर तनाव की स्थिति बनी रहे। जीवन एक बोझ हो जाये।

* * *

पहाड़ी क्षेत्रों में आज भी कहीं कहीं यह प्रथा प्रचलित है कि किसी पुरुष की मृत्यु हो जाने पर, अर्थी के साथ चलने वाले लोग उस पुरुष के खेत और खलिहान से ही गुजरते हैं और गेहूँ का पिसा हुआ आटा उसके खेतों की चौहद्दी पर छोड़ते जाते हैं। जिसका संकेत होता है 'यही है तुम्हारा खेत'। साथ ही साथ एक गीत भी गाते जाते हैं, जिसका अर्थ होता है—ऐ। स्वर्ग जाने वाले राही। अपने खेतों की सीमा देखते जाओ, हम वचन देते हैं, इस पर तुम्हारे ही बाल-बच्चों का अधिकार रहेगा'।—'जब हम अपने खेतों में बीज डालेंगे तो तुम्हारे भी खेतों में हल चलेगा'।

—'जब हम अपने खेतो में बीज डालेंगे तो तुम्हारे भी खेतों में अंकुर फूटेंगे' (इसी क्रम में)

—जब हम अपनी फसल काटेंगें तो तुम्हारे भी खलिहान में ढेरी लगेगी'। 'हे स्वर्ग जाने वाले राही। अपने खेतों और खलिहान की सीमा देखते जाओ'।

भले ही आज की उजली और तंग दिली सभ्यता इस प्रक्रिया को ढकोसला कह कर कन्नी काट जाये। आज का यथार्थवादी इसमें टीकाटिप्पणी करे किन्तु मेरे ख्याल से उक्त परम्परा प्रक्रिया निश्चिय ही मानवीय सम्वेदनाओं के प्रति सजग और ईमानदार है। हमारी मानवीय जन चेतना का यही तो है, आधार स्तम्भ।

लोक गीत समूचे गांव का प्रतिनिधित्व करते हैं व्यक्तिगत को कम, समूहगत बातों पर अधिकाधिक चर्चा चलती है। इसी नाते वहां एक की भी चेतना, जन चेतना का प्रतिनिधित्व करने को काफी है।

अपनी स्थितियों की पहचान, अपना क्षेत्र, अधिकार एवम् कर्म, सही-गलत का सीमा रेखांकन और इसी के साथ-साथ शोषण और वर्ग शत्रु की पहचान ही जनता की समूची चेतना होनी चाहिये। लोक गीत इनसे अछूते नहीं।

* * *

दूर दराज के गांव, छोटे से दायरे में घिरी हुई परम्पराए जब अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति सजग हो उठती हैं, तो निश्चय ही एक संतोष, सुखकर होता है।

'घूंघट में मुखड़ा काढ़ के,
पेटी में डारे वोट जी।
ससुरा के राज में मैंने—
अबके डारे वोट जी
जेठा ससुरा के राज में,
अब की डारे वोट जी'।

(बेरसिया/भोपाल-ग्राम के लोकगीत से)

'कोउ नृप होय, हमें का हानी चेरी छोडि न हो बड़ रानी, की सोच प्रक्रिया में, एक संदर्भ विशेष से हट कर कुछ आगे सोचना क्या जन चेतना का प्रतीक नहीं? इसी व्यक्तिगत चेतना से सटी है, जन चेतना।

देखें उक्त पंक्तियों में सामन्तवादी मान्यता से परे विवाहित ग्राम बालायें, जीवन में पहली बार मतदान केन्द्रों पर आई हैं, अपने मताधिकारों के लिये। खुशी की बात है वे स्वतः ही इस चेतना का अनुभव भी कर रहीं हैं। क्या जन चेतना को इस चेतना से परे रखा जा सकेगा। निश्चय ही नहीं।

जीवन में साधारण और सूक्ष्म बातें भी अपना माने रखती हैं। यूं तो बात कुछ अटपटी जरूर लगेगी फिर भी चेतना की एक सूक्ष्म परोपकारी अनुभूति अवश्य ही मिलेगी।

'बाबा, निमिया का पेढ जिनि काटेव,
निमिया चिरैया बसेर
बलैया लेऊँ बीरन'।

सांमती युग में क्या कुछ होता रहा इसे कहने और दोहराने की आवश्यकता नहीं, वह तो कोई और ही था जो नक्कारखाने में तूती की आवाज भी बखूबी सुन लेता था। वर्ना किसकी मजाल जो उस संदर्भ विशेष में अपनी बात कर सके। जहां, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता भी छीन ली जाये वहां अपने पन का सही अहसास चेतनता के लिये काफी है। भारतीय लोकगीतों की उदार चेतना मनुष्यों में ही नहीं पशु-पक्षियों में तक व्याप्त है—

'हरिनी-हरिना लेत बसेरा, बधिक लगावत जाल,
कूदि फांद के हरिनी निकरी, हरिना के परिगा फांस।
इही प्रार से हरिन पुकारइ, सुन हरिनी मोरि बात
विधना के धर खरच खोटाने बेंचि खात मोरि मांस

बिरंह बोलि सुनि के हरिनी के होइगा बधिक उदास, सुधि आई अपनी तिरिया के, काटि दियो गल फास ।

उक्त इस कहरवा लोक गीत में, बधिक, हरिन-हरिनी तीनों प्रतीक हैं । सामती युग के बधिक शोषक का प्रतीक और हरिन, हरिनी शोषित के ।

हरिन जाल में फंस जाता है, चेतना के अभाव में हरिनी चाहती तो अपनी जान बचाती हुई वहां से ओझल हो लेती । किन्तु नहीं, इन शोषितों में भी तो चेतना है । अपनी चेतना के कारण ही हरिनी उस बधिक और अपने हरिन से संवाद करती है तभी तो—

'बिरह बोलि सुन के हरिनी के, होइगा बधिक उदास,
सुधि आई अपनी तिरिया कें, काटि दियो गल फांस ।
सोच मन काहे को करी' ।

यदि जन चेतना की समूची शक्ति, इतिहास बदलने को काफी है तो निश्चय ही लोक गीतों की जन चेतना भूगोल तक को बदलती आई है ।

पारम्परिक लोक गीतों की जन चेतना भी पारम्परिक एवम् भारतीय संस्कृति के अनुरूप है ।

द्वीपान्तर (इन्दोनेसिया) में भीम

राजेश्वरी घोष

हिन्दू धर्म अपने देवी-देवताओं, कर्मकाण्ड और जादू-टोने सहित जब इन्दोनेसीय द्वीपसमूह में पहुंचा तो उसने वहां के स्थानीय धर्म को विस्थापित नहीं किया बल्कि उसे अपने में समाहित कर लिया। स्थानीय प्रतिभा ने अपनी रुचि और विश्वासों के अनुसार मेल बैठाने के लिए भारतीय विचारों में परिवर्तन किए और उन्हें अपनी हृदयगत इच्छाओं के अनुरूप इस सीमा तक संशोधित-परिवर्धित किया कि उनसे लगभग एक नई सांस्कृतिक सज्जा ही बन गई।

भारतीय महाकाव्य महाभारत के पाण्डव बन्धुओं में दूसरे भाई, भीम की पूजा सम्मिलीकरण और सात्मीकरण की इसी प्रावस्था में पड़ती है। भारत की हिन्दू परम्परा में पालित-पोषित व्यक्ति के सामने भीम का नाम लेने से उसके सम्मुख एक विशालकाय, दृढ़, साहसी और अजेय, शक्तिशाली पुरुष का चित्र खड़ा होता है। उसके पराक्रम, संकट के सामने उसके निर्भीक साहस, पाण्डव पक्ष के प्रति उसकी अटूट निष्ठा का अनेक प्राचीन कवियों ने बहुत बार वर्णन किया है।

भीम (बीम) या वृकोदर या भ्रतसेन, जैसा इस द्वीपसमूह में भिन्न-भिन्न नामों द्वारा उसे अभिहित किया गया है, सम्बन्धी भारतीय विचार में इन द्वीपवासियों ने एक नया रहस्यवादी तत्व और मिला दिया है। उसके व्यक्तित्व का यह आध्यात्मिक (Meta-Physical) पक्ष शुद्धतः इन्दोनेसीय नवीनता प्रतीत होता है जो कम-से-कम अभी तक हमें किसी भारतीय ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हुआ है। प्रतीत होता है कि इन द्वीपों के रहस्यवादी और स्वास्थियक मतों (सम्प्रदायों) में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस द्वीपसमूह में महाभारत कथाएं अत्यधिक लोकप्रिय थीं, यह हमें ज्ञात ही है। इन द्वीपों के आध्यात्मिक परिवेश और व्यंग मंचों की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने के लिए उनमें बहुधा फेर-बदल कर दिया जाता था। व्यंग नाटकों में भारतीय महाकाव्य के नायकों को एक नये ही रूप में प्रस्तुत किया गया है। चर्म पुतलियों का आकार-प्रकार इन नायकों विषयक हमारी धारणाओं से बहुत भिन्न है और बहुत बार इन चरित्रों के चतुर्दिक नई कथाएं विकसित हो गई हैं। प्रस्तुत संदर्भ में हमारा तात्पर्य बीम बंगकुस (Bima bungkus) पाण्डुपप (Pandupap) नाम दो आधार-कथ्यों (lakous) से है। बीम बंगकुस में भीम जन्म की विशेष परिस्थितियों का वर्णन किया गया है। इससे पता चलता है कि जन्म के समय भीम गर्भ आवरण की आन्तरिक झिल्ली (उल्व) अथवा गर्भत्वक या जरायु (amnion) से लिपटा हुआ था। उसे निकालने के सभी प्रयत्न विफल हो जाने पर गर्भ को गण्डमयित क्षेत्र में छोड दिया गया जहां दैवी आत्माओं (spirits) ने उसकी रक्षा की। यह कथा सूत्रधार (डलङ) सुनाता है। अन्ततः जब भट्टारगुरु ने प्रकृति में उथल-पुथल (विपर्यय) होते देखा और पाण्डु का विलाप सुना तो आवरण तोड़ने के लिए उन्होंने गजः सेन नामक हस्ति भेजा। कथ्य में इस स्थल पर बताया जाता है कि गजःसेन उमापुत्र ही था। गजः सेन आवरण तोड़ने में सफल हुआ और भीम को मुक्ति मिली। कथा में इस मोड़ पर दो महत्वपूर्ण विशेषताएं मिलती हैं। प्रथम, इस लैकन (आधार कथ्य) के उपलब्ध दो संस्करणों से ज्ञात होता है कि गजः सेन अन्ततः झिल्ली या आवरण तोड़ चुकने पर अदृश्य तथा उस गर्भ के साथ एकाकार हो गया और इसके बाद बोलने में समर्थ लंगोटादि वस्त्रधारी युवा के रूप में प्रकट हुआ। क्या इससे यह समझा जाए कि गजः सेन, जो स्पष्टतः गणेश है, का रूपान्तर हुआ और वह भीम से जुड़ गया? इसी कथा से ज्ञात होता है कि भट्टारगुरु ने उमा के नवजात शिशु के लिए वस्त्राभूषण भेजे। वस्त्रों में लंगोट के लिए पोलेङ बङ बिन्तुलु (Poleng bang bin tulu), चन्द्रकिरण नामक भुजबन्ध, नागसार या नागबन्ध नामक कण्ठा (necklace), जरोतङ असेम (Jaroting asem) तथा पुदुक सिनुम पेट (puduk sinumpet) नामक शिरोवस्त्र थे। भीम को रूपायित करने वाली मूर्तियों का विवेचन करते समय हम आगे इन पारिभाषिकों के महत्व पर भी विचार करेंगे। इस आधार-कथ्य से स्पष्ट है कि यदि भीम वस्तुतः शैव देवमंडल में सम्मिलित नहीं है, जो भीम-गणेश एकीभाव स्वीकार करने पर उसे होना चाहिए, तो कम-से-कम भट्टारगुरु के द्वारा वह शिव से अवश्यसम्बद्ध है जिसने भीम को गर्भावरण से मुक्त कराया। इतना और, यह भी ध्यातव्य है कि भीम नागसर धारी है जो कि एक शैव चिह्न है।

पाण्डुपप आधार कथ्य में भीम का कबह ब्लागेदेन (Kabah Blageden) (नरक) में अपने पिता की आत्मा ढूंढ़ने जाने का वर्णन है। नरक को यहां स्वर्ग लोक में स्थित एक ज्वालामुखी के रूप में उपस्थित किया गया है। भ्रतसेन इस ज्वालामुखी में कूद जाता है जो उसके कूदते ही ठण्डा होकर तीर्थामृत के रूप में बदल

जाता है । तब सङ हयाङ अधिपति (Sang Hayang Odipati) पाण्डु और माद्रीय (माद्री) की आत्माओं को स्वर्ग पहुंचाता है । यहां हमें भीम की शक्ति का पता चलता है क्योंकि इसमें वर्णित है कि वहीं अपनी माता और भाइयों को सारे रास्ते कंधे पर, ढोकर ले गया था । यह कथा जावाईकिडुग भीमस्वर्ग के मध्य में आई है ।

तथापि, प्रस्तुत संदर्भ में हमारे लिए भीमसुचि या देवरुचि नामक दो नामों से प्रसिद्ध ग्रन्थ सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । इसका महत्व इस कारण से है कि इसमें भीम के चरित्र का वह पक्ष उजागर किया गया है जो हमें अपने भारतीय स्रोतों से नहीं मिलता । इसमें भीम को धार्मिक नवदीक्षित और गुह्यविद्या विशारद के रूप में उपस्थित किया गया है ।

यह कथा पर्वतीय गुफा से जीवन देने वाला जल (अमृत) लाने के लिए द्रूण (महाभारत का द्रोण) के भीम को भेजने से आरम्भ होती है । द्रोण का उद्देश्य कौरवों के प्रबलतम शत्रु, भीम, से पिण्ड छुड़ाना है । भीम की दो राक्षसों से भिडंत होती है जिन्हें वह पराजित करता है तो वे बदलकर इन्द्र और वायु बन जाते हैं और उसे बताते हैं कि अमृत यहां से नहीं मिलेगा । फिर, द्रोण उसी कार्य के लिए उसे समुद्र के अतल गर्भ में भेजता है ।

पक्का इरादा करके भीम एक बार फिर चल पड़ता है । दृढ़ और एकान्तिक मन से वह समुद्र में प्रवेश करता है परन्तु जल्दी ही सागर की क्रुद्ध लहरों की उथलपुथल से पराभूत होकर उसका शरीर उसमें डूबने लगता है । उसका मन और हृदय फिर भी अपने महान धर्म पर स्थिर और अडिग बने रहते हैं और उसकी वासनाएं समाप्त हो जाती हैं । तब उसकी मुठभेड़ एक नाग से होती है । जो उसे गुंजलक में जकड़ लेता है और भीम उसे अपने पंचनख से मार देता है । पंचनख का विवेचन आगे किया जाएगा । इस कथा के कुछ मलयी संस्करणों में भीम नाग के हाथों मारा जाता है और भट्टारगुरु उसे पुर्नजीवित करते हैं ।

भीम द्वारा नाग वध का स्पष्टीकरण कुछ लेखक उसे प्रतीकात्मक मुद्रा कह कर देते हैं । जीवन देने वाला जल या अमृत तत्व इस तथा कई अन्य कथाओं में भी परमज्ञान तथा नाग मानव की श्वसन प्रक्रिया के लिए है । नवदीक्षित को अपना पंच भौतिक अस्तित्व समाप्त करने के लिए (जिसे यहां नागवध से दर्शाया गया है) सचेत होकर अपनी श्वसन प्रणाली काटनी होगी और तभी उसका मनस कायाविहीन पूर्ण प्रकाश के अज्ञात लोक में प्रवेश कर सकेगा जहां अभ्यासियों (adepts) को सङ्कन परन (Sangkan paran) की जानकारी मिलेगी । संक्षेप में, वह समाधि (Semadhi) अवस्था प्राप्त करेगा ।

इस प्रसंग में गोरिस द्वारा प्रस्तुत मत का विवेचन रोचक होगा । गोरिस का मत है कि भीम को यह विशेष रहस्यावादी भूमिका इन्दोनेसीय द्वीप समूह में वायु या पवन देवता के पुत्र के रूप में मिली है । भीम को वायु पुत्र भी कहा गया है । गोरिस का विश्वास है कि जावाइयों ने पहले वायु देवता की पहिचान प्राण (श्वास-प्रश्वास) देवता से की और फिर उसकी पहिचान जीवात्मा से की है ।

इतना भटकने के बाद हम मुख्य कथा जहां इसे छोड़ा था वहीं से फिर आरम्भ करते हैं । नाग को मारकर भीम एक ऐसे अकल्पनीय सुन्दर द्वीप में पहुंचा जो सोने और माणिमणिक्य से जगमगजगमग कर रहा था । यहां उसे बौना और अपना लघु प्रतिरूप देवरुचि-अपना ही सार स्वरूप मिला । देवरुचि ने भीम को कान के द्वारा अपने में प्रवेश करने को कहा । भीम ने पहले इस विचार की खिल्ली उड़ाई पर फिर आज्ञा पालन की और वह शून्यता के विहाल लोक में पहुंचा जहां देवरुचि ने उसे संगकन परन अर्थात् 'कहां से कहां को' का उपदेश दिया जो सभी रहस्यवादियों का विचारणीय प्रश्न है तथा जावाई लोग अपने रहस्यवाद प्रेम के लिए विख्यात है । देवरुचि ने पहले भीम को कुछ सरल नैतिक नियमों की शिक्षा दी जिनके प्रतीक भीम के नेत्रों के आगे कौंध जाने वाले विभिन्न रंग थे और उसके बाद उसे अतिगुह्य और रहस्यपूर्ण ज्ञान में दीक्षित किया । भीम को इस अतिगुह्य और परम गोपनीय ज्ञान में देवरुचि ने दीक्षित किया जिससे उसे परम तत्व से एकात्मता प्राप्त हुई ।

इस ग्रन्थ के प्रतिपादित सिद्धान्तों का भुवन कौश, वृहस्पति तत्व आदि अन्य दार्शनिक इन्दोनेसीय ग्रंथों के प्रतिपादित सिद्धातों से पर्याप्त सादृश्य है ।

मानव आत्मा का अन्तिम लक्ष्य परम सत्ता के साथ एकात्मता प्राप्त करना है । यह परमसत्ता परम शून्य (जावाइयों का तनन (Tanana) है । इस सत्ता (वास्तविकता) को प्रकृति को देवरुचि ने पुनः वर्ण प्रतीकों द्वारा समझाया है । भीम के नेत्रों के आगे एक बहु वर्ण प्रतीक आता है जिसे देवरुचि इस प्रकार स्पष्ट करता है :—

"यह उस एक की वास्तविक प्रकृति का प्रतीक है । ये सभी वर्ण नौ बिन्दुओं के वर्णों के समान अर्थात् आठ बिन्दु संसार के तथा एक केन्द्र, तुम्हारे अन्दर हैं, और इन सभी की उत्पत्ति चेतनता से हुई है । प्रत्येक सूक्ष्म बात तुम्हारे भीतर और वहां एक है । उनका अस्तित्व तुम्हारे अन्दर है और तो भी तुम्हारा अस्तित्व उनके अन्दर है । दोनों उसी एक स्रोत से उत्पन्न हुए हों और दोनों संसार के सृष्टा उसी ब्रह्म से एकाकार हो ।" यह सूक्ष्म जगत और स्थूल जगत की एकात्मता तथा भौतिक आत्मा की विश्वात्मा के साथ होने के सुपरिचित विचार की व्याख्या है जिसका सार तत्व शून्य है । इसके अतिरिक्त हमें मानव शरीर के स्थान और सृष्टि क्रम में उनके समतुल्य स्थानों का वर्णन भी प्राप्त होता है ।

इस कथा में एक और रोचक बात यह है कि देवरुचि को जिन ऋषि, आदि बुद्ध ऋषि, बुद्ध तत्व ऋषि और जनार्दन और अन्ततः वैरोचन कहा गया है । ग्रन्थ के आरम्भ में ही सूचित किया गया है कि देवरुचि भीम का लघु स्वरूप है । क्या यह भीम वैरोचन एकीभाव है ? बालि से मिले भीमस्तव के सन्दर्भ में इसका अध्ययन करने से यह और भी रोचक हो जाता है । यह इस प्रकार है :—

श्री बज्रसत्व सत्वार्थं सत्वेषु करुणात्मकः
एकात्मनार्यभीमेन जगदमन्त्री नमोऽस्तुते ॥

हुंकारसम्भवस्त्व भीम धीर महाबलः
वज्रकाय महोपाय प्राणिप्रेमन् नमोऽस्तुते ।।

सर्वलघुपवित्रांग मङ्गिष्टि रत्नकुण्डलः
केतकीपुष्पित श्रोत्र आर्यभीम नमोऽस्तुते ।।

स्थूलयशो गुणोत्तुंग स्थूलदीर्घवपुस्त्रि
स्थूल पराक्रम स्वय्यत भीमशक्ते नमोऽस्तुते ।।

शूरान्तरे द्विषाम् संघे रणेशत्रु भयंकर
गदास्त्रेण रिपुभंगा भीमशूर नमोऽस्तुते ।।

साक्षातसहोदराक्रान्त गिरीन्द्रनाथ जाग्रज
कलिद्वापर सम्भूता आर्यभीमो नमोऽस्तुते ।।

प्रशस्तजगताम् त्रातः अत्यन्तभयदानक
विग्रहोष्णंबहुपत्तो भीमाधिकरण नमः ।।

अनार्यदुष्टमुखेषु जगतां अरिहिंसक
सत्कर्मसाधुषुस्नेय जगतपाल नमोऽस्तुते ।।

प्रसिद्ध भगवन भीम मे रक्ष भयतौ गतम्
प्रयोजनं इदं सिद्धयुत भद्रप्रातः हि नमोऽस्तुते ।।

यह अपने भगवान की वन्दना करने वाले भक्त का स्वर है तथा इसमें भीम जगताम् त्राता, जगत की रक्षा करने वाला तथा अपने महाकाव्य चरित्र के उपयुक्त अर्थात् अत्यधिक शूर, महाबलशाली, निर्भीक, पराक्रमी, विशालकाय (स्थूल), शत्रुओं का नाश करने और उन्हें आतंकित करने वाला और गदाधारी है ।

भीम के इस पारम्परिक वर्णन के अतिरिक्त 'प्राणिप्रेमन' (प्राणियों से प्रेम करने वाला) 'सत्कर्मसाधुषु स्नेय' (अच्छे कर्म करने वाले तथा भले लोगों से स्नेह करने वाला) और इस सबसे अधिक, जो अत्यधिक महत्वपूर्ण है, श्रीवज्रसत्व या वज्रसत्व को जिसका लक्ष्य प्राणि मात्र का योग क्षेम है, जो प्राणिमात्र पर दया करता है आर्य भीम के एकात्म (एकात्मनार्य भीम्रिन) कहा गया है जैसे वाक्यांश भी हैं और स्तव के रचयिता कवि ने इस भीमवज्रसत्व एकी भूत देवता का स्तवन किया है ।

वज्रसत्व छठा ध्यानी बुद्ध है जिसे बौद्धों के योगाचार संप्रदाय में पांच ध्यानी बुद्धों के ऊपर स्थान दिया गया है और विश्वास किया जाता है कि बौरोबुडुर के निर्माता इसी सम्प्रदाय के मानने वाले थे । यह भी जानना रोचक होगा कि बौरोबुडुर की बुद्ध प्रतिमा को जिसे सामान्यतः 'बन्दी क्षत्रिय' कहा जाता है, जावाई आज भी संग या काकी भीम की प्रतिमा कहते हैं ।

भीमसुचि और भीमस्तव से प्राप्त भीम के साहित्यिक सन्दर्भों के पाचात् हम पाठकों का ध्यान भीम के बौद्ध चरित्र की ओर आकर्षित करना चाहेंगे । हमें भीम का वैरोचन और आदि बुद्ध ऋषि तथा पुनः भीमस्तव में वज्रसत्व के रूप में वर्णन मिलता है । इतना उसके चरित्र के शुद्ध बौद्ध पक्ष के सम्बन्ध में । प्रतीत होता है कि भीम ने बौद्ध विचारों का गहरा रंग चढ़े हुए निर्वाण सम्प्रदाय में भी महत्वपूर्ण भूमिका निबाही है ।

भीमसुचि को शैलीगत साक्ष्य पर पूर्वचरक ने इन्दोनेसिया में हिन्दु प्रभाव के अन्तिम चरण अर्थात् 16वीं शताब्दी के आसपास रखा है । इस अन्तिम चरण में जावा और सुमात्रा का बौद्ध मत मोयन के एक रोचक लेख का विषय है जिसमें बताया गया है कि तांत्रिक बौद्धों का निर्वाण मत किस प्रकार शैव सिद्धान्तों में मिल गया था जिसमें दोनों धर्मों के भयंकर और उग्र तत्व सम्मिलित हो गए । इस तरह वह भैरव को एकीभूत देवता मानता है जिसमें नृसिंहमूर्ति रूप बुद्ध शिव के भयंकर वीरभद्र रूप से जुड़कर एक हो गया है ।

स्टुट्टरहाइम का विश्वास है कि नामों की समस्वरता के कारण भीम की शिव से भ्रान्ति हो गई । ब्रह्माण्ड पुराण में शिव के आठ नाम दिए गए हैं जिनमें एक भीम भी है । स्टुट्टरहाइम का विश्वास है कि ब्रह्माण्ड पुराण का भीम भ्रम से महाकाव्य का भीम समझ लिया गया । उसका विश्वास है कि ऐसी पहचान को स्वीकार करना प्राचीन बालियों और जावाइयों के अभिचार और रहस्य मिश्रित सिद्धान्तों के अनुकूल ही होगा । उसका यह भी विश्वास है कि भैरव का पर्यायवाची होने से, क्योंकि दोनों का अर्थ भयंकर होता है, शिव का भैरव रूप, दूसरे पाण्डव भाई, भीम के चरित्र के साथ अन्तर्लीन हो गया । भैरव का तत्कालीन स्वास्थ्यिक सिद्धान्तों में महत्वपूर्ण भाग रहने के कारण पाण्डव नायक को भी वैसी ही भूमिका सौंप दी गई ।

उनके तर्क पुरातात्विक साक्ष्य पर आश्रित हैं इसलिए पहले हम यहीं देखेंगे कि मूर्तिकारों ने भी भीम के विषय में क्या किया है । स्टुट्टरहाईम द्वारा विवेचित अनेक उदाहरणों में से कुछ को देखने से उनकी बात अर्थात् भीम-भैरव एकीभाव समझ में आ जाएगी ।

इसका आरम्भ हम सुरकार्ता के पार्तिनी उद्यान की मूर्ति के वर्णन से करेंगे जो मूलतः सुकुह समूह के लोवु ढलानों से प्राप्त हुई थी । स्टुट्टरहाइम ने हूपरमान का वर्णन उद्धृत किया है ।

"पीठिका पर खड़े हुए पुरुष की गोले में उकेरी हुई आकृति, शिर के पिछली ओर घुमावदार चोटी या अलकें (toupet) तथा नाक के नीचे मूछें । दोनों बांह शरीर के पास नीचे लटकी हुई तथा बायां हाथ दाएं को पेट के आगे सम्भाले हुए । दायां हाथ छाती पर सांप की पूंछ पकड़े हुए जो कि शरीर पर लिपटा हुआ तथा फण छाती के सामने । भुजा और कलाइयों में आभूषण । शिर टूटा हुआ और धड़ पर लटकता हुआ । दायीं टांग भी क्षतिग्रस्त । मूर्ति 2 फुट 9 इंच ऊंची है । देसी लोग इसे बीमों कहते हैं । वर्णित की हुई मूर्ति के पिछली ओर कमर से लटकते हुए कपड़े पर उत्कीर्ण अभिलेख है ....क्नीबेल इसी मूर्ति का यह वर्णन किया है !

"चिनी हुई पीठिका पर व्यंग पूर्व मुद्रा में खड़े हुए एक द्विभुज पुरुष को ऋतुक्षरित मूर्ति । मुखाकृति जावाई प्ररूप को दिखाती है । केश विन्यास गैलुंङ (gelung) प्रकार का है, वस्त्रादि सुम्पिङ (sumping) हैं, नागबन्ध, नाग उपवीत, सामने और पृष्ठ भाग में इकट्ठा किया हुआ चौखानी (poleng) सज्जायुक्त छोटा सा कपड़ा टांगों के बीच में लटक रहा है, पृष्ठ फलक (panel) में सुकुह लिपि में उत्कीर्ण अभिलेख है । दोनों हाथों की मुट्ठियां बंधी हुई तथा आगे

बढ़े हुए अंगूठे में नखाकृति लम्बा खंजर (पंचनख)।" अभिलेख को मू-सेस (muuses) ने भीम गण राम रतु (Bhima gana ram ratu) -1365 शक-1443 ई० (तिथि बन्ध) पढ़ा। इससे पूर्व हम **बीमबंगकुस** में देख ही चुके हैं कि भट्टारगुरु ने नवजात शिशु के लिए उमा के द्वारा वस्त्रादि का उपहार भेजा था और वहां भी हमें भीम के वस्त्रों का यही वर्णन मिलता है।

स्टुट्टरहाइम ने इस आकृति की पहचान भीम से इस तथ्य के कारण की है कि इस आकृति का सुकुह समूह की तथा व्यंग पूर्व रूप में अंकित भीम की अन्य ज्ञात मूर्तियों से बहुत सादृश्य है। व्यंगपूर्व मूर्ति रूपों में भीम को कसरती जवान के रूप में अंकित किया गया है तथा उसकी नाक से पता चलता है कि उसमें अन्यों जैसी आंत्तरिक सुकोमलता (Refinement) नहीं है। वह क्रूर प्रकार का है। उसके विशाल अंगों से असीम शक्ति प्रकट है।······ 'भीम को सदैव उसके बड़े अंगुष्ठ नख से पहचाना जाता है जो कि एकाग्रता का प्रतीक है। उसे वह अत्यधिक आवश्यकता की घड़ी में ही प्रयोग करता है उदा० जीवन देने वाले जल (अमृत) की खोज में समुद्र तल में जाते समय जब उस पर भयंकर जल नाग ने आक्रमण किया था। इस अवसर पर भीम की भेंट देवरुचि से हुई और उसे रहस्यवादी दीक्षा मिली। दीक्षा की स्मृति स्वरूप वह चौखानेदार लंगोट पहने हुए है जिसमें श्वेत, लाल, पीले और काले रंग के वर्ग बने हुए हैं।

भीम की कई नमूनों की मूर्तियों का अध्ययन करके स्टुट्टरहाइम इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि सम्प्रदाय ऐसा था जिसमें भीम की महत्वपूर्ण भूमिका थी तथा जावा के पहाड़ी ढलानों वाले भाग में यह सम्प्रदाय विशेष रूप से लोकप्रिय था।

हमने यह भी देखा कि स्टुट्टरहाइम ने भीम पूजा वाले सम्प्रदाय में शैव तत्वों का गहरा प्रभाव खोजा है। अपने मतवाद के प्रमाण में उसने बालि की चतुःकाय मूर्तियों का उल्लेख किया है। उदाहरण स्वरूप हम पेजैंग (Pedjeng) को पुसेरिंग जगत की मूर्ति लेंगे। इसमें आलीढ़ मुद्रा में व्यंग शिरोवस्त्र पहने हुए चार एक समान आकृतियां दिखाई गई हैं। इनका चेहरा भारी, मंछ युक्त और दानवों जैसी आंखों वाला है। कंधों और छाती पर चौड़ा कैलुङ (Kelung) पड़ा हुआ है तथा मध्य भाग चौखानी सज्जा (Poleng) के कैन से लपेटा हुआ जिसके छोर लटके हुए हैं। दायां हाथ झुका हुआ तथा शरीर के मध्य भाग पर परशुशीर्ष वज्रगदा को टिकाए हुए है। बायां हाथ संभवतः शंख उठाए हुए है। छोर के बायें पार्श्व में सुकुह शैली में एक लिंग बना हुआ है।

स्टुट्टरहाइम ने ऐसी ही कई आकृतियों का वर्णन दिया है। वह व्यंग शिरोवस्त्र, आलीढ़ मुद्रा, भारी बने हुए चेहरे, दानवाकृति, आंखों, मूंछ, चौखाने दार कैन (Kain) और वज्र गदा के परशु शीर्ष पर विशेष बल देता है। इन चतुःकायों और भीम की आकृतियों के सादृश्य के आधार पर स्टुट्टरहाइम का यह निष्कर्ष है कि ये हमारी कुछ जावाई आकृतियों के ही, यद्यपि कुछ विशिष्ट रूप में बने हुए, बालि प्रतिरूप हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि स्टुट्टरहाइम इस सादृश्य का कारण यह बताता है कि जावाइ के मन में शिव के भैरव रूप तथा महाभारत की भीम के नामों की समस्वरता (himophony) तथा इस तथ्य के कारण कि भीम और भैरव का अर्थ एक ही होता है कुछ भ्रांति वर्तमान थी। उसका यह भी विश्वास है कि बाली के अष्ट मुख लिंग में शिव के ब्रह्माण्ड-पुराण वर्णित भैरव सहित आठों रूपों रुद्र, भव, सर्व, ईश (पशुपति), भीम, उग्र, और महादेव को रूपायित किया गया है। इस प्रकार वह सिंहश्री के भैरव, सुंगेई लंगसत के भैरव और जावा की भीम आकृतियों में अत्याधिक सादृश्य पाता है। इस सारे साक्ष्य के आधार पर स्टुट्टरहाइम का निष्कर्ष है कि भीम की मूर्तियों तथा शिव के भैरव रूप और भीम के सहसम्बन्ध पर आधारित भैरव की मूर्तियों में जरूर कुछ संबंध रहा होगा तथा यह भी कि इन मूर्तियों की पूजा इसी स्वाभाविक जीवन में अथवा मृत्युपरान्त मुक्ति पाने के लिए की जाती होगी।

नामों की समस्वरता के अतिरिक्त स्टुट्टरहाइम का विश्वास है कि भीम के जीवन में भी पर्याप्त रहस्यवादी तत्व वर्तमान है (जैसे उसका अपने आवरण में बन्दी होना) जिसके कारण उसे निर्वाण की जादू-टोने और अध्यात्म मिश्रित मतवाद में महत्वपूर्ण भूमिका मिल सकती है। सुकुह में स्टुट्टरहाइम ने एक फलक को बीम बंगकुस को पाषाण में उकेरा हुआ बताया है।

निश्चयपूर्वक हम इतना ही जानते हैं कि द्वीपान्तर (इन्दो-नेसिया) के जादूटोने तथा रहस्यवाद मिश्रित मतवादों में भीम को महत्वपूर्ण भूमिका प्राप्त थी। तथा उसमें बौद्ध और शैव दोनों विशेषताएं पाई जाती हैं। महाकाव्य का सरल नायक किस मानसिक प्रक्रिया से संसार के त्राता और रक्षक के नए रूप में परिवर्तित हो गया इसे समझाने के अनेक प्रयत्न किए गए हैं। हमने देखा ही है कि गोरिस ने उसे वायु के साथ सम्बन्ध रहने से समझाया है, स्टुट्टरहाइम ने शिव को भैरव कहे जाने के कारण से तथा वाश्श का विश्वास है कि भीम की तुलना और सम्बन्ध इन्द्र से किया गया है जिसकी कई विशेषताएं–शक्ति, शौर्य और प्रचण्डता—उसमें भी थी और जो उसकी भांति वायु से निकट रूप से सम्बद्ध था तथा उसका नाम सुज्ञात त्रित अग्नि-वायु-इन्द्र/सूर्य-में उस देवता के स्थान पर रख दिया जाता था। उसका विश्वास है कि वज्रधारी इन्द्र और पंचनखधारी भीम को जिसका पंचनख इन्द्र के पंचनखीय वज्र से बहुत मिलता जुलता है, जावाइयों ने वही और एक देवता समझ लिया और इन्द्र वज्रधर भीम को नाम साम्य के कारण छठे ध्यानी बुद्ध वज्रसत्व से भी मिला दिया।

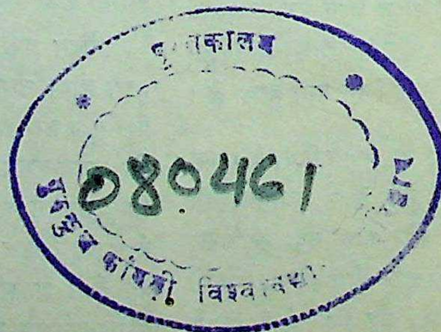
किस तर्क प्रणाली से भीम को यह आदरणीय स्थान प्राप्त हुआ होगा उसकी हम अधिक से अधिक अटकल ही लगा सकते हैं। कुछ और साक्ष्य प्राप्त होने तक हमें यही स्वीकार करना होगा कि समय-समय पर कुछ ऐसी विचार-घटनाएं उदय होती हैं जो हिन्दू उदगम की होने पर भी वहां की मुख्य भूमि पर हमें अज्ञात हैं परन्तु वे इस द्वीप के वासियों के मन पर पर्याप्त प्रभाव डाले हुए हैं। अगस्त्य मतवाद व भीम मतवाद तथा पितामहों और हरिश्चन्दन का मतवाद हिन्दू-जावाई धर्म की विचित्र विशिष्टताएं ही प्रतीत होती हैं।

अनु० बाबूराम वर्मा

'बारिश न आने तक'

कन्धे जब छिलने लगे
आंखों के बोल अजनबी,
छतें पराई होने लगे,
जब डूबने लगे सूरज,
बिखरने लगे ललाई
भरी हथेलियों में उग आये नागफनी
तब··· ·········
आत्मा, मोक्ष, जीवन, मृत्यु,
पूरा दर्शन उभर आता है
लेकिन·············
नागफनी के बाद फूल
डूबते सूरज का रस
जब हथेलियों में जुगनू उगाता है
तब देह––रस का दरिया
उमड़ता है, उबल···उबल
धधकता है,
और फिर···
सारे रंग एक साथ उगते हैं,
खिलता है सतरंगी इन्द्रधनुष
बारिश न आने तक

गुणमाला नवलखा





'त्रीषुक': तीन युवा --कवियों की कविताएं

पुस्तक का नाम "त्रीषुक"
लेखक : विजय : अमित: सुशील
प्रकाशक, : गरिमा प्रकाशन: 294/24 विनगर, दिल्ली-35
मूल्य दस रुपये

गर्म खून की लिखित अगर असल कविता की पहचान होती है तो 'त्रीषुक' संग्रह की कविताएं इस पहचान की पहल करती है। 'त्रीषुक के तीनों कवि उम्र के दूसरे दशक के आर-पार के कवि हैं। कहना फिजूल है कि आजकल के कवि जो देख रहे हैं उससे ज्यादा महसूस कर रहे हैं, उसी को ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त भी कर रहे हैं। महसूसिए जरा इन पंक्तियों को कि— "हवा गर्म है। बहुत जल्द/सुर्ख रूहों की आह/खाक कर देगी/सारे सब्जबागों को।" (विजय / "यंत्रणा के बाद") और यह कि— "पेटों की भरी सभा में/रोटियों ने बगावत की/ घोषणा कर दी है।" (अमित/रोटियों की बगावत") और यह भी कि—"बन्धु। गांठ बांध लो/खुद को बदले बिना/बदलाव का/कभी/कोई शुभ समय नहीं आएगा।"—('सुशील/'बन्धु') और इन तीनों 'कुटेशनों' का फलितार्थ ऐसा जैसा युग है, व्यवस्था है, जीवन है। और आजकल जिसे ऐसा महसूस नहीं होता उसके लिए कहना होगा कि उसे आज की कविता पढ़ने का कोई हक नहीं है। इन कविताओं की आग्नेय अभिव्यक्ति विषम व्यवस्था व सामाजिक विद्रूपता को ध्वस्त कर सम्पूर्ण संरचनात्मक क्रांति की चेतना को जगाती है, जिसकी अब जरूरत है। इन तीन युवा-कवियों की कविता में कविता की यह चुनौती आज की कविता की सबसे बड़ी चुनौती लगती है। और वो लगती है, इसलिए 'त्रीषुक' कविता की किताब सबसे अलग लगती है।

कवि 'विजय' विकट बिम्बों में सामाजिक समता और विषमता की चुनौती का प्रखर स्वर ध्वनित करता है। कवि की नौ कविताओं में क्रान्ति के संदर्भ में नए मूल्यों की तलाश बेनकाब न करने के संयम के साथ, सृजनात्मक शक्ति की सीमा छूती है।

कवि 'अमित' वाक् को सामाजिक विषमता के विरुद्ध विस्फोटक बनाता है। उसकी सोलह कविताओं में युग के खोखलेपन में भी जिस अर्थ की तलाश अभिव्यक्त होती है, उसकी साझेदारी से आम आदमी इन्कार नहीं कर सकता। खतरनाक मुद्रा में कविताएं आदमी के आगे खड़ी हो जाती हैं।

कवि 'सुशील' सपाट अभिव्यक्ति द्वारा संवेदन की बारूदी सतहों पर क्रान्ति की चिंगारियाँ बिखेरता है: जनवादी स्तर पर कवि सुशील का स्वर इतना सहज और साफ है कि उस पर कोई प्रश्नवाचक चिह्न नहीं लग सकता। मगर अभिव्यक्ति की यह एक सीमा है।

यों इन तीनों युवा कवियों का 'त्रीषुक' हिन्दी कविता के इतिहास में एक नया लक्ष्य-बोध बनकर प्रस्तुत हुआ है।

डा०जीवन प्रकाश जोशी,

आधुनिकता बोध की विशिष्ट कहानियां

सम्पादक : श्रवण कुमार

प्रकाशक : आलेख प्रकाशन, वी-8 नवीन शाहदरा, दिल्ली-32
पृष्ठ संख्या : 164
मूल्य 22-00 रुपये

आधुनिकता क्या है, यह कहना ही कठिन है, आधुनिकता-बोध की व्याख्या करना तो और भी कठिन है। आधुनिकता-बोध की विशिष्ट कहानियों के पहले संकलन की भूमिका में श्रवण कुमार ने आधुनिकता-बोध के कांसेप्ट को अपने विचारों के अनुसार स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि मूल्यों के टकराव में नए मूल्यों को खोजना नकारना या स्वीकारना आधुनिकता-बोध का प्रमुख लक्षण है। लेकिन श्रवण कुमार के अपने पूर्वाग्रह उनकी व्याख्या में भी आड़े आते हैं। आधुनिकता-बोध का क्षेत्र मात्र राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं तक सीमित रखते हुए वे यह मानते हैं कि आज के माहौल में सृजनशीलता अनिवार्य रूप से राजनैतिक चिंतन से जुड़ गई है, तथापि "लोक-हित" तथा सोद्देश्यता को भी वे अभिव्यक्ति से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा मानते हैं। अपने क्षेत्र को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं कि वे पूंजीवाद के खिलाफ हैं और अधिनायकवाद की सीमाओं से परिचित होने के कारण वे जनतंत्र में ही आस्था रखते हैं। इस प्रकार पूंजीवाद और सामाजिक-आर्थिक शोषण से मुक्त समाज में नए मूल्यों की खोज को ही वे आधुनिकता-बोध की संज्ञा देते हैं।

आधुनिकता-बोध की श्रवणकुमार की परिभाषा पूरी तरह ठीक नहीं लगती है। वास्तव में आज के परिवेश में समकालीन समस्याओं से जूझते हुए उनके प्रति साहित्यकार की अपनी प्रतिक्रिया के माध्यम से ही आधुनिकता-बोध को समझा जा सकता है। यह प्रतिक्रिया परिस्थितियों के प्रति साहित्यकार की मनोवृत्ति को अभिव्यक्ति करती है और आज की परिस्थितियों में साहित्यिक परिवेष के कुछ प्रमुख लक्षणों जैसे मशीनी सभ्यता और उससे जुड़ी मानसिक संत्रास और अतिसंवेदनशीलता की स्थितियां, प्रेम के बदलते हुए मान और रोटी-रोजी की समस्याएं भी स्वभाविक रूप से इसमें आ जाती हैं। लेकिन यह तो हुई कथ्य या विषय-वस्तु की बात। इसके साथ ही इन समस्याओं को प्रकट करने का साहित्यकार का

पना ढंग और उस की शैली भी कथ्य से कम महत्वपूर्ण नहीं है। ये समस्याएं तो सभी युगों में कमोबेश इसी प्रकार रहती हैं, आधुनिक युग में इन्हें प्रकट करने की साहित्यकार की दृष्टि और इसलिए उसकी शैली भी काफी-कुछ बदल गई है। क्या कविता और क्या कहानी, सभी में शैली को एक नया आयाम मिला है। ये रचनायें न सिर्फ उनकी खीझों और पूर्वाग्रहों, उसके फ्रस्टेशनों और रिप्रेशनों को प्रकट करती हैं, बल्कि एक नए शैलीगत विद्रोह की ओर भी इंगित करती हैं जो सच्चे मानों में आधुनिकता-बोध का परिचायक है।

श्रवणकुमार ने इस संकलन को क्रम-संख्या एक दी है। इससे आशा होती है कि और संकलन भी सामने आएंगे जिनमें अन्य लेखकों को भी प्रतिनिधित्व मिलेगा। लेकिन जिन कहानीकारों को (आलमशाह खान, इब्राहीम शरीफ, माहेश्वर, कमलेश्वर, मधु-मालती, प्रदीप पंत, रमेश गुप्त, सच्चिदानन्द धूमकेतु, सुरेश उनियाल, जितेन्द्र भाटिया, कामतानाथ आदि) इस संग्रह में रखा गया है, वे सभी आधुनिकता-बोध की परिभाषा में फिट नहीं बैठते, न इसकी सभी कहानियां विशिष्ट कही जा सकती हैं। आधुनिकता-बोध की कहानियों पर संकलन प्रकाशित करते समय निर्मल वर्मा, मोहन राकेश तथा ज्ञान रंजन जैसे कहानीकारों को बिल्कुल ही छोड़ दिया जाना उचित नहीं है। लगता है कि इस संकलन के लिए लेखकों और रचनाओं का चयन करते समय श्रवणकुमार अपने मूलभूत पूर्वाग्रहों से बच नहीं सके और समांतर आंदोलन के अधिकांश लेखकों को ही वे इस संग्रह में ले आए हैं।

इस संकलन की 18 कहानियों में से लगभग 12 कहानियां आर्थिक विषमता, गरीबी और शोषण के परम्परागत कहानियां हैं (आवाज की अर्थी, 'स्वर्ग', 'अंतिम संस्कार', 'आम आदमी का शव', 'स्वागत', 'इतने अच्छे दिन' आदि)। यद्यपि 'स्वागत' (शक्तिपाल केवल) जैसी कुछ कहानियों में राजनीतिक शोषण को और 'इतने अच्छे दिन' (कमलेश्वर) जैसी कहानियों में सामाजिक व्यवस्था पर उद्योगीकरण के दुष्प्रभावों का मर्मस्पर्शी चित्रण मिलता है। 'आम आदमी का शव' (प्रदीप पंत) राजनीतिक दांव पेंचों की कहानी है। 'छिपे हुए हाथ' (सच्चिदानंद धूमकेतू) और अंतहीन-दो' (सुदीप) में काफी सफलता से सामाजिक अन्याय का प्रतिबिम्ब दिया गया है। 'खण्डहर' (श्रवणकुमार) में गरीबी और गरीबी से उत्पन्न अनैतिकता की समस्याओं को उठाया गया है। 'अनावृत्ति' (मधुमालती) काले रंग के कारण होने वाले मानसिक संत्रास की वेदनापूर्ण कहानी है। अपने आप में तो लगभग सभी कहानियां अच्छी और महत्वपूर्ण कही जा सकती हैं, लेकिन इन सब को आधुनिकता-बोध की विशिष्ट कहानियां कहना उचित नहीं लगता। वस्तुतः प्रकट रूप में आधुनिकता बोध केवल दो कहानियां--'लड़के' (कामतानाथ) और 'जंगल' (जितेन्द्र भाटिया) में ही परिलक्षित होता है। 'लड़के' में आज के वातावरण में बेरोजगार युवकों की लक्ष्यहीनता और फिल्मी मनोवृत्ति का चित्रण किया गया है। 'जंगल' में कंप्युटरी सभ्यता की भूल-भुलैयां में फंसे एक आम आदमी की मनःस्थिति का चित्रण है। ये दो कहानियां आधुनिक युग के बोध से युक्त कहानियां तो कही जा सकती हैं, लेकिन विशिष्ट नहीं कही जा सकती।

इस संकलन को पूरी तरह से आधुनिकता-बोध की विशिष्ट कहानियों का प्रतिनिधि संकलन नहीं कहा जा सकता। हम यही आशा रख सकते हैं कि इसके दूसरे भाग को श्रवणकुमार पूरी तरह से प्रतिनिधि बनाने का प्रयत्न करेंगे और आधुनिकता-बोध के सभी पक्षों को उजागर करने वाली कहानियों को, कम से कम विशिष्ट कहानियों को, आवश्यक स्थान दे सकेंगे।

164 पृष्ठों के डिमाई साइज के इस संकलन का मूल्य 22.00 रुपये है, जो कुछ अधिक लगता है, लेकिन पुस्तक के गेटअप, प्रकाशन के स्तर आदि को देखते हुए इसे जायज कहा जा सकता है.।

विष्णु स्वरूप

कनऊजी लोक साहित्य में समाज का प्रतिबिम्ब

लेखक--डा० सुरेशचन्द्र त्रिपाठी

प्रकाशक रुपायन प्रकाशन, आई ए/1 सी, अशोक बिहार, दिल्ली-52

पृष्ठ संख्या–500

मूल्य--65–00 रुपये

किसी भी प्रदेश या अंचल की जनसंस्कृति लोक साहित्य के माध्यम से जितनी उज्जवलता से उजागर होती है, उतनी किसी अन्य माध्यम से नहीं। जन-मन की सहज भावनाओं, आशाओं आकांक्षाओं की जैसी निष्कपट अभिव्यक्ति लोक साहित्य में दीख पड़ती है वह अन्यंत्र दुर्लभ है। अतः किसी भी जन समाज का सही--संतलित अध्ययन के लिए लोक साहित्य का अध्ययन अपरिहार्य है। डा० सुरेशचन्द्र त्रिपाठी ने अपने शोध प्रबंध में कनउजी लोक साहित्य का अध्ययन इसी दृष्टि से किया है। डा० त्रिपाठी का मत है--"लोक-साहित्य में मूल मानव बोलता है। उसके अध्ययन से वे तत्व उभर कर आते हैं जो विस्मृति के अनेक पत्तों में दब गए हैं, वे भावनाएप्रकट होती हैं, जो विदेशी सभ्यता के जलते सिकता-करारों के नीचे खो गई हैं, वह परम्परा विकास-क्रम और इतिहास सामने आता है, जिसे सभ्य समाज भूलता जा रहा है या भूल गया है और वह आत्म-विश्वास उभरता है जो अपने पुरखों की सर्जनाओं के पुनमूल्यांकन की प्रेरणा देता है।"

जिसे जन सामान्य कन्नोज प्रदेश के नाम से जानता है, उसके लोकसाहित्य का सम्यक सर्वेक्षण कर डा० त्रिपाठी ने जो अध्ययन प्रस्तुत किया है, वह साहित्य और संस्कृति के अध्येताओं के लिए समान रूप से उपयोगी है। लेखक ने सम्पूर्ण शौध प्रबंध को ग्यारह अध्यायों में विभक्त किया है। प्रथम अध्याय में लोक और लोक-साहित्य लोकसाहित्य, उसकी विशेषताएं आदि के स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय में हिन्दी बोलियों में कनउजी का स्थान, तृतीय में कनउजी भाषी क्षेत्र की विशेषताओं के संबंध में अध्ययन प्रस्तुत किया है। चतुर्थ और पंचम अध्यायों में लोक साहित्य के विविध रूपों का सविस्तार एवं सादाहरण विवेचन किया गया है। षष्ठ से दशम अध्यायों तक कनउजी लोक साहित्य में क्रमशः

सांस्कृतिक, पारिवारिक' सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक जीवन के विभिन्न परिदृश्य प्रस्तुत किये हैं । अंतिम अध्याय में कनउजी लोकसाहित्य में प्रतिबिम्बित लोकजीवन पर विवेचन एवं निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं । इस ग्रन्थ के परिशिष्ट के अंतर्गत डा० त्रिपाठी ने बड़ी निष्ठा और मेहनत से संकलित लोक साहित्य की सामग्री को वर्गीकृत करके प्रकाशित किया है । लगभग सत्तर पृष्ठों में बंटा हुआ यह परिशिष्ट कनउजी लोक साहित्य की प्रायः अस्वानसगयां प्रस्तुत करता है ।

समग्र रूप से डा० सुरेश चन्द्र त्रिपाठी का यह शोध ग्रन्थ उनकी सूझ-बूझ श्रम निष्ठा का तो प्रमाण प्रस्तुत करता है, साथ ही हिन्दी शोध के प्रति एक आस्था भी जगाता है ।

प्रो० विश्वम्भर 'अरुण'

लेखक परिचय

1. कुमारी मीना अग्रवाल
   डी० 259 डिफेंस कालोनी,
   नई दिल्ली ।

2. शिव कुमार शास्त्री,
   संसद् सदस्य,
   1, केनिंग लेन,
   नई दिल्ली ।

3. कुमारी रजनी,
   से-III, 365 रामाकृष्णापुरम,
   नई दिल्ली-110021 ।

4. रामशरण मिश्र शास्त्री,
   बी-135 मोती बाग,
   नई दिल्ली-110023 ।

5. डा० रमाकान्त शर्मा,
   हिन्दी व्याख्याता,
   राजकीय कालेज,
   बाड़मेर, राजस्थान ।

6. भूरचन्द जैन,
   जुनी चौकी का वास,
   बाड़मेर, राजस्थान ।

7. ताजवर सिंह रावत,
   बी० 1/1, हौज खास,
   नई दिल्ली-110016

8. सुधीर शाह
   परमेश्वरी भवन, अलमोड़ा,
   (उत्तर प्रदेश) ।

9. नंदल हितेषी,
   45, छोटा बधाड़ा,
   प्रयाग–इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश) ।

10. राजेश्वरी घोष,
    एशियाटिक सोसायटी,
    1, पार्क स्ट्रीट,
    कलकत्ता'16 ।

    श्री बाबूराम वर्मा,
    बी-55, न्यू फौरेस्ट,
    देहरादून (उत्तर प्रदेश)
    248006 ।

11. गुणमाला नवलखा,
    इन्द्रप्रस्थ कालेज,
    दिल्ली विश्वविद्यालय,
    दिल्ली ।

12. डा० जीवन प्रकाश जोशी,
    सेक्टर-12, फ्लेट नं० 989,
    रामाकृष्णापुरम,
    नई दिल्ली-110022 ।

13. विष्णु स्वरूप,
    डी-II-337,
    पंडारा रोड,
    नई दिल्ली-110003 ।

14. प्रो० विश्वम्भर अरुण,
    हिंदी प्रवक्ता, आगरा कालेज,
    जानकी निवास, मानपाडा
    आगरा-28003

विशेष सूचना

1. यदि आप पत्रिका संस्कृति के ग्राहक हैं तो कृपया नये वर्ष (1979) के लिये वार्षिक चन्दा जल्द से जल्द भेजने की कृपा करें ।

2. यदि नहीं तो जल्द से जल्द इसके ग्राहक बनने की कृपा करें । इस पत्रिका का वार्षिक चन्दा केवल चार रुपये है ।

3. ग्राहकों से निवेदन है कि मंत्रालय से पत्र व्यवहार करते समय संदर्भ संख्या अवश्य दर्शायें । संदर्भ संख्या दर्शाने से पत्र व्यवहार में दोनों को सुविधा होगी ।

4. पत्रिका संस्कृति में प्रकाशित प्रत्येक रचना का पारिश्रमिक दिया जाता है । सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर उच्चकोटि की मौलिक रचनाएं सादर आमन्त्रित हैं ।

सदस्यता फार्म

निदेशक (हिन्दी प्रकाशन)
शिक्षा, समाज कल्याण तथा संस्कृति मंत्रालय
(शिक्षा विभाग),
सी०-102, शास्त्री भवन,
नई दिल्ली ।

महोदय,

मैं श्री/श्रीमती/कुमारी .... वर्ष........ के लिये संस्कृति का वार्षिक ग्राहक बनना चाहता/चाहती हूं । वार्षिक चन्दा (चार रुपए) मनीआर्डर द्वारा भेजा जा रहा है / नकद दिया जा रहा है । मेरा पता निम्नलिखित है ।

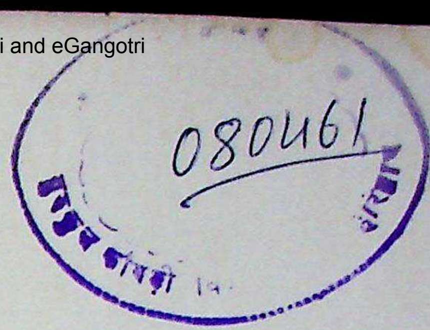
नाम तथा पता

एक प्रति का—एक रुपया ....

वार्षिक—चार रुपए ....

दिनांक ....

टिप्पणी :—यदि आप 'संस्कृति' पत्रिका के ग्राहक हैं और आपने अपना चन्दा नहीं भेजा है तो कृपया जल्द से जल्द चन्दा भेजने की कृपा करें ।



मन्त्रालय की अन्य हिन्दी पत्रिका

शिक्षा विवेचन

● यह पत्रिका प्रत्येक वर्ष जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्तूबर में त्रैमासिक रूप में छापी जाती है।

● इस पत्रिका में, इस मन्त्रालय की अंग्रेजी की पत्रिका 'दि एजूकेशन क्वार्टरली' में छपे लेखों का हिन्दी अनुवाद छापा जाता है। इसमें शिक्षा सम्बन्धी विचारों, समस्याओं और सामाजिक विषयों की व्यवस्था होती है। पत्रिका में शैक्षिक रुचि के महत्वपूर्ण प्रश्नों और भारत तथा विदेशों में हो रही शैक्षिक और युवा कल्याण की गतिविधियों और प्रयोगों की जानकारी देने का प्रयास किया जाता है। लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के अपने होते हैं और यह आवश्यक नहीं कि वे सरकार के विचारों और दृष्टिकोण के अनुरूप हों।

● इस पत्रिका की बिक्री के संबंध में पूछ-ताछ और वार्षिक चन्दा व मनीआर्डर आदि प्रकाशन प्रबंधक, भारत सरकार, सिविल लाइन्स, दिल्ली-6 को भेजा जाना चाहिए। इसके लिए निदेशक (हिन्दी प्रकाशन), शिक्षा समाज कल्याण तथा संस्कृति मंत्रालय, 102-सी० शास्त्री भवन, नई दिल्ली को भी लिखा जा सकता है।

● विज्ञापनों आदि के बारे में जानकारी, विज्ञापन एजेन्ट, भारत सरकार प्रकाशन, 5ए, 10 अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली से मिल सकती है।

	भारत में	विदेशों में
मूल्य एक प्रति	4.50 रुपये	0.53 पौंड या 1 डालर 62 सेंट्स
वार्षिक चन्दा	18.00 रुपये	2.10 पौंड या 9 डालर 4 सेंट्स

रजिस्टर्ड संख्या 6724/59

प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, फरीदाबाद द्वारा मुद्रित, 1979